जगदीश प्रसाद कौशिक
भारतीय
आर्य भाषाओं
का
इतिहास

अपोलो प्रकाशन
जयपुर-३

जगदीश प्रसाद कौशिक

भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास

प्रकाशक :
अपोलो प्रकाशन, जयपुर

●

मूल्य : बीस रुपये मात्र

●

मुद्रक :
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

स्वर्गीया धर्मपत्नी

श्रीमती शान्ता कौशिक

को

सस्नेह समर्पित

प्रस्तावना

भाषा मानवीय जीवन का वह विधायक तत्त्व है जो सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक उत्थान का कारण होता है। मानव भाषा का विकास करता है और भाषा मानव-जीवन को उन्नति के पथ पर अग्रसर करती है। इस प्रकार दोनों का विकास अन्योन्याश्रित है। अतः भाषाओं का विकासात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन एक प्रकार से जातीय जीवन-विकास का ही अध्ययन कहा जा सकता है। यदि भाषाएँ नहीं होतीं तो विचारों का पारस्परिक आदान-प्रदान सर्वथा अवरुद्ध हो जाता और सभ्यता का जो रूप आज हमारे समक्ष वर्तमान है वह भी नही होता। भाषा की यह महत्ता ही विद्वानों को भाषा-अध्ययन के प्रति प्रोत्साहित करती हैं।

भाषाओं के नियमन का कार्य तो सुदूर प्राचीन काल से ही प्रारम्भ हो गया था और प्रायः विश्व की समस्त समृद्ध भाषाओं का उनका अपना व्याकरण है, परन्तु भाषाओं के विकासात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन का इतिहास अधिक प्राचीन नही है। लगभग सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी में योरप में इस प्रकार के अध्ययन का एक प्रवाह प्रस्फुटित हुआ था और उससे प्रायः समस्त विश्व आप्लावित हो उठा था। विश्व के चिन्तनशील मनीषियों ने अत्यन्त गम्भीर चिन्तन एवं मनन के पश्चात् वंशानुक्रम के आधार पर विश्व की समस्त भाषाओ का वर्गीकरण किया। वंशानुगत सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अनेक तत्त्वों को सहायक रूप में ग्रहण किया गया है; यथा—(१) शब्द साम्य, जिनके अन्तर्गत उन शब्दों को लिया गया जो दैनिक जीवन में काम आते हों, जैसे—सम्बन्धियो अथवा वस्तुओं के नाम, सर्वनाम पद, गिनती वाले शब्द और कम से कम परिवर्तित होने वाले क्रिया पद आदि। (२) ध्वनि साम्य, (३) व्याकरणगत विकास और भौगोलिक सन्निकटता। उक्त साम्यों के आधार पर अधोलिखित भाषा परिवारों की स्थापना हुई; यथा—(१) अमेरिकन परिवार, (२) मलय-इण्डोनेशियन परिवार, (३) मलेनेशियन परिवार, (४) पालिनेशियन परिवार, (५) पापुआयन परिवार, (६) आस्ट्रेलियन परिवार, (७) बुशमैन परिवार (८) बांटू परिवार, (९) सूडानी परिवार, (१०) सामी-हामी परिवार, (११) उराल-अल्ताई परिवार, (१२) चीनी परिवार, (१३) काकेशियन परिवार, (१४) द्रविड़ भाषा परिवार और (१५) आर्य भाषा परिवार।

यद्यपि उपर्युक्त वर्गीकरण को विद्वान् लोग अभी भी पूर्ण वर्गीकरण नहीं

मानते क्योंकि विश्व की अनेक ऐसी बोलियाँ आज भी अवशिष्ट हैं जिनका तुलनात्मक तो क्या केवल भाषा-शास्त्रीय अध्ययन भी सम्पन्न नहीं हो पाया है, तो भी यह वर्गीकरण विश्व की प्रायः समस्त समृद्ध भाषाओं को अपने में संजोये हुए है।

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही अनेक संस्कृतियों का संगम-स्थल रहा है। अतः यहाँ पर अनेक भाषा-परिवारों की भाषाओं का अस्तित्व उपलब्ध होता है। आज तक विद्वानों ने भारत में अनेक विभिन्नमार्गी भाषाओं को लक्षित किया है जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ और (ख) आर्य-परिवार की भाषाएँ।

(क) आर्येतर परिवार की भाषाएँ—भारत में अनेक ऐसी बोलियाँ है जिनका सम्बन्ध आर्य परिवार की भाषाओं से न होकर स्वतन्त्र अस्तित्व है, ये बोलियाँ इस प्रकार से हैं—(१) मुण्डा परिवार और (२) द्रविड़ परिवार।

(१) मुण्डा परिवार—भारतवर्ष के विभिन्न स्थानों में फैली हुई आदिम जातियाँ 'मुण्डा भाषा' की बोलियाँ बोलती हैं। ये जातियाँ छोटा नागपुर, मध्य भारत, मध्य प्रदेश तथा उड़ीसा के कुछ ज़िलों में, मद्रास के कुछ भागों में, पश्चिमी बंगाल और बिहार के पहाड़ी एवं जंगली प्रदेशों में निवास करती हैं। श्री मैक्समूलर पहले विद्वान् थे, जिन्होंने इन बोलियों के समूह को 'मुण्डा' नाम दिया, क्योंकि इसकी एक बोली 'मुण्डेरी' है जिसका अर्थ मुखिया होता है। अतः इसी आधार पर इसे 'मुण्डा' नाम दिया गया है।

'मुण्डा परिवार' को बोलियों को आस्ट्रिक परिवार की शाखा माना जाता है। इसकी लगभग उन्नीस बोलियाँ भारतवर्ष में प्रचलित हैं और मुण्डा की सात बोलियाँ प्रयोग में लाई जाती है जिनमें से सन्थाली और मुण्डारी का कुछ अध्ययन किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त हो, कुर्कू, सवर, कनावरी एवं खेरवारी बोलियों का ज्ञान भी प्राप्त किया जा चुका है, लेकिन उसके सूक्ष्म अध्ययन की अभी भी आवश्यकता है।

विशेषताएँ—मुण्डा भाषाओं में विद्वानों ने अधोलिखित विशेषताओं को चिह्नित किया है—

(१) आर्य परिवार के सभी स्वर इस भाषा में मिलते हैं।

(२) आर्य परिवार के व्यञ्जनों के साथ-साथ 'ड़' तथा अर्ध व्यञ्जन 'क, च, त, प' भी मिलते है। इनका उच्चारण स्पर्श 'क, च, त, प' के उच्चारण से भिन्न होता है।

(३) सन्थाली में संयुक्त व्यञ्जन आदि में नहीं रखे जाते।

(४) शब्दों को संज्ञा, सर्वनाम जैसे विभागों में विभाजित नही किया जाता है।

(५) पद विभाग का ज्ञान प्रकरण से होता है। आवश्यकता के अनुसार एक ही शब्द संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि का काम दे देता है।

(६) इन भाषाओं में तीन वचन होते हैं।

(७) विभक्ति-प्रत्ययों के स्थान पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तरह परसर्गों का प्रयोग किया जाता है।

(८) पुरुष के अनुसार क्रिया में रूप विभिन्नता नहीं होती।

(९) अव्यय स्वतन्त्र शब्द के रूप में भी प्रयुक्त किये जाते हैं और अव्यय की तरह भी।

द्रविड़ परिवार :

यह भाषा-परिवार भारत का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाषा परिवार है। आर्य भाषाओं के बाद साहित्यिक समृद्धि और बोलने वालों की संख्या की दृष्टि से इसी परिवार का स्थान है। 'द्रविड़' शब्द का विकास संस्कृत 'द्रमिल' शब्द से हुआ है। भरत मुनि ने दक्षिण के एक प्रदेश के लिए 'द्रमिल' शब्द का प्रयोग किया है; यथा—'द्रमिलान्ध्रजा'। इसका विकास दो दिशाओं में हुआ है। वराहमिहिर ने इसके लिए 'द्रमिड़' शब्द का प्रयोग किया है और पालि में इसका रूप 'दमिल' मिलता है। 'द्रमिड़' विकसित होकर 'द्रविड़' बना और 'दमिल' इससे विकसित होकर बना 'तमिल', जो आजकल द्रविड़ परिवार की एक भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त होता है। मद्रास प्रदेश को अब 'तमिलनाडु' प्रदेश ही कहा जाता है।

उक्त परिवार की अनेक बोलियों का प्रयोग दक्षिण भारत में किया जाता है, किन्तु साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की चार प्रमुख भाषाएँ हैं :—
(१) तमिल, (२) तेलगु, (३) मलयालम और (४) कन्नड़।

(१) तमिल :

यह भाषा तमिलनाडु राज्य के दक्षिण-पूर्वी भाग में और लंका के उत्तरी भाग में बोली जाती है। इसके उत्तर में तेलगु, पश्चिम में कन्नड़ और मलयालम भाषी क्षेत्र आते हैं। पूर्व में बंगाल की खाड़ी और दक्षिण में लंका द्वीप आते हैं। इसमें आठवीं शताब्दी तक का साहित्य उपलब्ध होता है। साहित्य की दृष्टि से इस परिवार की यह सर्वाधिक समृद्ध भाषा है और आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की किसी भी समृद्ध भाषा से टक्कर ले सकती है।

तेलगु :

यह आन्ध्र प्रदेश की भाषा है। इसके बोलने वालों की संख्या द्रविड़ परिवार में सब से अधिक है। 'तिलंगा' शब्द सैनिक का पर्यायवाची है। इस भाषा का साहित्य बारहवीं शताब्दी से मिलने लगता है। इसका आधुनिक साहित्य तमिल की टक्कर का है। प्राचीन काल में इस प्रदेश के लोग संस्कृत

संकुचित होने के कारण, बिल्कुल नहीं चल पाया। इसके पश्चात् 'सांस्कृतिक, जैफ़ाइट' आदि नाम भी सुझाये गये, परन्तु विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हुए। तदनन्तर विद्वानों ने अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् दो महत्त्वपूर्ण नाम प्रस्तुत किये—(१) "आर्य परिवार" और (२) "इण्डो योरपियन परिवार"। योरपियन विद्वानों ने, मुख्यतः फ्रांस के मनीषियों ने इण्डो-योरपियन नाम अत्यधिक पसन्द किया। इनका कहना है कि भारत और योरप ही दो ऐसे महादेश हैं जहाँ पर इस परिवार की भाषाएँ अत्यन्त समृद्ध एवं गौरवमयी रही हैं। इसके साथ ही 'आर्य परिवार' नाम के विरोध में इनका यह कहना है कि 'आर्य' शब्द जाति का सूचक होने के कारण आर्येतर जातियाँ इससे बहिष्कृत हो जाती हैं और यह नाम केवल 'भारत और ईरान' की शाखा के लिए ही प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि ये ही लोग अपने आपको "आर्य" कह कर गौरवान्वित होते हैं।

उपर्युक्त सभी नामों में से 'आर्य-परिवार' नाम मेरी दृष्टि में अधिक उपयुक्त है। प्रथम तो यहाँ पर लाघव है। 'इण्डो-योरपियन' नाम की अपेक्षा 'आर्य' नाम छोटा है जो गुण दार्शनिक दृष्टि से अच्छा समझा जाता है। दूसरे, इस तथ्य को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि मूलतः यह आर्यों (एक प्राचीन जाति-विशेष) की ही भाषा थी और उनके शौर्य-पराक्रम और बुद्धि-वैभव के कारण विश्व के एक बहुत बड़े भूभाग पर फैल गयी। तीसरे, 'सामी, हा[illegible] बांटू' जैसे परिवारों के नाम के भी अनुकूल है। चौथे, इसे शाखाओं-प्रशाखों में विभाजित करने में सुविधा रहेगी; यथा—योरपीय आर्य परिवार, [illegible]मेरिकन आर्य परिवार, ईरानी आर्य परिवार, भारतीय आर्य परिवार आदि। अतः उक्त परिवार के लिए यही नाम अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

सर्व प्रथम १८७० ई० में प्रसिद्ध विद्वान् अस्कोली ने अनुभव किया कि आर्य परिवार की भाषाओं में कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनके 'श, स, ज' के परिवार का अन्य भाषाओं में 'क' हो जाता है और उन्होंने इस प्रकार के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये। तदनन्तर इसे आधार मानते हुए 'फ़ान ब्रेडके' ने आर्य परिवार की भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया—(१) केन्टुम् और (२) सतम्। केन्टुम् वर्ग में आपने 'ग्रीक, इटालिक, केल्टी, जर्मनी, हित्ती और तुखारी उपपरिवारों को परिगणित किया और सतम् वर्ग में भारत ईरानी, अर्मीनी, बाल्ती-स्लेवोनी तथा अल्बानी उपपरिवारों को समाविष्ट किया। इनमें भारत ईरानी उपपरिवार अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इस परिवार की तीन शाखायें हैं—(१) ईरानी, (२) दरद और (३) भारतीय। भारतीय आर्य भाषा की प्राचीनतम भाषा 'छान्दस' और

के अप्रतिम पण्डित होते थे। अतः इस भाषा पर संस्कृत शब्दावली का बहुत अधिक प्रभाव है। विद्वानों का विचार है कि सत्तर से अस्सी प्रतिशत के लगभग संस्कृत शब्द तेलगु में खोजे जा सकते है। इस कारण से हिन्दी, मराठी, बंगला आदि भाषा से अन्य द्रविड़ परिवार की भाषाओं की तुलना में इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके उत्तर-पूर्व में उड़िया भाषा, उत्तर में पूर्वी हिन्दी, पश्चिम में कन्नड़ एवं मराठी और दक्षिण में तमिल भाषा के क्षेत्र आते हैं।

मलयालम :

यह पश्चिमी घाट में स्थित केरल राज्य की भाषा है। यह वस्तुतः तमिल की ही एक शाखा है जो इससे नवीं शताब्दी के लगभग पृथक् हुई। तेलगु की तरह इसमे भी संस्कृत भाषा की शब्दावली की प्रचुरता है। ट्रावण-कोर और कोचीन के राजाओं के संरक्षण में इस भाषा ने पर्याप्त मात्रा में उन्नति की। इसमें तेरहवी शताब्दी से साहित्य मिलना प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व में तमिल भाषी क्षेत्र और उत्तर में कन्नड़ भाषा के क्षेत्र आते हैं। दक्षिण और पश्चिम में समुद्री क्षेत्र है।

कन्नड़ :

यह मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि की दृष्टि से तेलगु के और भाषा गठन की दृष्टि से तमिल के समीप पड़ती है। प्राचीनता की दृष्टि से द्रविड़ परिवार मे यह सब से प्राचीन भाषा है। इसमें पांचवी शताब्दी तक लेख उपलब्ध होते है। इसके दक्षिण में तमिल और मलयालम भाषाओ का क्षेत्र, उत्तर मे मराठी, और पूर्व में तेलगु भाषा के क्षेत्र आते है। पश्चिम में अरब सागर लहराता है।

(ख) आर्य परिवार की भाषाएँ :

विश्व भाषा-परिवारों में आर्य भाषा परिवार सभी दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ भारत, ईरान, रूस के कुछ भाग, समस्त योरप महाद्वीप, समस्त अमेरिका महाद्वीप, अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी भाग और आस्ट्रेलिया महाद्वीप में बोली जाती हैं।

विश्व में तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आविर्भाव का श्रेय भी इसी परिवार की भाषाओं को है। इस परिवार के लिए अनेक नामों के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये है। सर्व प्रथम जर्मन विद्वानों ने इस परिवार का नाम "इण्डो-जर्मेनिक" परिवार रखा। उनका कथन था कि इस परिवार की पूर्वी सीमा भारत है और पश्चिमी सीमा जर्मनी। अतः उक्त नाम ही उपयुक्त है। कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि उक्त नाम से 'आयरलैण्ड और वेल्ज़' की बोलियाँ जो 'केल्टिक' शाखा की हैं, इसमें नहीं आ पाती। अतः इसका नाम "इण्डो-केल्टिक" रखा गया, परन्तु यह नाम पहले नाम से भी

के अप्रतिम पण्डित होते थे। अतः इस भाषा पर संस्कृत शब्दावली का बहुत अधिक प्रभाव है। विद्वानों का विचार है कि सत्तर से अस्सी प्रतिशत के लगभग संस्कृत शब्द तेलगु मे खोजे जा सकते है। इस कारण से हिन्दी, मराठी, बंगला आदि भाषा से अन्य द्रविड परिवार की भाषाओं की तुलना मे इसका घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसके उत्तर-पूर्व मे उडिया भाषा, उत्तर मे पूर्वी हिन्दी, पश्चिम मे कन्नड़ एवं मराठी और दक्षिण मे तमिल भाषा के क्षेत्र आते है।

मलयालम :

यह पश्चिमी घाट मे स्थित केरल राज्य की भाषा है। यह वस्तुतः तमिल की ही एक शाखा है जो इससे नवी शताब्दी के लगभग पृथक् हुई। तेलगु की तरह इसमे भी संस्कृत भाषा की शब्दावली की प्रचुरता है। ट्रावणकोर और कोचीन के राजाओ के सरक्षण मे इस भाषा ने पर्याप्त मात्रा मे उन्नति की। इसमे तेरहवी शताब्दी से साहित्य मिलना प्रारम्भ होता है। इसके पूर्व मे तमिल भाषी क्षेत्र और उत्तर मे कन्नड भाषा के क्षेत्र आते है। दक्षिण और पश्चिम मे समुद्री क्षेत्र है।

कन्नड़ :

यह मैसूर राज्य की भाषा है। लिपि की दृष्टि से तेलगु के और भाषा गठन की दृष्टि से तमिल के समीप पड़ती है। प्राचीनता की दृष्टि से द्रविड परिवार मे यह सब से प्राचीन भाषा है। इसमे पाँचवी शताब्दी तक लेख उपलब्ध होते है। इसके दक्षिण मे तमिल और मलयालम भाषाओ का क्षेत्र, उत्तर मे मराठी, और पूर्व मे तेलगु भाषा के क्षेत्र आते है। पश्चिम मे अरब सागर लहराता है।

(ख) आर्य परिवार की भाषाएँ :

विश्व भाषा-परिवारो मे आर्य भाषा परिवार सभी दृष्टियो से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परिवार है। इस परिवार की भाषाएँ भारत, ईरान, रूस के कुछ भाग, समस्त योरप महाद्वीप, समस्त अमेरिका महाद्वीप, अफ्रीका महाद्वीप के दक्षिण-पश्चिमी भाग और आस्ट्रेलिया महाद्वीप मे बोली जाती है।

विश्व मे तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के आविर्भाव का श्रेय भी इसी परिवार की भाषाओ को है। इस परिवार के लिए अनेक नामो के प्रस्ताव प्रस्तुत किये गये है। सर्व प्रथम जर्मन विद्वानो ने इस परिवार का नाम "इण्डो-जर्मेनिक" परिवार रखा। उनका कथन था कि इस परिवार की पूर्वी सीमा भारत है और पश्चिमी सीमा जर्मनी। अतः उक्त नाम ही उपयुक्त है। कुछ समय पश्चात् यह अनुभव किया गया कि उक्त नाम से 'आयरलैण्ड और वेल्ज़' की बोलियाँ जो 'केल्टिक' शाखा की है, इसमे नही आ पाती। अतः इसका नाम "इण्डो-केल्टिक" रखा गया, परन्तु यह नाम पहले नाम से भी

संकुचित होने के कारण, बिल्कुल नहीं चल पाया। इसके पश्चात् 'सांस्कृतिक, जैफ़ाइट' आदि नाम भी सुझाये गये, परन्तु विद्वानों द्वारा स्वीकृत नहीं हुए। तदनन्तर विद्वानों ने अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् दो महत्त्वपूर्ण नाम प्रस्तुत किये—(१) "आर्य परिवार" और (२) "इण्डो योरपियन परिवार"। योरपियन विद्वानों ने, मुख्यतः फ्रांस के मनीषियों ने इण्डो-योरपियन नाम अत्यधिक पसन्द किया। इनका कहना है कि भारत और योरप ही दो ऐसे महादेश हैं जहाँ पर इस परिवार की भाषाएँ अत्यन्त समृद्ध एवं गौरवमयी रही हैं। इसके साथ ही 'आर्य परिवार' नाम के विरोध में इनका यह कहना है कि 'आर्य' शब्द जाति का सूचक होने के कारण आर्येतर जातियाँ इससे बहिष्कृत हो जाती हैं और यह नाम केवल 'भारत और ईरान' की शाखा के लिए ही प्रयोग किया जाना चाहिए, क्योंकि ये ही लोग अपने आपको "आर्य" कह कर गौरवान्वित होते हैं।

उपर्युक्त सभी नामों में से 'आर्य-परिवार' नाम मेरी दृष्टि में अधिक उपयुक्त है। प्रथम तो यहाँ पर लाघव है। 'इण्डो-योरपियन' नाम की अपेक्षा 'आर्य' नाम छोटा है जो गुण दार्शनिक दृष्टि से अच्छा समझा जाता है। दूसरे, इस तथ्य को भी दृष्टि से ओझल नहीं किया जा सकता कि मूलतः यह आर्यों (एक प्राचीन जाति-विशेष) की ही भाषा थी और उनके शौर्य-पराक्रम और बुद्धि-वैभव के कारण विश्व के एक बहुत बड़े भूभाग पर फैल गयी। तीसरे, 'सामी, हा[illegible] बांटू' जैसे परिवारों के नाम के भी अनुकूल है। चौथे, इसे शाखाओं-प्रशाखों में विभाजित करने में सुविधा रहेगी; यथा—योरपीय आर्य परिवार, [illegible]मेरिकन आर्य परिवार, ईरानी आर्य परिवार, भारतीय आर्य परिवार आदि। अतः उक्त परिवार के लिए यही नाम अधिक उपयुक्त एवं समीचीन प्रतीत होता है।

सर्व प्रथम १८७० ई० में प्रसिद्ध विद्वान् अस्कोली ने अनुभव किया कि आर्य परिवार की भाषाओं में कुछ ऐसी भाषाएँ हैं जिनके 'श, स, ज' के परिवार का अन्य भाषाओं में 'क' हो जाता है और उन्होंने इस प्रकार के कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये। तदनन्तर इसे आधार मानते हुए 'फ़ान ब्रेडके' ने आर्य परिवार की भाषाओं को दो वर्गों में विभाजित किया—(१) कैन्टुम् और (२) सतम्। कैन्टुम् वर्ग में आपने 'ग्रीक, इटालिक, केल्टी, जर्मनी, हित्ती और तुखारी उपपरिवारों को परिगणित किया और सतम् वर्ग में भारत ईरानी, अर्मीनी, बाल्टी-स्लेवोनी तथा अल्बानी उपपरिवारों को समाविष्ट किया। इनमें भारत ईरानी उपपरिवार अपनी विशिष्ट महत्ता रखता है। इस परिवार की तीन शाखायें हैं—(१) ईरानी, (२) दरद और (३) भारतीय। भारतीय आर्य भाषा की प्राचीनतम भाषा "छान्दस' और

ईरानी शाखा की प्राचीनतम भाषा 'अवेस्ता' में अभूतपूर्व सामञ्जस्य है। किञ्चित् परिवर्तन से अवेस्ता छान्दस और छान्दस अवेस्ता बन सकती है। इसीलिए विद्वानों ने इसे एक ही उपपरिवार की भाषा माना है।

ईरानी :

'ईरानी' शाखा की भाषा की विद्वानों ने तीन अवस्थाएँ निर्धारित की हैं। एक पारसियों के धर्मग्रन्थ 'अवेस्ता' की भाषा, दूसरी अवेस्ता पर की गयी टीका की भाषा और तीसरी, हखमानी राजाओं के शिला-लेखों की भाषा। इन तीनों अवस्थाओं को मिलाकर प्राचीन ईरानी भाषा कहा जा सकता है।

लगभग ईसा की दूसरी शताब्दी से सातवीं शताब्दी के बीच ईरानी भाषा के नये रूप का आविर्भाव होता है। इस समय की मुख्य साहित्यिक भाषा 'पहलवी' है। इसके अतिरिक्त पश्चिमी ईरान मे 'हुज़्वारेश' और पूर्वी ईरान में 'पाज़ंद' भाषाएँ भी प्रचलित थी। इन्हें मध्यकालीन ईरानी कहा जा सकता है।

इस्लाम के प्रचार के साथ-साथ ईरानी भाषा ने नया रूप ग्रहण किया और इस पर अरबी भाषा का प्रभाव पड़ा। मुसलमानों के साथ-साथ यह भारत में आई और भारतीय परिवार के साथ इसका पुनः सम्पर्क हुआ। उस समय इसे 'फ़ारसी' के नाम से अभिहित किया जाता था। बीसवीं शताब्दी में इसे पुनः फ़ारसी के स्थान पर अपना पुराना नाम प्राप्त हुआ और आज कल इसे 'ईरानी' ही कहा जाता है। यहाँ से ही ईरानी का आधुनिक काल प्रारम्भ होता है।

दरद :

'दरद' का अर्थ होता है पर्वत। अतः भारत के सीमान्त पर्वत प्रदेशों में बोली जाने वाली भाषाओं के समूह को दरद भाषाएँ कहा जाता है। पंजाब के पश्चिमोत्तर में और पामीर के पूर्व-दक्षिण में जो पर्वत प्रदेश है, वह इनका क्षेत्र माना जाता है। इन्हे पिशाच या भूत भाषाएँ कहने का भी प्रचलन है। काफ़िरी, खोवारी, शीना, कश्मीरी और कोहिस्तानी (अनेक बोलियों के समूह का कल्पित नाम) आदि इसकी आधुनिक भाषाएँ है। कश्मीरी इनमें सब से महत्त्वपूर्ण है और इसका क्षेत्र भी अपेक्षाकृत विस्तृत है। प्राचीन समय में कश्मीर संस्कृत का प्रधान केन्द्र रहने के कारण इस पर संस्कृत शब्दावली का गहरा प्रभाव लक्षित होता है। इस्लाम के प्रवेश के बाद से इस भाषा पर अरबी और फ़ारसी का प्रभाव बढ़ता गया और आजकल इसे फारसी लिपि में ही लिखा जाता है। अब तक विद्वान् यह निश्चित नही कर पाये हैं कि पिशाची प्राकृत और दरद भाषाओं का कोई पारस्परिक सम्बन्ध है अथवा दो भिन्न नामों वाली यह एक ही भाषा है। कश्मीरी स्वरों में

अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर पाया जाता है। सघोष महाप्राण ध्वनियों का अभाव है जो पैशाची प्राकृत की भी एक विशेषता है।

भारतीय आर्य शाखा :

भारतीय आर्य शाखा भारत-ईरानी उपपरिवार की एक शाखा है, जो समस्त भारत में किसी न किसी रूप में प्रयोग में लाई जाती है। इसकी प्राचीनतम भाषा छान्दस है। यहीं से लेकर नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं तक के विकास को प्रस्तुत ग्रन्थ में उपस्थित करने का उपक्रम किया गया है।

समस्त पुस्तक को ग्यारह अध्यायों में विभाजित किया गया है। प्रथम अध्याय में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक गतिविधियों पर विचार-विमर्श करने के लिये आर्यों के मूल निवास-स्थान का अनुसन्धान कर यह निष्कर्ष निकाला गया है कि आर्यों की मूल जन्मभूमि सप्तसिन्धु प्रदेश ही थी और आर्य कहीं बाहर से नहीं आये थे। इसकी पुष्टि प्रजातिवाद, भाषा और पुरालेखों की दृष्टि से की गई है। तदनन्तर भारत में अन्य संस्कृतियों के अस्तित्व को प्रस्तुत किया है।

द्वितीय अध्याय में छान्दस एवं संस्कृत भाषाओं की विकास प्रक्रिया और ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है और दोनों भाषाओं के पारस्परिक सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है।

तृतीय अध्याय में मध्यकालीन भाषाओं के विकास के कारण प्रस्तुत करते हुए यह देखने का प्रयास किया गया है कि उनका विकास संस्कृत भाषा से सम्भव है अथवा छान्दस से। इसके साथ ही मध्यकालीन भारतीय आर्य-भाषाओं की सामूहिक ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेषताओं का निदर्शन किया गया है।

चौथे अध्याय में पालि एवं अशोकी शिला-लेखों की भाषाओं पर विचार करते हुए पालि भाषा के 'नामकरण' की और क्षेत्रीय बोली की समस्याओं का समाधान प्रस्तुत किया गया है। इसके साथ ही 'पालि और छान्दस' भाषा की उन विशेषताओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है जिनके रूप संस्कृत में उपलब्ध नहीं होते। अन्त में पालि भाषा की ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेषताएँ प्रस्तुत की गयी हैं।

पाँचवें अध्याय में साहित्यिक प्राकृत भाषाओं के उद्भव पर विचार करते हुए इनकी सामूहिक विशेषताओं को प्रस्तुत किया गया है। तदुपरान्त प्रत्येक साहित्यिक प्राकृत पर पृथक्-पृथक् प्राकृत-वैयाकरणों के अनुसार ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक दृष्टि से विचार किया गया है।

छठे अध्याय में अपभ्रंश भाषा के उद्गम उसका देशत्व, और आभीरादि जातियों के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार किया गया है। इसके साथ ही

साहित्यिक एवं परिनिष्ठित अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों को पुष्ट भाषा-वैज्ञानिक आधार-भूमि पर निरस्त कर उसके एक ही रूप की स्थापना की गयी है। इसी बीच उसका ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है।

सातवें अध्याय में 'अवहट्ट' अथवा संक्रान्ति काल की भाषा पर विचार किया गया है और यह दिखाने का प्रयास किया है कि वह साहित्यिक अपभ्रंश से कितनी दूर चली गयी थी और नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं के कितनी समीप आ गयी थी। इसके साथ ही इसकी ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक विशेषताओं पर भी विचार किया गया है।

आठवें अध्याय में नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं पर विचार व्यक्त किये हैं और डॉ. ग्रियर्सन और डॉ. चाटुर्ज्या के वर्गीकरणों पर विस्तार से विचार भी। इसके पश्चात् समस्त नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं का पृथक्-पृथक् संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हुए इस अध्याय में मुख्यतः नामकरण, क्षेत्र, सीमाएँ और ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक विशेषताएं सन्निविष्ट की गयी हैं।

नवें अध्याय में पश्चिमी हिन्दी के उद्भव और विकास पर विचार किया गया है तथा अपभ्रंश के साथ उसके सम्बन्ध को स्पष्ट किया गया है। इसके पश्चात् हिन्दी शब्द की निरुक्ति तथा हिन्दी-उर्दू विवाद पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार किया गया है।

दसवें अध्याय में हिन्दी (खड़ी बोली) भाषा की ध्वनियों के स्वरूप और उनके विकास की प्रक्रिया को विस्तार से स्पष्ट किया गया है।

ग्यारहवें अध्याय में हिन्दी (खड़ी बोली) का रूपात्मक विकास प्रस्तुत किया गया है। महामुनि यास्क के 'नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्च' के आधार पर शब्द-रूपों का विभाजन कर प्रत्येक विधा को पृथक्-पृथक् रूप में स्पष्ट किया गया है।

अन्त में दो परिशिष्ट है जिनमें (१) हिन्दी राष्ट्र-भाषा क्यों? तथा (२) पारिभाषिक शब्दावली का विवेचन है। इस प्रकार संक्षेप में यह प्रयास किया गया है कि भाषा-विज्ञान के अध्ययेष्णु छात्र सरलता से भारतीय आर्य भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर सकें। यह प्रयास कितना सफल हुआ है, यह निर्धारित करना विज्ञ पाठकों का अपना विषय है।

मानव के जीवन-निर्माण में विभिन्न व्यक्तियों, घटनाओं एवं परिस्थितियों का योगदान रहता है। मनुष्य उनसे प्रेरणाएँ ग्रहण करता है और तदनुरूप अपने पथ का निर्धारण करता है। अतः इस दृष्टि से मैं कह सकता हूँ कि भाषा-अध्ययन के इस पथ को प्रशस्त करने का श्रेय मेरे दो पितृव्य स्व. **पं. रामस्वरूप शर्मा** और स्व. **पं. कन्हैयालाल शर्मा** को है जिनके सान्निध्य में मैंने संस्कृत भाषा की पुरातन प्रणाली पर लघु और सिद्धान्त कौमुदी तथा

सारस्वत और सिद्धान्त चन्द्रिका जैसे व्याकरण ग्रन्थों का अध्ययन किया। आधुनिक प्रणाली पर भाषाओं के अध्ययन की ओर अग्रसर करने का श्रेय हिन्दी के कतिपय ग्रन्थों को है जिनमें डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत 'हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास', डॉ. बाबूराम सक्सेना कृत 'सामान्य भाषा-विज्ञान', डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत 'हिन्दी भाषा का इतिहास' और डॉ. सुनीति-कुमार चाटुर्ज्या कृत 'भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी' आदि प्रमुख हैं। उक्त ग्रन्थों का मेरे भाषा जीवन में जो योगदान है उससे मैं शायद ही उऋण हो सकूं।

भाषाओं के अध्ययन के लिए प्रोत्साहित करते रहने का श्रेय **डॉ. सरनाम सिंह शर्मा 'अरुण'** को है। किसी भी विषय पर किसी भी समय विचार-विमर्श करने के लिए उनके द्वार मेरे लिए सदैव खुले रहते हैं। उसी का यह परिणाम है जिसके लिए मैं कृतज्ञ हूँ।

मेरे लेखक जीवन का शुभारम्भ उन भाषा-वैज्ञानिक लेखों से होता है जो समय-समय पर हिन्दी की प्रमुख शोध-पत्रिकाओं—नागरी प्रचारिणी पत्रिका, शोध-पत्रिका, विश्वम्भरा, सप्त-सिन्धु, राजस्थान पत्रिका, जनभारती, रसवन्ती आदि में प्रकाशित होते रहे हैं। मेरे लेखों को पढ़कर मेरे विद्वान् मित्रों ने मुझे इस विषय पर कोई पुस्तक लिखने का परामर्श दिया जिससे मेरे विचार अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच सकें। इसी बीच बी.ए. के छात्रों को भारतीय आर्य भाषाओं का इतिहास पढ़ाते समय मुझे यह अनुभव भी हुआ कि हिन्दी जगत् में एक ऐसी पुस्तक की आवश्यकता है जो मौलिक होते हुए भी ऐसी शैली में लिखी हुई हो कि एम.ए. और बी.ए. के छात्रों के लिए समान रूप से उपादेय हो और वे अपनी आवश्यकतानुसार सामग्री अत्यन्त सरलता से प्राप्त कर सकें। अतः पुस्तक लिखने का निश्चय कर उपर्युक्त प्रकार की रूपरेखा तैयार कर ली गयी।

उक्त रूप रेखा को साकार रूप प्रदान करने में मेरे अभिन्न मित्र **डॉ. प्रभाकर शर्मा शास्त्री**, संस्कृत विभाग का जो अमूल्य सहयोग मिला, वह मेरे हृदय की एक बहुमूल्य निधि बन गया है। समय-समय पर मिले आपके सुझाव तो महत्त्वपूर्ण थे ही, साथ ही आपके सशक्त 'प्रूफ़ रीडिंग' ने पुस्तक को अधिक निर्दोष बना दिया है।

मेरे जीवन निर्माण में मेरी स्वर्गीया धर्मपत्नी श्रीमती शान्ता कौशिक का बहुत बड़ा हाथ रहा। वह मेरी पत्नी ही नहीं एक मार्ग-दर्शिका भी थीं। किशोरावस्था की वह मेरी जीवन-संगिनी सदैव कहा करती थी कि अध्ययन काल में सुख की आकांक्षा करना असफलता को आमन्त्रित करना है और अध्ययन तो अपने आप में एक सुख है। मैं नहीं समझती कि इससे आगे भी

दुनियाँ में कोई सुख होता है। आज वह इस संसार में नहीं है किन्तु उसके वाक्य आज भी मेरा मार्ग-दर्शन करते हैं।

अन्त में मैं उन विद्वानों का कृतज्ञ हूँ जिनके ग्रन्थों का आधार लेकर मैं इस पुस्तक को प्रस्तुत कर सका हूँ। उनकी सूची पुस्तक के अन्त में प्रस्तुत कर दी गई है। यदि किसी ग्रन्थ का नाम अज्ञानवश उस सूची में नहीं आ पाया हो जिसका उपयोग इस पुस्तक में किया गया है तो सम्बद्ध विद्वान् मुझे क्षमा करेंगे। सिद्धान्तों के प्रतिपादन में यदि किसी विद्वान् के किसी सिद्धान्त का खण्डन करते समय कहीं कोई वाक्स्खलन हो गया हो तो विद्वान् उसे बाल-चांचल्य समझकर क्षमा कर देंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। यह मेरा प्रथम प्रयास है। अतः बहुत सम्भव है, अनेक स्थलों पर अनेक भूलें एवं अपूर्णताएँ रह गयी हों, इसके लिए विद्वानों के सुझाव सादर आमन्त्रित हैं, जिससे अग्रिम संस्करण में उनका उपयोग किया जा सके।

श्री कल्याण राजकीय महाविद्यालय,
सीकर

जगदीशप्रसाद कौशिक

विजयदशमी, २०-१०-६६

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक वातावरण

बौद्धिक युग और उसके परिणाम—पाश्चात्य विद्वान् और उनकी मनोवृत्ति—आर्यजन और उनके मूल निवास स्थान का भ्रम—विभिन्न मत—मतों का आधार—प्रजातिवाद—भाषावाद—प्राचीन शिलालेख एवं ग्रन्थ—प्राचीन भारत की मुख्य-मुख्य प्रजातियाँ—हब्शी—आस्ट्रिक या निषाद—द्रविड़—मंगोलियन या किरात—इनका प्रभाव—छान्दस/संस्कृत, अवेस्ता, पालि/प्राकृत की तुलना।

वर्तमान युग बौद्धिक विकास एवं सभ्यता के प्रसार में कितनी तत्परता से संलग्न है, यह स्वयं सिद्ध तथ्य है जो विस्तृत व्यञ्जना की अपेक्षा नहीं रखता। मानव-मस्तिष्क उस उर्वरा भूमि की भाँति कार्य-निरत है जो एक बीज के प्रतिदान में वपनकर्ता को असंख्य बीजों से आपूरित निष्कर्ष रूपी फल प्रदान करता है। आज एक विषय जैसे ही अंकुरित होता है वैसे ही तुरन्त शाखाओं एवं प्रशाखाओं में प्रस्फुटित हो कर पुष्पित एवं पल्लवित हो जाता है। क्या धर्म, क्या साहित्य, क्या राजनीति, क्या समाजशास्त्र, क्या इतिहास, क्या संस्कृति, सभी क्षेत्रों में मानव प्रतिभा ने जो कमाल कर दिखाए हैं, वे अप्रतिम हैं। ज्ञान के सभी अंगों का आलोड़न-विलोड़न कर उन पर पड़े अज्ञान के पर्दे को फाड़कर विद्वत्समाज उस रहस्य के उद्घाटन में तल्लीन है जो या तो मानव-मस्तिष्क के लिए गहन गुत्थी बना हुआ था, या मानव-समाज उसके विषय में पूर्णतः अनभिज्ञ था। प्रकृति के ऐसे कितने ही व्यापारों का उद्घाटन किया जा चुका है और कितनों का ही किया जा रहा है, किन्तु इस प्रकार के कृत्यों का उत्तरदायित्व वहन करते समय विद्वान् पुरुष यदि किञ्चित् मात्र भी बहक जाता है (कारण चाहे राजनैतिक, धार्मिक व राष्ट्रीय कोई भी रहा हो) तो वह अपने आप को तो प्रवंचना के गहन गह्वर में पतित करता ही है, साथ ही भावी सन्तति के लिए गहन समस्याओं का आदाता भी हो जाता है। बौद्धिकता की शान पर चढ़े हुए, तेज धार वाले अनुमान-प्रसूत तर्क, किस प्रकार युगों से प्रस्थापित मानव-मस्तिष्क के विश्वास-विहंगों के पंख छिन्न-भिन्न कर देते हैं, यह एक कल्पित विधान नहीं, अकाट्य सत्य है। अतएव बुद्धिप्रधान तर्क-वितर्क के युग में कम से कम बुद्धिजीवी वर्ग से मेरी विनय है कि वह अपनी निष्पक्ष प्रतिभा का परिचय दे। उसकी समस्त मान्यताएं व निष्कर्ष पक्षपात रहित प्रतिभा की उज्ज्वलता से जाज्वल्यमान हों।

इस समस्त आकलन से मेरा तात्पर्य उस महान् भ्रम को उद्घाटित करना था जो पाश्चात्य विद्वानों द्वारा तथा उनके ही पदचिन्हों का अनुकरण करने वाले भारतीय मनीषियों द्वारा इस देश के विद्यालयों व विश्वविद्यालयों में ज्ञान की आराधना में निरत भारत के भावी कर्णधारों के अतिरिक्त शिक्षित वर्ग एवं सामान्य जनता के मस्तिष्क को दूषित करने के लिए फैलाया गया। यह भयावह भ्रम है—आर्यों का आदि देश सप्तसिन्धु न मानकर उसके लिए प्रचलित की गयी भिन्न-भिन्न धारणाएं। इस प्रश्न को लेकर भिन्न-भिन्न प्रकार की मान्यताओं की स्थापना के लिए अनुमान के आधार पर दूर-दूर की कौड़ी खोजने के प्रयास में जो बुद्धि-विलास किया गया है वह यह स्पष्ट प्रमाणित

करता है कि मनुष्य सत्य के उद्घाटन में ही सक्षम नही, वह सत्य को तमसावृत करने मे तथा उसे अज्ञान के अनेक आच्छादनो से वेष्टित कर असत्य को सत्य के आवरण मे उपस्थित करने मे अधिक सशक्त है। किन्तु ज्ञान की यह अर्चना निश्चय ही चिन्ता का विषय है। आज से लगभग दो सौ या चार सौ वर्ष पूर्व भारत को छोडकर शायद ही कोई देश था जो अपने आपको आर्य नाम से अभिहित कर गौरव का अनुभव करता रहा हो। वे जानते तक न थे कि एक दिन वे भी आर्य बनकर न केवल उस जाति के आदि पुरुष के निकटतम वंशज होने का दम भरेंगे, बल्कि उसका आदि स्थान भी यही कही निश्चित कर देंगे और वह देश जो राजनैतिक दृष्टिकोण से चाहे जैसा रहा हो पर धार्मिक दृष्टिकोण से हिमालय से कन्याकुमारी तक, हिन्दूकुश से वर्मा तक एक संगठित इकाई था तथा जिसके निवासी अपने को आर्य कहकर सप्तसिन्धु प्रदेश पर सौजान निछावर थे, अब उसकी सन्ताने न केवल अपने को विदेशी समझने लगेंगी, बल्कि अपने मे भी द्रविड, आर्य, मंगोलियन, हब्शी आदि का वर्ग-भेद कर एक दूसरे से दूर जाने का उपक्रम करने लगेंगी, यह किसे ज्ञात था। विधि की विडम्बना विचित्र है।

सर विलियम जौन्स विश्व के प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने यह घोषणा की थी कि योरप की पुरातन भाषाओ मे एवं संस्कृत मे प्रकृति साम्य ही नही रूप साम्य भी है तथा इनका मूल उद्गम किसी एक मूल भाषा से हुआ है। परिणाम स्वरूप योरप मे संस्कृत भाषा का अध्ययन प्रारम्भ हुआ। उन्नत प्रतिभाओ के अपार भण्डार को एक ही स्थान पर (संस्कृत भाषा मे) प्राप्त कर पाश्चात्य विद्वानों की आँखे खुली की खुली रह गईं और वे वाणी के इन वरद पुत्रो के साथ न केवल भाषा का ही, बल्कि अपना सागोपाङ्ग सम्बन्ध स्थापित करने का लोभ संवरण न कर सके। अब यह अनुमान लगाया जाना प्रारम्भ हुआ कि इन भाषाओं के बोलने वालो के पूर्वज प्रारम्भ में कही एक स्थान पर एक ही परिवार से सम्बन्धित हो, रहते रहे होंगे। यही वह समय था जब भारत, ईरान, रूस का एक बहुत बडा भू-भाग, फारस तथा समग्र योरप अपने आपको आर्य एवं उनके द्वारा बोली जाने वाली भाषाओ को आर्य-परिवार की भाषाएँ कहने लगा। इन भाषाओ के प्राचीनतम ग्रन्थो मे ऋग्वेद, अवेस्ता तथा ईलियड औडेसी आदि का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों में भी ऋग्वेद प्राचीनतम धर्मग्रन्थ है। इस प्रकार जब इतने बड़े भू-भाग मे रहने वाले व्यक्ति अपने आपको आर्यो की सन्तान समझने लगें तो उनकी प्रतिभाएं अपने पूर्वजों के आदि स्थान का अनुसन्धान करने में व्यस्त हो गईं। किन्तु इन अनुसन्धाताओ के साथ दुर्भाग्य यह था कि इनमे से कतिपय विद्वान् रक्त की विशुद्धता के दम्भ से ग्रस्त थे, कुछ राजनैतिक

"It is a fact that race conscious persons hold an image of racial types in their heads."[1]

अतः हम कह सकते हैं कि यह शास्त्र इस कार्य में अपना किञ्चित् योगदान तो दे सकता है किन्तु मूल आधार नहीं बन सकता, क्योंकि मानव की आकृति, गठन एवं वर्ण पर तद्देशीय जलवायु तथा अन्तर-रक्त-मिश्रण आदि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। दो वस्तुएँ मिलकर तीसरी नवीन वस्तु को जन्म देती है— यह रसायन शास्त्र का प्रमुख नियम है। अतः स्पष्ट है कि एक प्रदेश विशेष के व्यक्ति के दूसरे प्रदेश में जा बसने पर उसकी कुछ पीढ़ियों के पश्चात् की पीढ़ियाँ उस प्रदेश के लोगों की नस्ल में मिलने जुलने लगती है। इसमें जलवायु के साथ-साथ भोजन की अल्पता तथा अधिकता का भी प्रभाव पड़ता है। उत्तर योरप के यहूदियों का इस आधार पर किया गया परीक्षण उक्त सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध करता है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री फ्रंज बाउस (Franj Bous) ने "शीर्ष देशना" पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि पूर्वी योरप के अमरीका में जा बसे यहूदियों की शीर्ष देशना ८३.० थी। उनके पुत्रों एवं पौत्रों की क्रमशः ८१.४ तथा ७८.७ पाई गई।[2] अतः यह कहना कि अमुक जाति की नस्ल के लिए निश्चित सीमा यह है और जहाँ भी इस प्रकार की शारीरिक सीमा में आबद्ध व्यक्ति मिलेंगे वे उस निश्चित नस्ल विशेष के होंगे, गले नही उतरती। नृ-विज्ञान वेत्ताओं ने कपाल के अध्ययन के द्वारा जिसमें सब से कम परिवर्तन देखा गया है, उसकी तीन स्थितियाँ स्वीकार की हैं, (१) लम्बा कपाल, (२) मध्यम कपाल—(३) चौड़ा कपाल। इनकी नाप-जोख इस प्रकार स्थापित की गई—लम्बा कपाल ७४.९९ तक, मध्यम कपाल ७५.० से ७९.९९ तक, चौड़ा कपाल ८०.० से अधिक। इस सिद्धान्त पर यदि उक्त यहूदी परिवार का परीक्षण करें तो उसकी प्रथम पीढी चौड़े कपाल के अन्तर्गत, द्वितीय पीढ़ी मध्यम कपाल की ओर अग्रसर होती हुई तथा तृतीय पीढी मध्यम कपाल के अन्तर्गत आती है। यह अध्ययन यह भी सिद्ध करता है कि सम्भवतः उस परिवार की अगली पीढ़ियाँ लम्बे कपाल की ओर बढ़ गई हों तथा यदि यह परिवार अमरीका की अपेक्षा अफ्रीका अथवा एशिया मे जाता तो यह विकास सम्भवतः भिन्न प्रकार का होता। अतः प्रजातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किसी एक नस्ल को अधिक मात्रा में उस स्थान विशेष मे प्राप्त कर उसका मूल उद्गम भी उसी स्थान को मान लेना उचित नही, क्योंकि इंगलैण्ड में रहने वाले कितने ही भारतीय परिवार अब

---

[1] Man in the Primitive World, p. 119.
[2] General Anthropology, p. 115.

शारीरिक गठन में, विशेषकर स्त्रियाँ अपने मूल परिवार से भिन्न दिखाई देती हैं, पर योरोपियनों के समीपस्थ। इस प्रकार एक समय ऐसा आ सकता है जब कि वे योरप के लोगों के अधिक समीप और भारत के लोगों से आकृति की दृष्टि से बहुत दूर पड़ जाएँ। ऐसी स्थिति में कोई नृ-विज्ञान वेत्ता प्रजाति के सिद्धान्त के आधार पर उस परिवार का मूल उद्गम योरप में कहीं खोजने का प्रयास करे तो यह प्रयास उतना ही हास्यास्पद होगा जितना किसी वनस्पति-शास्त्र वेत्ता का नीम वृक्ष का उद्गम वट वृक्ष में खोजने का प्रयत्न। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त में भौगोलिकता और अस्वाभाविक आहार-विहार अपना महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। समान जलवायु में रहने वाले निवासियों की नस्लें समान हो सकती हैं पर वे एक ही वंश के भी हों, यह नहीं हो सकता। अतः केवल इसी आधार मानकर भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी भाग के लोगों को आर्य एवं द्रविड़ दो प्रजातियों में बाँट देना प्रजातिवाद के सिद्धान्त के खोखलेपन का परिचय देना है। सम्भवतः इसी विचार से प्रेरित होकर स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—"अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्यों की एक खास प्रजाति थी जिसका नाम द्रविड़ था, जो दक्षिण भारत में रहती थी और उत्तर भारत में रहने वाली आर्य जाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में रहने वाले ब्राह्मण हैं, वे केवल वे ही थोड़े से आर्य हैं जो उत्तर भारत से दक्षिण को गए। दक्षिण भारत के बाकी लोगों की जाति और प्रजाति ब्राह्मणों की जाति और प्रजाति से सर्वथा भिन्न है। श्रीमान भाषा-शास्त्रीजी, आप क्षमा करेंगे; ये सारी बातें निराधार हैं।"*

इस प्रजातिवाद की भावना ने मानव समाज में घृणा का जो बीजारोपण किया है, वह अवश्य ही अत्यन्त चिन्तनीय है। इस सिद्धान्त को आधार मान कर कितने ही विद्वान् इन गौरांग महाप्रभुओं को सभ्यता का अग्रदूत मानने लगे। "बुद्धि वैभव के एक मात्र अधिकारी गौरांग ही हैं, कृष्णांग नहीं, इस विचार के प्रचार में प्रजातिवाद के सिद्धान्त-मानने वाले यह भूल जाते हैं कि भारत के ही नहीं, विश्व के एक मात्र आराध्य, कर्मयोग सिद्धान्त के आविष्कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण कृष्णांग थे। कूटनीति के अप्रतिम पंडित आचार्य चाणक्य भी कृष्णांग थे, ऐसी किंवदन्तियाँ हैं। हिन्दुओं के प्रधान आराध्य देवाधिदेव विष्णु के लिए भी नील वर्ण की कल्पना की गई है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रजाति का यह सिद्धान्त किञ्चित् सत्य पर भी चाहे आधारित हो

---

* दी फ्यूचर ऑफ इण्डिया—स्वामी विवेकानन्द—"आजकल" में श्री रामधारीसिंह दिनकर द्वारा उद्धृत।

"It is a fact that race conscious persons hold an image of racial types in their heads."[1]

अतः हम कह सकते है कि यह शास्त्र इस कार्य में अपना किञ्चित् योगदान तो दे सकता है किन्तु मूल आधार नहीं बन सकता, क्योंकि मानव की आकृति, गठन एवं वर्ण पर तद्देशीय जलवायु तथा अन्तर-रक्त-मिश्रण आदि का प्रभाव अवश्य पड़ता है। दो वस्तुएँ मिलकर तीसरी नवीन वस्तु को जन्म देती है—यह रसायन शास्त्र का प्रमुख नियम है। अतः स्पष्ट है कि एक प्रदेश विशेष के व्यक्ति के दूसरे प्रदेश में जा बसने पर उसकी कुछ पीढ़ियों के पश्चात् की पीढ़ियाँ उस प्रदेश के लोगों की नस्ल में मिलने जुलने लगती है। इसमें जलवायु के साथ-साथ भोजन की अल्पता तथा अधिकता का भी प्रभाव पड़ता है। उत्तर योरप के यहूदियों का इस आधार पर किया गया परीक्षण उक्त सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध करता है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री फ्रंज बाउस (Franj Bous) ने "शीर्ष देशना" पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि पूर्वी योरप के अमरीका में जा बसे यहूदियों की शीर्ष देशना ८३.० थी। उनके पुत्रों एवं पौत्रों की क्रमशः ८१.४ तथा ७८.७ पाई गई।[2] अतः यह कहना कि अमुक जाति की नस्ल के लिए निश्चित सीमा यह है और जहाँ भी इस प्रकार की शारीरिक सीमा में आबद्ध व्यक्ति मिलेगे वे उस निश्चित नस्ल विशेष के होंगे, गले नही उतरती। नृ-विज्ञान वेत्ताओं ने कपाल के अध्ययन के द्वारा जिसमें सब से कम परिवर्तन देखा गया है, उसकी तीन स्थितियाँ स्वीकार की है, (१) लम्बा कपाल, (२) मध्यम कपाल—(३) चौड़ा कपाल। इनकी नाप-जोख इस प्रकार स्थापित की गई—लम्बा कपाल ७४.९९ तक, मध्यम कपाल ७५.० से ७९.९९ तक, चौड़ा कपाल ८०.० से अधिक। इस सिद्धान्त पर यदि उक्त यहूदी परिवार का परीक्षण करें तो उसकी प्रथम पीढ़ी चौड़े कपाल के अन्तर्गत, द्वितीय पीढ़ी मध्यम कपाल की ओर अग्रसर होती हुई तथा तृतीय पीढ़ी मध्यम कपाल के अन्तर्गत आती है। यह अध्ययन यह भी सिद्ध करता है कि सम्भवतः उस परिवार की अगली पीढ़ियाँ लम्बे कपाल की ओर बढ़ गई हों तथा यदि यह परिवार अमरीका की अपेक्षा अफ्रीका अथवा एशिया में जाता तो यह विकास सम्भवतः भिन्न प्रकार का होता। अतः प्रजातिवाद के सिद्धान्त के आधार पर किसी एक नस्ल को अधिक मात्रा में उस स्थान विशेष में प्राप्त कर उसका मूल उद्गम भी उसी स्थान को मान लेना उचित नहीं, क्योंकि इंगलैण्ड में रहने वाले कितने ही भारतीय परिवार अब

---

1 Man in the Primitive World, p. 119.
2 General Anthropology, p. 115.

शारीरिक गठन में, विशेषकर स्त्रियाँ अपने मूल परिवार से भिन्न दिखाई देती हैं, पर योरपियनों के समीपस्थ। इस प्रकार एक समय ऐसा आ सकता है जब कि वे योरप के लोगों के अधिक समीप और भारत के लोगों से आकृति की दृष्टि से बहुत दूर पड़ जाएँ। ऐसी स्थिति में कोई नृ-विज्ञान वेत्ता प्रजाति के सिद्धान्त के आधार पर उस परिवार का मूल उद्गम योरप में कहीं खोजने का प्रयास करे तो यह प्रयास उतना ही हास्यास्पद होगा जितना किसी वनस्पति-शास्त्र वेत्ता का नीम वृक्ष का उद्गम वट वृक्ष में खोजने का प्रयत्न। उक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि इस सिद्धान्त में भौगोलिकता और अल्पाधिक आहार-विहार अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। समान जलवायु में रहने वाले निवासियों की नस्लें समान हो सकती हैं पर वे एक ही वंश के भी हों, यह नहीं हो सकता। अतः केवल इसे आधार मानकर भारत के उत्तरी एवं दक्षिणी भाग के लोगों को आर्य एवं द्रविड़ दो प्रजातियों में बाँट देना प्रजाति-वाद के सिद्धान्त के खोखलेपन का परिचय देना है। सम्भवतः इसी विचार से चिढ़कर स्वामी विवेकानन्द जी ने कहा है—"अब एक सिद्धान्त निकला है कि मनुष्यों की एक खास प्रजाति थी जिसका नाम द्रविड़ था, जो दक्षिण भारत में रहती थी और उत्तर भारत में रहने वाली आर्य जाति से सर्वथा भिन्न थी। यह भी कहा जाता है कि दक्षिण भारत में रहने वाले ब्राह्मण हैं, वे केवल वे ही थोड़े से आर्य हैं जो उत्तर भारत से दक्षिण को गए। दक्षिण भारत के बाकी लोगों की जाति और प्रजाति ब्राह्मणों की जाति और प्रजाति से सर्वथा भिन्न है। श्रीमान भाषा-शास्त्रीजी, आप क्षमा करेंगे; ये सारी बातें निराधार हैं।"[३]

इस प्रजातिवाद की भावना ने मानव समाज में घृणा का जो बीजारोपन किया है, वह अवश्य ही अत्यन्त चिन्तनीय है। इस सिद्धान्त को आधार मान कर कितने ही विद्वान् इन गौरांग महाप्रभुओं को सभ्यता का अग्रदूत मानने लगे। "शुद्धि वैभव के एक मात्र अधिकारी गौरांग ही हैं, कृष्णांग नहीं, इस विचार के प्रचार में प्रजातिवाद के सिद्धान्त-मानने वाले यह भूल जाते हैं कि भारत के ही नहीं, विश्व के एक मात्र आराध्य, कर्मयोग सिद्धान्त के आविष्कर्ता भगवान् श्रीकृष्ण कृष्णांग थे। कूटनीति के अप्रतिम पंडित आचार्य चाणक्य भी कृष्णांग थे, ऐसी किंवदन्तियां हैं। हिन्दुओं के प्रधान आराध्य देवाधिदेव विष्णु के लिए भी नील वर्ण की कल्पना की गई है। अतः हम कह सकते हैं कि प्रजाति का यह सिद्धान्त किञ्चित् सत्य पर भी चाहे आधारित हो

---

[३] दी फ्यूचर ऑफ़ इण्डिया—स्वामी विवेकानन्द—"आजकल" में श्री रामधारीसिंह दिनकर द्वारा उद्धृत।

पर यह उद्जन एवं कोबाल्ट बमों की भाँति विध्वंसक होने के कारण सर्वथा गर्हित एवं परित्याज्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आर्यों की कोई एक निश्चित नस्ल कल्पित कर उसी के उपयुक्त जलवायु वाले प्रदेश की खोज कर उसे आर्यों के आदि स्थान का श्रेय देना सर्वथा अबौद्धिक एवं कुतर्क है। आज समस्त योरप जहाँ तक अपने को आर्य जाति से सम्बद्ध मानता है वहाँ तक हमें कोई आपत्ति नहीं, पर जहाँ वह अपनी आकृति-विशेष को मस्तिष्क में रखकर उसके आधार पर एक प्रजाति का लक्षण निश्चित कर उसका आदि-स्थान वहीं कहीं योरप में खोजने का जो प्रयास कर रहा है, वह व्यर्थ है। क्या यह सम्भव नहीं कि योरप आदि शीत प्रदेशों में जो भिन्न-भिन्न नस्लें आईं, वे देश व काल के क्रम में परिष्कृत होती हुई प्रायः पर्याप्त अंशों में समान होती गईं और जो एक निश्चित नस्ल विशेष के व्यक्तियों का आधिक्य योरप में पाया जाता है, वह भी अनेक भिन्न नस्लों का रासायनिक मिश्रण हो, जो अब आर्यों की एक नस्ल का लक्षण बनकर प्रफुल्लित हो रहा हो, अथवा इसे यों भी कहा जा सकता है कि हजारों वर्ष पहले जो आर्य परिवार भारतवर्ष से जाकर योरप में बस गया था, वह जलवायु की भिन्नता एवं अन्य समुदाय के मेल से अपने मूल परिवार से भिन्न पड़ गया और अब अवसर पाकर तथा राष्ट्रीय भावना से प्रभावित होकर भारत के स्थान पर योरप को ही अपना आदि स्थान कहने में गौरव का अनुभव करने लगा हो। भारत के लिए इसके अतिरिक्त अन्य पुष्ट प्रमाणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आर्यों का आदि स्थान भारत ही है। पुरातत्त्व शास्त्र के प्रकाण्ड पंडित डॉ. बी० के० घोष ने 'वैदिक एज' के तृतीय भाग में एक स्थान पर लिखा है :

"In spite of all the evidence to the contrary India was the original home of the Aryans, for there is no definite proof of the existence of an Aryan race or language outside India, previous to the age of the Mohan-jo-daro culture." (The Vedic Age : Vol. I. p. 202)

यद्यपि डॉ. घोष, जब तक मोहन-जो-दड़ो के समस्त रहस्यों का उद्घाटन नहीं हो जाता, तब तक पाश्चात्य मनीषियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर इसी निश्चय पर पहुँचते हैं कि आर्य भारत में बाहर से आये, पर आपके द्वारा लिखित इस अध्याय के अध्ययन से अन्त में जो प्रभाव मस्तिष्क में तैरता-सा शेष रह जाता है, वह यह है कि घोष जी इसे पूरे दिल से सहमति प्रदान नहीं करते, जैसा कि अगले अनुच्छेद से स्पष्ट होता है :

"But why consider the Mohan-jo-daro civilization to be

the oldest traceable civilization of India ? What is there to prove that the Aryan culture of Rig-vedic India was not older than the culture represented by the ruins of Mohan jo-daro ?" (*Ibid.*)

श्री रामधारीसिंह दिनकर ने इस विचारधारा को अधिक स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त किया है :

"यह बात किसी भी प्रकार बुद्धि में नहीं आती है कि द्रविड़ एक समय सारे उत्तर भारत में फैले हुए थे और आर्यों ने उन्हें इस प्रकार खदेड़ कर दक्षिण पहुँचा दिया कि उत्तर में उनका कोई भी चिह्न बाकी नहीं रहा। उन दिनों लड़ाइयों में जोश-खरोश या प्रतिशोध की भावना बहुत अधिक नहीं रहती होगी। यह वह समय था जब लोग बसने की जगह भर चाहते थे, बैठने की जगह भर मिल जाने पर धक्का-मुक्की तो चलती होगी, पर शत्रुता भयानक रूप धारण नहीं करती होगी और यदि यह मानें कि आर्यों ने प्रतिशोध-पूर्वक द्रविड़ों को खदेड़ कर विन्ध्य के पार पहुँचा दिया होगा तो आरम्भिक आर्य साहित्य में दक्षिण का उल्लेख क्यों नहीं मिलता ? वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ केवल सप्तसिन्धु का नाम लेकर रह जाते हैं। उसके बाद के साहित्य से ब्रह्मावर्त का भूगोल समझा जा सकता है। मध्य देश का भूगोल कुछ और बाद को उभरता है। स्वयं पाणिनि (सातवीं सदी ई० पू०) को दक्षिण का पता था या नहीं, यह सन्देह का विषय है।"

उपर्युक्त उद्धरणों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि आर्य लोग प्रारम्भ से ही पुण्य-सलिला पावन भारत-भू पर ही निवास करते थे। द्रविड़ शब्द देशज है जो तमिल का उद्बोधक है। तमिल संस्कृति के संस्थापक मुनिवर अगस्त्य थे, यह सर्व विदित है। अगस्त्य मुनि का समुद्र के साथ संघर्ष तथा आर्य जाति के अन्य ऋषियों के साथ मतभेद केवल लोक प्रचलित कथन ही नहीं, अपितु शास्त्र-सम्मत तथ्य है। अतः भाषा विभेद को लेकर द्रविड़ों और आर्यों को जो इसी भारत भूमि पर निवसित एक ही परिवार के सदस्य हैं, दो भिन्न-भिन्न प्रजातियों में विभाजित कर देना पूर्णतः अशोभनीय है। यदि मोहन-जो-दड़ो की सभ्यता की स्थापना द्रविड़ों द्वारा हुई, जो आजकल एक पुष्ट मान्यता है, तो यह भी निश्चित है कि उक्त सभ्यता का सांगोपांग अध्ययन यह भी निर्णय कर देगा कि इसमें आर्य संस्कृति का योगदान भी नगण्य नहीं है। श्री रामधारीसिंह दिनकर ने एक ऐसे वर्ग का ज़िक्र किया है जो आर्यों को ही मोहन-जो-दड़ो सभ्यता का निर्माता मानता है। मैं इसे इस प्रकार स्पष्ट करना चाहता हूँ कि द्रविड़ आर्यों की वैसी ही एक प्राचीन शाखा है जिस प्रकार आधुनिक समय में हिन्दुओं के कबीर पन्थ, सिक्ख सम्प्रदाय, जैन तथा बौद्ध धर्म आदि। अतः प्रजाति के सिद्धान्त के आधार को मानकर किसी निश्चय

पर नही पहुँचा जा सकता । मेक्समूलर ने इसकी पुष्टि बड़े सशक्त शब्दों मे की है :

"Aryan, in scientific language is utterly inapplicable to race, it means language nothing but language."

अन्त मे इस सिद्धान्त के लिए हम कह सकते हैं कि प्रजाति का यह सिद्धान्त खोखला है । एक जैसी आकृति और गठन के दो व्यक्तियो को एक वंश के सूत्र मे नही बांधा जा सकता और न ही भिन्न-भिन्न जलवायु के निवासियों को अनेक भागो में बांटा जा सकता है । डॉ. एस. के. चटर्जी ने ठीक ही कहा है :

"This view, adopted in official publications and accepted very largely both in India and outside India without any questioning, divided the people of India, quite arbitrarily, with both insufficient data and immature science (not wholly free, it might also be suspected from political bias), into seven broad groups."

(The Vedic Age : Vol. I, p. 141).

द्वितीय सिद्धान्त भाषा का सिद्धान्त है । सर विलियम जोन्स ने विद्वानो का ध्यान इस ओर आकर्षित किया कि संस्कृत भाषा तथा ग्रीक, लैटिन, जर्मन आदि योरप की भाषाओं का मूल उद्गम किसी एक स्रोत से ही हुआ है । इस आधार को लेकर विद्वानों ने विश्व के मानव समुदाय का पारिवारिक विभाजन भाषा के आधार पर करना आरम्भ किया । इस प्रकार भारत, ईराक, ईरान तथा योरप में बोली जाने वाली भाषाओं को इण्डो-आर्यन वर्ग के अन्तर्गत रखा गया और इन भाषाओ के बोलने वालो को आर्य या आर्यों का वंशज कहा जाने लगा । किन्तु इस पर इस सिद्धान्त की सृष्टि कर लेना कि इस भाषा परिवार को बोलने वाला जन-समुदाय आर्य है और एक ही वंश से सम्बद्ध है, मान्य नही हो सकता । यद्यपि आज उर्दू भाषा मूल रूप में हिन्दी की आकृति और प्रकृति से पूर्णतया भिन्न नही है और वाक्यों की बनावट, संज्ञा, क्रिया आदि के प्रयोग प्रायः हिन्दी के अनुसार है तथापि किन्तु इस भाषा मे अरबी और फ़ारसी के शब्दों को बहुतायत से सम्मिलित कर एक जाति विशेष ने इसे अपने भावों एवं विचारों की अभिव्यक्ति का साधन बना लिया है । क्योंकि यह भाषा विजेताओं के द्वारा अपनाई गई थी, अतः विजित भी इस प्रकार का प्रयोग करने लगे । कहने का तात्पर्य यह है कि अब भारत एवं पाकिस्तान के समस्त मुसलमान (इनमे तुर्कों, अफगानों, अरबो एव मुगलो की सन्तानें सम्मिलित है) तथा उत्तर प्रदेश, दिल्ली और राजस्थान के वे हिन्दू परिवार जिनके पूर्वज राजघरानों या मुसलमानो के सम्पर्क में आये, प्रायः उर्दू भाषा का प्रयोग करते है । किन्तु उपरिकथित ये भाषा-प्रयोक्ता परिवार एक भाषा का तो प्रयोग करते है, परन्तु एक परिवार या वंश से

आवद्ध नहीं हैं। इसी प्रकार संस्कृत, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में साम्य है, अतः इनका उद्गम एक मूल भाषा से हुआ होगा, यहां तक तो कोई आपत्ति नहीं, किन्तु इसके साथ जो दूसरा प्रश्न उपस्थित किया जाता है कि मूल भाषा के वोलने वाले जन भिन्न-भिन्न प्रदेशों में फैल गये और अपनी भाषा भी साथ ले गये। काल-क्रमानुसार चाहे इनकी भाषाओं में भिन्नता आ गई हो, परन्तु इन भाषाओं अथवा इनकी तद्भव भाषाओं के वोलने वाले एक ही परिवार या वंश के रहे होंगे, नहीं माना जा सकता। स्पष्ट है कि जब कभी भी कोई विजेता अथवा व्यापारी-वर्ग (जैसे अंग्रेज व्यापारियों का भारत आगमन) जहां कहीं जाता है, वहां अपनी भाषा भी ले जाता है। उसका वहां के निवासियों पर प्रभाव पड़ता है। स्थिति यहां तक पहुंच जाती है कि वहां के समस्त निवासी (यदि अल्प हों, जैसा कि आदि में था भी) उसी भाषा का प्रयोग करने लग जाते हैं। तत्पश्चात् उनकी आने वाली सन्ततियां उसे ही अपनी मातृभाषा मानकर अपना लेती हैं। इस प्रकार वह भाषा उनके जीवन में इतनी घुल-मिल जाती है कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में एक प्रदेश विशेष के निवासियों की भाषा के आधार पर विजेता के वंश का कहना उपहासास्पद ही होगा। अंग्रेज़ी शासन काल के इस प्रकार कितने ही उदाहरण भारत, अफ़्रीका, अमरीका तथा अन्य एशियाई देशों से प्रस्तुत किए जा सकते हैं। भारत की आदिम नागा आदि जातियाँ केरल एवं दक्षिण की अन्य ऐसी जातियाँ हैं जो जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में आंग्ल भाषा का उसी प्रकार प्रयोग करती हैं जिस प्रकार इंग्लैण्ड आदि देशों के निवासी। परन्तु भाषा का इस प्रकार प्रयोग करने पर भी ये जातियाँ अंग्रेज़ी जाति की वंशज नहीं कही जा सकतीं। अतः भाषा को ध्यान में रखते हुए भी इस विषय पर गम्भीरता से विचार करना पड़ेगा कि योरप की इतनी बड़ी जन-संख्या आर्य परिवार की भाषा का प्रयोग करते हुए भी आर्य-जाति की वंशज हैं अथवा नहीं। क्या यह सम्भव नहीं कि भाषा का यह प्रयोग उसी प्रकार प्रारम्भ हुआ, जिस प्रकार भारत की आदिम जातियों में अंग्रेज़ी का और चीन, जापान, लंका, कोरिया आदि में बौद्ध धर्म का तथा योरप के एक बहुत बड़े भू-भाग पर, मध्य एशिया, एशिया माइनर तथा भारत में इस्लाम धर्म का प्रचार। एक धर्म, एक भाषा, होने पर भी क्रमशः ईराक, ईरान के निवासी अरब वालों के वंशज नहीं हो सकते और भारत की आदिम जातियाँ अंग्रेज़ों की नहीं। अतः भाषा को आधार मानकर तथा यह तर्क देकर कि आर्य परिवार की भाषाओं का प्रयोग करने वाली एक बहुत बड़ी जन-संख्या, क्योंकि योरप में रहती है, अतः आर्यों का मूल स्थान भी यहीं कहीं योरप में रहा होगा, कहना ऐसा ही हास्यास्पद होगा जैसा किसी अपरिपक्व बुद्धि वाले विद्वान् का यह कहना है कि क्योंकि

विश्व में बौद्ध धर्म के मानने वाले सबसे बड़ी संख्या में चीन में पाये जाते है, अतः बौद्ध धर्म का प्रणेता भी यही कही चीन में ही उत्पन्न हुआ होगा ।

जब से तुलनात्मक भाषा-विज्ञान का प्रारम्भ हुआ है, उक्त मत बहुत अधिक मात्रा में शक्ति ग्रहण करता जा रहा है । यद्यपि प्रारम्भ मे जब योरप के विद्वानों का सम्पर्क संस्कृत भाषा से हुआ था तब सभी ने एक स्वर से यह स्वीकार किया था कि आर्य परिवार की सबसे प्राचीन भाषा, जिसमें मूल योरपीय परिवार की ध्वनियां सुरक्षित हैं तथा जो मूल भाषा के सबसे अधिक निकट है, संस्कृत है, परन्तु जब धीरे-धीरे योरप के विद्वानो ने विशेषकर जर्मन और फ्रेंच विद्वानों ने अपनी भाषाओं का—ग्रीक लैटिन, गाथिक, जर्मन तथा फ्रेंच—तुलनात्मक अध्ययन प्रारम्भ किया तो उन्हे कुछ ऐसे मूलभूत परिवर्तन के नियम दिखाई पड़े, जिनके आधार पर ग्रीक, लैटिन, ट्युटेनिक आदि भाषाओं से उच्च जर्मन, इटालियन तथा अंग्रेज़ी आदि भाषाओं ने विकास प्राप्त किया । इन्ही नियमों के आधार पर उन विद्वानो ने संस्कृत पर भी एक विहंगम दृष्टि डाल ली तथा उक्त नियमों को पुष्ट करने वाले कतिपय शब्दों का चयन भी उसमें कर लिया और एक ऐसी भाषा की कल्पना की जिसमे वैदिक संस्कृत, अवेस्ता, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं का उद्गम हुआ होगा, ऐसा माना जाने लगा । किन्तु इसमें सबसे बड़ी त्रुटि जो मैं समझता हूं वह यह रह गई कि उपरिकथित विद्वानों का जितना सशक्त अधिकार योरप की मुख्य-मुख्य भाषाओं पर था उतना भारत की सभी भाषाओ पर तो क्या, स्वयं वैदिक संस्कृत पर भी नही रहा होगा । दूसरे वैदिक संस्कृत की ध्वनियों के सही उच्चारण के लिए ग्रंथ उपलब्ध होते हुए भी संस्कृत के उन प्रकाण्ड विद्वानों का सहयोग परम आवश्यक था जो गौ-मांसभक्षी अंग्रेज़ो को हेय दृष्टि से देखते थे तथा अंग्रेज जिन्हें पोंगा-पंथी "बैकवार्ड फुलिश" कहकर जिनका उपहास करते थे । ऐसी स्थिति में योरप के विद्वानो ने वैदिक संस्कृत का अध्ययन या तो उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर किया था या ऐसे गुरुजनों की सेवा में समर्पण किया जो स्वयं संस्कृत के मध्यम श्रेणी के विद्वान् थे और उच्च श्रेणी के विद्वानों के बीच बैठने के उपयुक्त न होने के कारण उनके प्रति प्रतिकार की भावना से भरकर अंग्रेजों को संस्कृत पढाने लगे । सर विलियम जोन्स के जीवन की घटना ही इसका उदाहरण है । बिना योग्य गुरु के उपलब्ध ग्रंथों के आधार पर किया गया अध्ययन वैसा ही पल्लवग्राही ज्ञान है जैसा आजकल के प्राइवेट रूप से परीक्षा में सम्मिलित होने वाले विद्यार्थियो का । दूसरी ओर भारतीय भाषा वैज्ञानिकों का अध्ययन, मुख्य रूप से, अंग्रेजी भाषा तक ही सीमित है और उनके द्वारा लिखी गई अधिकतर पुस्तके अंग्रेजी भाषा मे लिखी गई पुस्तकों का अनुवाद अथवा रूपान्तर मात्र है । इन दिनों

हिन्दी में लिखित पुस्तकों तथा कतिपय आंग्ल भाषा में लिखी गई इस विषय की पुस्तकों को पढ़ने का अवसर मिला, तब कुछ ऐसा प्रतीत हुआ कि हिन्दी ग्रंथों में प्राय: उन्हीं उदाहरणों से काम चला लिया गया है जिनका प्रयोग प्राय: अंग्रेजी ग्रंथों में पाया जाता है। स्वयं यह अनुसन्धान करने का प्रयत्न नहीं किया गया है कि क्या इस प्रकार के अन्य उदाहरण भी भारतीय भाषाओं में उपलब्ध हैं और यदि उपलब्ध हैं तो कितनी मात्रा में? क्या इन नियमों के अपवाद हैं? यदि हैं तो उनकी मात्रा कितनी है? तीसरे, जिस प्रकार विकास को दृष्टि में रखकर योरपीय परिवार की मूल भाषा की कल्पना की गई है, क्या वह वैदिक संस्कृत या लौकिक संस्कृत के अनुरूप है? भारत में भाषाओं के विकास में मुख्य रूप से कौन-कौन से नियम सक्रिय रहे हैं—आदि समस्त तत्वों को दृष्टि में रखकर ही हमें ग्रिम-नियम, ग्रासमान, वर्नर तथा तालव्य-भाव के नियम को स्वीकृति प्रदान करनी चाहिए, अन्यथा नहीं। भारतीय विद्वानों ने सम्भवत: ऐसा कष्ट नहीं उठाया। यदि उठाया होता तो निश्चय ही इन नियमों की विवेचना किसी ग्रंथ में उपलब्ध होती, जो कि नहीं मिल सकी।

मैं भाषा विज्ञान के इस अन्तिम नियम पर कुछ अपने विचार प्रकट कर मूल विषय पर आने का प्रयत्न करूँगा। आजकल योरपीय परिवार के लिए सबसे प्रभावशाली नियम 'तालव्य भाव का नियम' माना जाता है, जिसके अनुसार—भारत योरपीय मूलभाषा के कण्ठ स्थानीय स्पर्श (मूल कण्ठ स्थानीय तथा साधारण) जिनके आगे कोई तालव्य स्वर (इ, ई आदि) आने पर, भारत-ईरानी भाषा वर्ग में तालव्य व्यञ्जन के रूप में परिवर्तित हो गये और जहाँ ऐसा नहीं था वहाँ साधारण कण्ठ स्थानीय स्पर्श ही रहे।

उक्त नियम की विवेचना में यह कहा गया है कि ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं के साथ उन स्थलों की तुलना करने से प्रतीत हुआ कि जहाँ-जहाँ उक्त स्थलों में संस्कृत में तालव्य व्यञ्जन पाया जाता है वहाँ-वहाँ ग्रीक और लैटिन भाषाओं में 'इ, ई' आदि कोई तालव्य स्वर (मूल या साधारण) कण्ठ्य स्पर्श के आगे पाया जाता है। इससे यही समझा गया कि भारत योरपीय मूलभाषा के तालव्य स्वर से पूर्व में आने वाले कण्ठ स्थानीय स्पर्श के स्थान में तालव्य व्यञ्जन हो जाता है। परन्तु संस्कृत शब्दों में ऐसे स्थलों में तालव्य व्यञ्जन के आगे जहाँ तालव्य स्वर 'इ, ई' होना चाहिए, वहाँ 'अ' ही देखा जाता है। इससे यह अनुमान किया गया कि संस्कृत में उन शब्दों में कण्ठ्य स्पर्श के स्थान में तालव्य व्यञ्जन के पाये जाने का कारण केवल मौलिक शब्दों में उस स्पर्श के आगे आने वाला तालव्य-स्वर ही हो सकता है। साथ ही इसका यह अर्थ होता है कि हमको मानना चाहिए कि मौलिक भाषा के मूल स्वरों को

जहाँ ग्रीक और लैटिन ने अपने-अपने रूप में सुरक्षित रखा, वहाँ संस्कृत में उन सब को केवल 'अ' के ही रूप में रखा है।

यदि कोई भारतीय विद्वान् इस नियम की स्थापना करता तो शायद इस प्रकार करता कि वैदिक संस्कृत में जहाँ तालव्य व्यन्जन के साथ 'अ' पाया जाता है, वहाँ उसका विकास ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में दो रूपों में विकसित हुआ। कहीं यह उच्चारण मध्य में होने के कारण आगे फिसल कर दन्त्य हो गया और पीछे फिसल कर यह कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श। इस प्रकार 'अ', 'ए' (इ, ई, E) के रूप मे विकसित हो गया। भारतीय परिवार की भाषाओं के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अनेक स्थानों पर 'अ' संस्कृत ध्वनि, 'ए, ओ, तथा अ' में विकसित हुई मिलती है। इस प्रकार मूल योरपीय भाषा की कल्पना में जो च वर्ग का अभाव है, वह कल्पनाकर्ताओं के मस्तिष्क में योरपीय भाषाओं की ध्वनियाँ ही कार्य कर रही थीं। अतः इस सिद्धान्त का नाम भी "तालव्य भाव का नियम" रखा जा सकता है। किन्तु इसकी व्याख्या के अनुसार मूल योरपीय भाषा में "च वर्ग" की कल्पना करनी पड़ेगी तथा 'अ, ए, ओ' को मूल स्वर मानने के स्थान पर केवल 'अ' ध्वनि को ही मूल ध्वनि मानना पड़ेगा। शेष ध्वनियाँ, 'अ' ध्वनि की ही विकसित रूप होंगी।

उपर्युक्त नियमों को उदाहरणों से इस प्रकार सिद्ध किया जा सकता है—

संस्कृत	ग्रीक	लैटिन	संस्कृत	पालि	हिन्दी
च	Te	que	वाच्	वाक्	वाक्
पञ्च	Pente	quinque	रुज्	रोग	रोग
चिद्	Ti	quid	वणिज्	वणिक्	बनिया

यदि मूल 'तालव्य भाव' के नियम की हम यहाँ पर आलोचना करें तो ज्ञात होगा कि ये मूल योरपीय भाषा के कण्ठ्य स्थानीय स्पर्श संस्कृत में तो तालव्य स्थानीय हो जाते है, क्योंकि E तालव्य स्वर का प्रभाव है, पर ग्रीक में यह दन्त्य क्यों हो जाते है, इसका कोई उत्तर नहीं; जब कि हमारा सिद्धान्त यह स्पष्ट करता है कि जिह्वा का फिसलन ही ध्वनि-उच्चारण का परिवर्तन है। तालव्य ध्वनियाँ कण्ठ्य ध्वनियों और दन्त्य ध्वनियों के मध्य में पड़ती है। अतः कुछ भाषाओं मे ये पीछे को खिसक गई है और कुछ में आगे की ओर। यह क्रम ग्रीक में आगे की ओर है तथा लैटिन में पीछे की ओर।

अब थोड़ा स्वरों पर और विचार कर लेना चाहिए। मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि वैदिक संस्कृत की "अ" ध्वनि योरपीय भाषा परिवार में

तथा इनकी तद्भव भाषाओं में 'अ, ए, ओ' के रूप में मिलती है। अतः "अ" ध्वनि ही मूल ध्वनि है।

संस्कृत	**ग्रीक**	**लैटिन**	**अवेस्ता**	**पालि**	**मागधी**
अजामि	अगो	अगो	अजामि	—	—
अस्ति	एस्ति	एस्त्	अस्ति/अस्त	अत्थि	अत्ति
धर्मः	—	—	—	धम्मो	धम्मे
दमः	डोमोस	डोमुस	—	—	—
फल्गु	—	—	—	फेग्गु	—
अत्र	—	—	—	एत्थ	—
जनः	गेनोस	गेनस	—	—	जने
प्रियः	—	—	—	—	पिये

अन्त में यह कहा जा सकता है कि योरप के भाषा वैज्ञानिकों ने अनेक स्थानों पर जिन्हें मूल स्वर और मूल व्यञ्जन मानकर मूल योरपीय भाषा की कल्पना की है, वे ही रूप हमें पालि और प्राकृत में संस्कृत की मूल ध्वनियों के विकसित रूप में प्राप्त होते हैं। जैसे अइ, आई, अऊ, आऊ आदि। इसी प्रकार संस्कृत की 'य' ध्वनि के स्थान पर समस्त योरपीय परिवार में 'ज या ज़' पाया जाता है। अतः मूल ध्वनि 'ज' न होकर 'य' ही माननी पड़ेगी। यथा—

संस्कृत	**ग्रीक**	**अवेस्ता**	**हिन्दी**
द्यौस्	ज्यूस	—	—
द्यौमित्र	जूपीटर	—	—
यज्ञ	—	यजन्	जग्य
यम	—	जम	जम

इस सम्पूर्ण आकलन से मेरा तात्पर्य यह है कि भाषा विज्ञान की दृष्टि से योरपीय परिवार की भाषाओं में वै० संस्कृत यदि सब की जननी नहीं तो ज्येष्ठा अवश्य है और यदि मूल भाषा की कल्पना की ही जाये तो संस्कृत अन्य भाषाओं की अपेक्षा उसके समीपस्थ होगी। अतः इस दृष्टिकोण से आर्यों का मूल स्थान भारत ही सम्भव है, योरप नहीं। इसके लिए एक यह तर्क भी प्रस्तुत किया जा सकता है कि पूर्व काल में विशेषकर 'ऋग्वैदिक आर्य' भाषा की शुद्धता पर सबसे अधिक बल देते थे। भाषा की शुद्धता के प्रति इस प्रकार के मोह के उदाहरण योरपीय परिवार की अन्य भाषाओं में उपलब्ध प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलते, जैसे कि वैदिक संस्कृत में। वेदों के पद पाठ, स्वर पाठ तथा जटा पाठ, इत्यादि इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। साथ ही

'पथ' ब्राह्मण में भाषा के अशुद्ध उच्चारण करने वालों को असुर कहा गया है और उनके भाग जाने का उल्लेख भी मिलता है। यथा—

ते असुरा आत्तवचसो, हे अलवो ! हे अलव ! इति वदन्तः पराबभूवुः तस्मान्न ब्राह्मण म्लेच्छेत्। असुर्या हि एषा वाक्। (वे असुर, हे अलव ! हे अलव ! ऐसा कहते हुए हार गए। इसलिए ब्राह्मण म्लेच्छता न करे (अशुद्ध उच्चारण न करे) ऐसी वाणी आसुरी होती है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि भारत के वे आर्य परिवार जो भाषा के शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ थे, वे भारत छोड़कर ईरान की ओर चले गए और वहाँ पर उन्होंने विरोधी धर्म, असुर-धर्म की स्थापना की। जरथुष्ट्र उसका धार्मिक नेता और वृत्रासुर उस धर्म के पालक नेता बने। इन्द्र और वृत्रासुर के युद्धों के आख्यानों से ऋग्वेद भरा पड़ा है। ईरान से भारत में आर्यों का आगमन (जैसा कि कुछ विद्वान् मानते हैं) इसलिए युक्तिसंगत नही लगता कि वह युग भाषा की शुद्धता पर पूर्ण ध्यान देने वाला युग था तथा वे ही व्यक्ति सत्ताधारी हो सकते थे जो भाषा और धर्म की दृष्टि से अत्यन्त शुद्ध होते थे। इससे यह निष्कर्ष निकला, क्योंकि शक्तिशाली व्यक्ति अपने स्थान को कभी भी छोड़कर नही भागता, बल्कि दुर्बल और शक्तिहीन ही ऐसा करते हैं। इसलिए आर्यों का वह वर्ग जो भाषा के अशुद्ध उच्चारण के कारण बहुसंख्यक जनता का सहयोग न पाकर निर्बलता अनुभव कर रहा था, भारत छोड़कर ईरान की ओर चला गया अथवा उसे सत्ताधारी वर्ग ने ईरान की ओर खदेड़ दिया, दूसरे, आर्यो ने जिन शब्दो को अशुद्ध शब्दों के उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किया है वे ही शब्द या तो यों के यों या कुछ परिवर्तन के साथ अवेस्तन भाषा तथा ग्रीक, लैटिन आदि में उपलब्ध होते हैं। अतः यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि आर्यों का जो वर्ग भाषा की सुरक्षा न कर सका, भारत छोड़ अन्य स्थानो की ओर फैलता चला गया। इतना होने पर भी जब आर्य-ऋषि भाषा के इस स्वाभाविक विकास को न रोक सके तो धीरे-धीरे इनकी कट्टरता भी कम होती चली गई और भगवान् बुद्ध ने तो अपने धर्म का उपदेश भी पालि (अशुद्ध भाषा, आर्यो के शब्दो मे) भाषा में देकर इस कट्टरता की जड़े हिला दी। अतः भाषा के दृष्टिकोण से भी यही सिद्ध होता है कि भारत और योरप के मूल जन चाहे साथ-साथ न रहे हों पर भारत और ईरान के आर्यों में प्रेम और संघर्ष दोनो रहे हैं तथा मूल रूप में ये एक वंश से ही सम्बद्ध थे। परन्तु भाषा की शुद्धता और अशुद्धता के क्रमशः दो प्रतीक सुर और असुर इस परिवार के संघर्ष के कारण बने। उक्त विवेचन से यह तो सिद्ध हो ही गया कि ईरान ईराक आदि स्थानों में बसे आर्य भारत से गए। साथ ही, ग्रीस का इतिहास पर्शिया और ग्रीस के जिन संघर्षो का लेखा-जोखा प्रस्तुत करता है, कालक्रम के अनुसार वैदिक

युग के बाद के पड़ते हैं। अतः निश्चित है, ग्रीस और रोम में फैले हुए आर्य भारत से नहीं, वलिक उसकी ईरानी शाखा से निकल कर फैले हैं, क्योंकि ग्रीस सभ्यता का भारतीय सभ्यता की अपेक्षा अवेस्तन सभ्यता से अधिक साम्य है।

तृतीय सिद्धान्त है प्राचीनतम उपलब्ध धर्म-ग्रन्थ और खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान सामग्री में निहित संकेत, जिनके आधार पर आर्यों के मूल निवास स्थान का अनुमान लगाया जा सकता है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अध्ययन के फल स्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि भारतीय आर्य, भारत में किसी अन्य स्थान से आए जो मध्य एशिया, एशिया माईनर या योरप में कोई भूखण्ड हो सकता है। उसके लिये मुख्य रूप से तीन मान्यताएँ स्थापित की गईं।

(१) ऋग्वेद में कुछ ऐसी नदियों और स्थलों के नाम आते हैं जिनका अस्तित्व वर्तमान भारत में नहीं है। हाँ ! कुछ नाम ईरान में अवश्य प्राप्त होते हैं। अतः आर्य ईरान से भारत आए। इसी प्रकार अवेस्ता में अहूरमज़्द ने आर्यों के निवास योग्य जिन-जिन प्रदेशों का वर्णन किया है उनमें सप्तसिन्धु का पन्द्रहवाँ स्थान है। अतः यह सिद्ध होता है कि भारत में आने से पूर्व आर्य अन्य चौदह प्रदेशों का भ्रमण कर चुके थे। अतः सप्तसिन्धु उनका मूल उद्‌गम स्थल नहीं हो सकता।

(२) ऋग्वेद दस्युराज शम्बर एवं उसके अनुयायियों तथा इन्द्र एवं उसके प्रशंसकों के पारस्परिक संघर्ष के वर्णनों से भरा पड़ा है। इससे सिद्ध होता है कि आर्यों के भारत प्रवेश करने से पूर्व यहाँ कोई अन्य जाति रहती थी, जिन्हें आर्यों ने दस्यु, दास एवं शूद्र के नाम से अभिहित किया। इस प्रकार भारत में शान्तिपूर्वक वसने के लिये आर्यों को इन आदि-वासियों के साथ कड़ा लोहा लेना पड़ा था। यह भी इनका कहीं वाहर से आना सिद्ध करता है।

(३) वेदों में विशेषकर ऋग्वेद में उषा के सौन्दर्य वर्णन तथा उषाकाल में करणीय कृत्यों के विस्तृत विधान से यह ज्ञात होता है कि आर्य लोग स्मृति रूप में उस प्रदेश की उषा का वर्णन करते है जहाँ की रात्रियाँ लम्बी होती है। क्योंकि सप्तसिन्धु की न तो रात्रियाँ ही लम्बी होती हैं और न ही दीर्घ उषा-काल ही। अतः स्पष्ट ही आर्य कहीं वाहर से आए और साथ ही उस प्रदेश की लम्बी रात्रियों की स्मृति भी लाए।

उपर्युक्त मान्यताओं का यदि गम्भीरतापूर्वक विवेचन किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये मान्यताएं केवल अनुमान प्रसूत हैं। यह तो स्वयं सिद्ध है कि अनुमान से प्रत्यक्ष अधिक सवल होता है। जव हमारे पास ऐसे कितने ही प्रत्यक्ष प्रमाण हैं जिनके आधार पर यह सिद्ध किया जा सकता है कि आर्यों का मूल निवास स्थान सप्तसिन्धु प्रदेश ही है, कोई अन्य स्थान नहीं; फिर हमें यह

अनुमान करने की क्या आवश्यकता है कि आर्यों का आदि देश क्या है? यह तो ऐसा ही हुआ कि कोई व्यक्ति अपने ही घर मे उपस्थित है और वहाँ पर भी यह अनुमान कोई विद्वान् लगाये कि यह अपने घर में उपस्थित है भी अथवा नही। यह केवल बुद्धि का विलास एवं दूर की कौड़ी लाने का प्रयास मात्र है।

अब हम उपरिकथित मान्यताओं में से प्रथम का अवलोकन करते है। यद्यपि ऋग्वेद में कुछ ऐसी नदियों एवं स्थानों का नामोल्लेख है जिनका अस्तित्व या तो भारत (वर्तमान) में था ही नहीं और यदि था भी तो वह विस्मृति के गर्त में लीन हो गया। यथा—कुभा, रसा आदि। परन्तु विद्वानों के अनुसन्धान-परक अध्ययन ने यह बताया है कि इन दोनों नदियों की स्थिति काबुल में देखी जा सकती है, जो पंजाब की ओर बहती है तथा यह भी सिद्ध हो गया है कि सप्तसिन्धु प्रदेश में उस समय वर्तमान पंजाब ही नही काबुल, पेशावर से लेकर हिमालय पर्वत की तलहटी में बसे प्रदेश तथा कश्मीर भी सम्मिलित थे। ऋग्वेद मे इस प्रकार का सकेत मिलता है। यथा—'रोमशा गान्धारीणामिवाविका' यहाँ पर गान्धार की भेड़ो की भाँति रोएँ वाली उपमा देना, ऋग्वैदिक आर्यो के गान्धार प्रदेश के ज्ञान का सूचक है। अतः कुछ विद्वानों का कुभा, रसा आदि नदियों की स्थिति ईरान में कही खोजना उचित नही। यदि इन नामों वाली नदियाँ वहाँ पर वर्तमान भी हैं तो इससे यह अर्थ नही निकलता कि ऋग्वैदिक आर्य यह नाम वहाँ से लेकर आए थे। बल्कि यों कहना चाहिये कि भारत से ईरान को जाने वाला आर्यों का असुर पूजक वर्ग अपने साथ यहाँ की भाषा ले गया और स्मृति रूप में वहाँ की नदियों का नामकरण संस्कार इसी भाषा में जाने पहचाने नामों के आधार पर कर लिया। यह मान्यता भारतीय आर्यो पर इसलिए भी लागू नहीं हो सकती कि 'ऋग्वेद', ईरान आदि प्रदेशों के सम्बन्ध मे सर्वथा मौन है, जब कि 'अवेस्ता' सप्तसिन्धु का स्पष्ट उल्लेख करता है। यथा—'जिस पन्द्रहवें देश को मैंने उत्पन्न किया है वह 'हप्तहिन्दु' था। (अवेस्ता वेन्दिदाद प्रथम फर्गर्द, अनुवाद—श्री सम्पूर्णानन्द कृत 'आर्यों का आदि देश', पृष्ठ ४६)।

जहाँ तक दूसरी मान्यता का सम्बन्ध है, उसका उत्तर यही है कि आर्यो एवं दस्युओं के संघर्ष का वर्णन तो वेदों में मिलता है, पर यह उल्लेख कहाँ पर मिलता है कि आर्यो ने कहीं बाहर से आकर भारत मे प्रवेश किया और यहाँ उन्हें इस देश के आदिवासियों से लोहा लेना पड़ा। एक बड़े भूभाग में दो आदिम जातियाँ भी बस सकती हैं। जब वे दोनों एक दूसरे के सम्पर्क में आएँगी तो उनमें प्रेम और संघर्ष दोनों ही सम्भव हैं। इन दोनों जातियों में प्रारम्भ में संघर्ष और बाद में कुछ प्रेम के लक्षण भी मिलते हैं। महर्षि

विश्वामित्र का शम्वर कन्या से परिणय ही इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है। महर्षि विश्वामित्र वैदिक ऋषियों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं तथा शाम्वरी और विश्वामित्र से उत्पन्न ऋषिवर 'शुनः-शेप' भी आदर के पात्र रहे हैं। अतः विना किसी पुष्ट प्रमाण के केवल अनुमान के आधार पर हम यह कहें कि आर्यों का दस्युओं के साथ संघर्ष का उल्लेख वेदों में मिलता है, अतः आर्य वाहर से आए, कोई तर्क संगत नहीं। इस विचार का अध्ययन इस प्रकार भी समीचीन होगा कि आदिकाल में आर्य सप्तसिन्धु में निवास करते थे और दस्युजन भी सिन्धु नदी के इधर-उधर घने जंगलों में निवास करते थे, जैसा कि श्री के० एम० मुन्शी के 'लोपामुद्रा' उपन्यास में ध्वनित होता है। अतः आर्यों का दस्युओं के साथ संघर्ष, विशेषकर शम्वरराज के साथ, नवागन्तुक जाति का जैसा संघर्ष नहीं लगता, वल्कि यह लगता है कि दोनों ही जातियाँ प्रायः अपने आपको भली प्रकार उस प्रदेश में वसाये हुई हैं। इन जातियों का संघर्ष भी प्रायः भूमि या राज्य-स्थापन के लिए नहीं, वल्कि धार्मिक विरोध के परिणाम-स्वरूप होता रहा है। इसकी पुष्टि में ऋग्वेद में पुष्कल प्रमाण उपलव्ध होते हैं। यथा—"अकर्मा दस्युरभि नो अमन्तुरन्यव्रतो अमानुषः। त्वं तस्या मित्र-हन्वधर्दासस्य दम्भय"।[4] कुछ स्थल तो ऐसे आते हैं जिनसे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि आर्यों के अतिरिक्त सप्तसिन्धु में वसने वाली जाति ही दस्यु नाम से अभिहित नहीं होती थी, वल्कि वे आर्य भी जो यज्ञादि कार्यों के प्रति उदासीन से थे, दस्यु कहलाते थे। यथा—'अयमेमि वचाकशद्वि-चिन्वन्दासमार्यम्' तथा 'न यो रर आर्यन्नामदस्यवे'। इसीलिए म्योर और राथ ने लिखा है—"दस्यु शव्द का प्रयोग स्यात् ही अनार्यों के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है"। इस विचार को शत प्रतिशत तो सत्य नहीं माना जा सकता है, किन्तु संशोधित रूप में यह कहा जा सकता है कि 'दस्यु-वर्ग' में आर्येतर जातियाँ ही नहीं आतीं, वल्कि वे आर्यजन भी आते हैं जो आर्य-धर्म के प्रति उदासीन थे।

तृतीय सिद्धान्त का तृतीय मत अपना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसकी स्थापना महात्मा तिलक ने की थी। आपके अनुसार आर्य उत्तरी ध्रुव के पास निवास करते थे, जहाँ छः महीने की रातें होती थीं। क्योंकि उषा का वर्णन तथा उषाकालीन करणीय कृत्यों का वर्णन यह सिद्ध करता है कि भारत के अल्प सामयिक उषाकाल में उन समस्त कृत्यों की यथाविधि सम्पन्नता नितान्त मुश्किल है। अतः निश्चय ही 'आर्य' प्रारम्भ में किसी ऐसे स्थान पर रहते थे जहाँ का उषाकाल दीर्घ सामयिक हो। वह स्थान उत्तरी

---

4 ऋग्वेद, १०/२२,८।

ध्रुव के अतिरिक्त कोई अन्य स्थान नहीं हो सकता। इस मान्यता के विरोध में श्री अविनाशचन्द्र दास तथा डॉ. संपूर्णानन्द ने बहुत कुछ लिखा है। उन सबकी पुनरावृत्ति यहाँ पर अपेक्षित नही है। मेरा इस मत के विरुद्ध केवल मात्र यह तर्क है कि आर्य लोग जब छः महीने की रात्रि वाले प्रदेश को छोड़कर १२ घंटे की रात्रि वाले प्रदेश में आये होंगे तब निश्चित ही उनके शरीर और मन पर नवीन जलवायु एवं लघु रात्रि-दिवसों का दुष्प्रभाव पड़ा होगा और उन्हें अत्यधिक आश्चर्य हुआ होगा कि सूर्य इतना शीघ्र किस प्रकार उदित हो रहा है। किन्तु आर्यो के किसी भी प्रकार के दुःख एवं आश्चर्य की स्पष्ट एवं अस्पष्ट अभिव्यंजना ऋग्वेद में तथा तत्सामयिक किसी अन्य उपलब्ध ग्रन्थ में प्राप्त नही होती। यदि आज हम १२ घंटे की रात्रि वाले प्रदेश के निवासी आर्यो की अनुमानित रात्रि की तुलना में ४ मिनट की रात्रि वाले प्रदेश मे पहुँच जाएँ (यदि कही है तो) तो हमारी अर्वाधिक जनसंख्या पूर्णनिद्रा प्राप्ति के अभाव में—जिसके हम आदी हो चुके है—मर जायेगी। शेष जनसंख्या की शिथिल एवं रुग्णप्राय हो जाने की सम्भावना की जा सकती है। यद्यपि यह निश्चित है कि लम्बी रात्रि वाले प्रदेश के निवासी भी अति दीर्घ समय तक शयन नही करते होंगे। यह भी सम्भव है कि रात्रि में भी उनके कार्य यथा व्यवस्था चलते हों, परन्तु यह तो एक अकाट्य तथ्य है कि उनकी जीवनचर्या २४ घंटे की रात्रि और दिवस वाले प्रदेश की अपेक्षा सर्वथा भिन्न रही होगी। फिर भी आर्यो के तत्कालीन साहित्य में इस परिवर्तित जीवन-चर्या का किसी भी प्रकार का कोई संकेत क्यों नही प्राप्त होता? रुग्ण एवं शिथिल होने की अपेक्षा आर्यों का भारत प्रवेश करते ही (जैसा उक्त मता-नुयायी मानते है) दस्युओं एवं शूद्रों से संघर्ष, उनकी शारीरिक पुष्टता एवं सुस्वस्थता की सूचना देता है। अतः इस प्रकार तो आरोग्यशास्त्र के सिद्धान्त भी फेल हो जाते है जो निद्रा एवं आराम आदि पर अपना निर्णय देते है। दूसरे यह भी मान्य नही है कि आर्यों की स्मृति में ही कोई त्रुटि थी कि वे प्राचीन वार्ताओं को तो स्मरण रखने मे समर्थ और सद्यः घटित घटनाओं को भूल जाते थे या उनका वर्णन करना आवश्यक नही समझते थे। जहाँ वे उषाकाल के विस्तृत रूप एवं दीर्घकालीन स्थिति का निरूपण उत्तरी ध्रुव प्रदेश की स्मृति में करते है तो इसी के समानान्तर छोटे दिनों एवं रात्रियों के प्रति आश्चर्य प्रकट करने में मौन क्यों हैं? अतः स्व० तिलक जी के द्वारा इस सन्दर्भ में उद्धृत ऋचाओं का एवं प्रसंगो का निश्चय ही कोई भिन्न अर्थ होना चाहिए, जो सप्तसिन्धु प्रदेश के अनुरूप हो, अन्यथा विधेयात्मक युक्ति के अभाव में इसकी सिद्धि अपूर्ण एवं असफल सी ही रहेगी। यदि हम यह माने कि 'तिलक जी' द्वारा उद्धृत ऋचाओं की रचना तो उत्तरी-ध्रुव प्रदेश में

हो चुकी थी और आर्यों के भारत में प्रवेश करने में अनेक वर्ष लगे और रात्रियों के छोटे होने का क्रम एकदम नहीं, धीरे-धीरे आर्यों को अनुभव हुआ। अतः वे आश्चर्यचकित नहीं हुए, तो दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उत्तरी-ध्रुव से लेकर भारत तक आने के बीच में आर्यों ने जो अनुभव प्राप्त किए तथा जो अन्य घटनाएँ इस बीच में घटित हुई, उनका किंचित् मात्र भी विवरण वेदों में क्यों नहीं मिलता है? क्यों वे उत्तरी-ध्रुव की लम्बी रात्रियों के पश्चात् एकदम सप्तसिन्धु प्रदेश का ही गुणानुवाद करने लगते हैं? स्पष्ट ही इनका कोई उत्तर अब तक उपलब्ध नहीं हुआ है। अतः जब तक ऋग्वेद या अन्य कोई समकालीन ग्रन्थ इस प्रकार के तर्कों का उत्तर नहीं दे देता, तब तक आर्यों का मूलस्थान उत्तरी ध्रुव का प्रदेश नहीं माना जा सकता।

तृतीय सिद्धान्त का उत्तरार्द्ध है— खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान सामग्री, जिसमें सबसे प्राचीन 'बोगाजकूई' की खुदाई में प्राप्त वे लेख हैं जो मिट्टी की पट्टिकाओं पर कीलाक्षरों में लिखे हुए हैं। इनमें से एक लेख में हत्तीराज सुपिलल्युमम तथा मितन्नीराज मतिराज की पुत्र-कन्या के विवाह का उल्लेख है। यह एक प्रकार का संधि-पत्र है। इसमें अनेक विशिष्ट वैदिक देवताओं के नामों का उल्लेख मिलता है, जैसे—शुरियश, मरुतश, इन्दर, मित्तर, उरुवन, अरुन आदि। उक्त लेख से यह तो सिद्ध होता ही है कि ई० पूर्व १४००–१३०० वर्ष पूर्व आर्यों एवं आर्य भाषा की उपस्थिति वहाँ पर थी, परन्तु समस्या यह है कि वे भारत से गए अथवा वहाँ से भारत आए। जहाँ तक हित्ती प्रदेश से आर्यों के भारत आगमन का प्रश्न है, वहाँ दो प्रश्न हमारे समक्ष प्रस्तुत होते हैं—प्रथम, यदि भारतीय आर्य हित्ती प्रदेश से भारत आए और उक्त सन्धिपत्र के पश्चात् आए तो निश्चय ही वे इस कीलाक्षर लिपि का प्रभाव अपने साथ लेकर आए होंगे, तब फिर भारत में प्राप्त ब्राह्मी लिपि का उक्त लिपि के साथ सम्बन्ध क्यों नहीं है? जैसा कि बहुत से योरपीय मनीषी मानते हैं कि भारत में लिपि का विकास ईसा से ५०० वर्ष पूर्व ही हुआ है, तब 'बोगाजकूई' में प्राप्त कीलाक्षर लिपि का क्या महत्त्व रह जाता है, जबकि वहाँ के निवासियों का एक समुदाय उससे अनभिज्ञ नहीं है। या यों कहिए कि उसी शाखा से बिछुड़कर या उसके आस-पास के किसी स्थान से जहाँ पर लिपि का विकास बहुत पहले हो चुका था—(जैसा कि ये लोग मानते हैं) आने वाले भारतीय आर्य सप्तसिन्धु प्रदेश में प्रवेश करते ही कुछ ऐसे विकृत मस्तिष्क हो गए कि लिपि का प्रयोग करना भी भूल गए और लगभग ७००–८०० वर्षों के पश्चात् यह विकृति दूर हुई, जबकि मनोविज्ञान के वंश परम्परागत संस्कार के सिद्धान्त के अधीन भारतीय आर्यों की सन्तानों के मस्तिष्क में वह लिपि कुछ भिन्न स्वरूप में अवतरित हो गई। अजब विचार-

दृष्टिगत होती है, यथा—संस्कृत—गुण, पंजाबी—गुन, इसी प्रकार संस्कृत—अरुण, हत्ती—अरुन पंजाबी—अरुन, आदि। 'शुरियश' शब्द में भी भारतीय 'श' ध्वनि अपना प्रभुत्व, जमाए हुए है। 'श' ऊष्म ध्वनि भारतीय आर्य भाषा की अपनी विशेषता है। आर्य परिवार की अन्य भाषाओं में श के स्थान पर या तो 'स' मिलता है अथवा 'क' मिलता है। यथा—

संस्कृत	अवेस्ता	ग्रीक	लैटिन
शतम्	सतम्	कैन्ट	केन्टुम्

अतः यह कैसे माना जा सकता है कि भारतीय आर्य एशिया माईनर से आए और आते ही 'शुरियश' के स्थान पर 'सूर्य' 'ईन्दर' के स्थान पर 'इन्द्र' तथा मित्तर के स्थान पर मित्र का प्रयोग करने लगे। यदि भारतीय आर्यों की शाखा बहुत बड़ी शब्द सुधारक बन भी गई होगी तो भी यत्र-तत्र उनके साहित्य में इन शब्द रूपों के भी कतिपय प्रयोग उपलब्ध होने चाहिए। लेकिन नहीं होते। मुख-सुख की दृष्टि से इन्दर, मित्तर आदि शब्दों का उच्चारण सहज और सरल है। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण इन शब्दों के उत्तरकालीन भाषाओं में पाया जाता है। इस प्रकार हम कह सकते है कि उक्त लेख का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन यही सिद्ध करता है कि भारतीय आर्यों की ही कोई शाखा भारत से एशिया माईनर की ओर गई न कि एशिया माईनर से भारत आई, और यह वह समय हो सकता है जब भाषा विकास की ओर अग्रसर थी।

अन्त में प्रजातिवाद, भाषावाद एवं प्राचीन ग्रन्थों तथा खुदाई इत्यादि में प्राप्त उपादान सामग्री के आलोड़न से ज्ञात होता है कि सप्तसिन्धु प्रदेश के अतिरिक्त किसी अन्य स्थल की सिद्धि भारतीय आर्यों के मूल उद्गम के लिए नहीं होती। अब तक की प्राप्त सामग्री में सप्तसिन्धु के पक्ष में प्रत्यक्ष प्रमाण है और अम्य स्थलों के पक्ष में अनुमान प्रसूत। अनुमान से प्रत्यक्ष सर्वदा सबल होता है। अतः जब तक किसी अन्य प्रदेश के लिए प्रत्यक्ष कारण एवं सबल सामग्री सप्तसिन्धु प्रदेश की तुलना में प्राप्त नहीं हो जाती, तब तक हमें यह मानने में किंचित् भी संकोच नही करना चाहिए कि आर्यों का या यों कहिए आर्य सभ्यता एवं संस्कृति के मूल उत्स का प्रस्रवण सप्तसिन्धु प्रदेश की ही पावन भूमि से हुआ, जहाँ इन्द्र ने अवरोधक वृत्रासुर को मार कर इसका मार्ग प्रशस्त किया। इस सन्दर्भ मे यदि में डा० वी० के० घोष के शब्दों को पुनः उद्धृत कर दूं तो अधिक उत्तम होगा :

"In spite of all the evidence to the contrary India was the origin home of the Aryans, for there is no definite proof of the existence of an Aryan Race or language outside India, previous to the age of the Mohon-Jo-daro culture."

संस्कृति से तात्पर्य—जिस प्रकार व्यक्ति की पहचान उसकी बाह्य आकृति एवं आन्तरिक गुणों से की जाती है, उसी प्रकार किसी जाति की पहचान उसकी सभ्यता एवं संस्कृति से की जाती है। सस्कृति-अनुभव जन्य ज्ञान के और सभ्यता बुद्धि-जन्य ज्ञान के आधार पर निर्भर होती है। संस्कृति शब्द की व्युत्पत्ति 'सम' उपसर्गपूर्वक 'कृ' धातु से 'क्तिन्' प्रत्यय लगाने से निष्पन्न होती है, जिसका अर्थ संस्कार किया हुआ, निखरा हुआ या निखारा हुआ होता है। स्वामी ब्रह्मानन्द जी सरस्वती ने संस्कृति का अर्थ 'भूषणभूत सम्यक् कृतिः इति संस्कृति.' किया है। भूषणभूत सम्यक् कृति का विश्लेषण करते हुए स्वामी जी इस निष्कर्ष पर पहुँचे है कि 'मनुष्य के लौकिक-पारलौकिक सर्वाभ्युदय के अनुकूल आचार-विचार ही संस्कृति है।'[5] बात वास्तव में यह है कि बाह्य अथवा भौतिक उन्नति के वे अवशेष जो हमारे जीवन एवं चिन्तन की स्थायी निधि बनते जाते है, वे ही समष्टि रूप में संस्कृति के द्योतक होते हैं।

पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय का अत्यन्त विशद विवेचन किया है। सस्कृति के लिए उनके यहाँ कल्चर (culture) शब्द का प्रयोग किया जाता है। प्रसिद्ध मानव-शास्त्री 'हीबल' संस्कृति शब्द की व्याख्या लगभग भारतीय दृष्टिकोण के अनुकूल ही करते है। आपके अनुसार संस्कृति समाज के समाकलित विज्ञ व्यवहारों की समष्टि है जो, समाज के प्रत्येक व्यक्ति का लक्षण होता है तथा वह जीव-शास्त्रीय विरासत का परिणाम नही होता :

"Culture is the sum total of integrated learned behavior patterns which are characteristic of the members of a society and which are, therefore, not the result of Biological inheritance."[6]

प्राचीन भारत का सांस्कृतिक समन्वय

यद्यपि इतने विवेचन के पश्चात् भी यह निश्चित रूप से नही कहा जा सकता कि आर्यजनों की सही निवास भूमि कहाँ पर थी तो भी इतना तो पूर्णतः निश्चित है कि ऋग्वेद एव शेष वैदिक साहित्य भारत भूमि की अपनी निराली निधि है। इस साहित्य के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि आर्यों का सम्पर्क कुछ अन्य संस्कृतियों के साथ भी हुआ है। उन संस्कृतियों से इन्होंने कुछ ग्रहण भी किया और बहुत कुछ दिया भी।

ऋग्वेद में ऐसे शत्रुओं का वर्णन आता है जो 'कृष्ण' अर्थात् काले रंग के थे। 'अनासा' चिपटी नाक वाले थे। 'शिश्नदेवा' लिङ्ग पूजक थे। 'अयज्वन्' यज्ञ न करने वाले थे। 'दासः दस्यु' डाकू थे। 'शम्बर' दस्यु का उल्लेख अनेक

---

5 कल्याण हिन्दू-संस्कृति विशेषांक, पृष्ठ १६४।

6 Man in the primitive world—*Heebel*, page 7.

वार हुआ है जिसके दुर्गों का ध्वंस इन्द्र ने अनेक बार किया है। इस प्रकार के अनेक उल्लेखों एवं वर्तमान समय में प्राप्त अनेक आदिवासी कबीलों के आधार पर विद्वानों ने कुछ निष्कर्ष निकाले हैं, यथा—प्राचीन भारत में 'हब्शी' प्रजाति वर्तमान थी जो अफ्रीका से घूमती-घामती भारत में आई। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार ये सर्वप्रथम मानव हो सकते हैं, जिन्होंने भारत भूमि पर चरण रखे। आजकल इनके अवशेष अण्डमान-निकोबार प्राय-द्वीपों में उपलब्ध होते हैं जहाँ ये अपनी अविकसित भाषा का ही प्रयोग करते हैं।[7] आर्य भाषा पर इनका प्रभाव नाम मात्र को ही मिलता है क्योंकि यह प्रजाति अधिकतर दक्षिण में रही। दूसरे, बाद में आने वाली प्रजातियों ने इनको अपने में पूर्णतः आत्मसात् कर लिया। भारत के निम्न वर्णों के लोगों में इनका यह मिश्रित रूप भली प्रकार चिह्नित किया जा सकता है।

द्वितीय, अनार्य जाति आस्ट्रिक परिवार की थी जिनके साथ आर्यों का सान्निध्य हुआ। यही प्रजाति आगे चलकर संस्कृत-साहित्य में निषाद जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई। विद्वानों का मत है कि निषाद संस्कृति ने आर्य संस्कृति को पर्याप्त सीमा तक प्रभावित किया। इनके अवशेष भारत में कोल और मुण्डा जातियाँ हैं।

तृतीय प्रजाति जिनका आर्य संस्कृति के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण स्थान है, वह द्रविड़ प्रजाति थी, वेदों में जिन्हें दास, दस्यु या शूद्र के नाम से अभिहित किया गया है। विद्वानों का मत है कि मोहन-जो-दड़ो और हड़प्पा में जिस संस्कृति के अवशेष उपलब्ध हुए हैं उसकी संस्थापक यही प्रजाति थी। कुछ विद्वान् इस मत को तब तक स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं जब तक उसमें प्राप्त सामग्री एवं सिक्कों पर प्राप्त लेखों का पूर्ण विश्लेषण एवं अध्ययन सम्पन्न नहीं हो जाता। दक्षिण भारत में बोली जाने वाली तमिल, तैलगु आदि भाषाएँ उसी कबीले की भाषा या बोलियों के विकसित रूप हैं। चाहे जो कुछ हो, पर इतना तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि आर्यों के सम्पर्क में आने वाली प्रजातियों में से इस प्रजाति की संस्कृति अत्यधिक समृद्ध एवं सुदृढ़ थी और इन्हें जीतने के लिए आर्यों को सबसे अधिक कठिनाई का साम्मुख्य करना पड़ा था।

चतुर्थ प्रजाति जिसका आर्य संस्कृति के निर्माण में कम योगदान नहीं रहा, वह है मंगोल प्रजाति, जो बाद में किरात जाति कहलाई। पौराणिक साहित्य में अनेक स्थानों पर इन्हें अर्ध-देव या अलौकिक जनों के रूप में वर्णित किया गया है। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार वैदिक काल में ही ये 'किरात' के नाम से

---

[7] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ४६-४७।

जाने लगे थे ।[8] इस जाति का भारत के सांस्कृतिक निर्माण [अर्चन पूजा] में बहुत अधिक योगदान रहा है ।

संस्कृति के अन्य उपादानों को छोड़कर हम यहाँ पर केवल भाषा की दृष्टि से ही इनके पारस्परिक आदान-प्रदान का अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे । पिछले तीन चार सौ वर्षों के अनथक प्रयास के फलस्वरूप विद्वान् भाषा-विज्ञ एक सर्वसम्मत निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि योरप, रूस, ईरान, भारत आदि में बोली जाने वाली भाषाओं का मूल उत्स कोई एक भाषा है जिससे छान्दस, ग्रीक, लैटिन, जर्मेनिक, केल्टिक, अवेस्तन आदि विश्व की समृद्ध भाषाएँ प्रस्फुटित हुई हैं । इनमें कौनसी भाषा प्राचीन है तथा आदि-भाषा के अधिक समीप है, इस उलझन में न पड़कर यह तो स्वीकार किया ही जा सकता है कि उक्त भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन, इस बात के लिए हमारा मार्ग प्रशस्त कर सकता है कि हम एक मूल भाषा का अनुमान कर सकें तथा उसकी ध्वनियों एवं रूपों का निर्धारण कर सकें और यह कार्य पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक सम्पन्न करने का प्रयास कर चुके हैं, किन्तु उनका यह कार्य कहाँ तक वैज्ञानिक है, यह नहीं कहा जा सकता । इसके विरोध में डॉ. रामविलास शर्मा के तर्क अत्यन्त विचारणीय हैं, जैसा कि उन्होंने केन्टुम् और शतम् के सिद्धान्त के सम्बन्ध में कहा है 'एक समस्या और है' यदि आर्यों की पश्चिमी शाखा मूल कण्ठ्य ध्वनियों को सुरक्षित रखे हुए 'शतं' के स्थान पर 'केन्तुम्' का व्यवहार करती थी, तो जर्मन और अंग्रेज़ी में केण्टुम् की जगह हुण्डेर्ट और हण्ड्रेड का व्यवहार कैसे होने लगा ? जर्मन में कैसर, कापिटाल, काल्ट, कार्टे, केनेन, केर्ल, केर्न, क्नावे, क्रिट आदि ढेरों शब्द हैं जो 'क' से आरम्भ होते हैं जिनके मध्य या अन्त में 'क' हो उनका ज़िक्र नहीं । फिर जर्मन आर्यों ने केण्टुम् के 'क' से क्यों परहेज़ किया ? ।"[9] इसी प्रकार भारतीय आर्य-परिवार की ओर भी आपने संकेत किया है कि "विद्वानों के अनुसार आर्यों की पश्चिमी शाखा ने मूल कण्ठ्य ध्वनियों को सुरक्षित रखा है; भारत और रूस की शाखा ने उन्हें ऊष्म बना दिया है। लैटिन 'केन्तुम्' संस्कृत 'शतं' इनमें लैटिन ने मूल ध्वनि को सुरक्षित रखा, संस्कृत आदि पूर्व की भाषाओं ने उस 'श' या स' का रूप दे दिया । प्रश्न यह है कि किम्, कः, कुतः, कुत्र आदि क-युक्त शब्दों का विशाल भण्डार रखने वाली भाषा ने 'केन्तुम्' के 'क' को ही क्यों अछूत समझा ?"[10]

---

[8] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ६२ ।

[9] भाषा और समाज, पृष्ठ ३८ ।

[10] वही, पृष्ठ ३८ ।

उपर्युक्त सन्दर्भ इसका पर्याप्त प्रमाण है कि पाश्चात्य भाषा-विज्ञ इस सिद्धान्त के साथ पूर्ण न्याय नहीं कर पाये। आवश्यकता इस बात की है कि आर्य-परिवार की सभी भाषाओं के प्रकाण्ड पंडित मिलकर सम्पूर्ण शब्द-कोष एवं ध्वनि सामग्री का विश्लेषण करें तथा बहुमान्य निर्णय पर पहुँचने का यत्न करें। कुछ शब्दों को चुन कर किसी एक व्यक्ति के द्वारा प्रस्थापित सिद्धान्त त्रुटिविहीन हो जाए, इसकी बहुत कम सम्भावना है। भाषा पाण्डित्य के साथ-साथ समाज-शास्त्र, राजनीति-शास्त्र तथा मनोविज्ञान का ज्ञान भी उस मण्डली के लिए परम अपेक्षित है।

उपर्युक्त मूल भाषा की कल्पना का संकेत देने के पश्चात् हम अपने विषय पर आते हैं। भारतीय आर्य-परिवार जो अन्य आर्य-परिवारों से भिन्न दृष्टिगत होता है, उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण 'मूर्धन्य' ध्वनियाँ हैं। ये ध्वनियाँ या तो भारतीय आर्य-परिवार में प्राप्त होती हैं या जर्मेनिक परिवार में। कुछ मात्रा में विद्वानों का विचार है कि 'लैटिन' में उनका प्रवेश हो चुका था। इस पर यदि हम गम्भीरता से विचार करें तो स्पष्ट हो जाएगा—पाश्चात्य रंग में रंगे विद्वानों को यह चाहे न रुचे—कि जर्मेनिक शाखा भारतीय शाखा से मूर्धन्य ध्वनियों के विकास के बाद अलग हुई है, जिसने जाकर रोमन संस्कृत पर अपना प्रभुत्व स्थापित किया। ग्रीक और रोमन संस्कृति तथा परशियन संस्कृति के बाद जर्मन संस्कृति का अभ्युदय इसका प्रमाण है। यह निश्चित सा है और मान लेना चाहिए कि आर्य-परिवार में मूर्धन्य ध्वनियां विजातीय तत्त्व है और बहुत सम्भव है कि भारत में अनार्य संस्कृति का सम्पर्क ही इनका प्रदाता रहा हो। आस्ट्रिक प्रजाति की तथा द्रविड़ों की भाषाएँ मूर्धन्य ध्वनि-प्रधान होने के कारण इस मान्यता को और भी बल मिल जाता है। आर्य, क्योंकि विजेता थे, अतः उन्होंने अपनी भाषा की प्रकृति और प्रत्यय की सुरक्षा करते हुए विजितों द्वारा दिए गए शिथिल एवं अशुद्ध उच्चारणों को न चाहते हुए भी स्वीकार कर लिया। अनेक स्थानों पर 'र' के स्थान पर 'ल' का प्रवेश भी आर्येतर भारतीय कबीलों का ही प्रभाव कहा जा सकता है। यद्यपि इस पर भी डॉ. रामविलास शर्मा के तर्क अकाट्य हैं तो भी यह स्वीकार करना पड़ेगा कि 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण विजातीय प्रभाव है जिसके लिए पाणिनि को 'डलयो रलयोरभेदः' कहना पड़ा। इसके अतिरिक्त अनेक ऐसे शब्द हैं जिनकी व्युत्पत्ति छान्दस के प्रकृति और प्रत्ययों के अनुरूप नहीं बैठती। डॉ. चाटुर्ज्या ने ऐसे अनेक शब्दों की सूची प्रस्तुत की है।

भाषा के अतिरिक्त अनेक अन्य सांस्कृतिक उपादान भी आर्यो ने इन आर्येतर जातियों से ग्रहण किए। यथा:—लिङ्ग (शिव) पूजा, नाग पूजा, मातृका पूजन, शक्ति पूजन, वृक्ष पूजन, ग्राम के बाहर पत्थर पर सैन्दूर या लाल रंग से रंगे

हुए पत्थर की पूजा, गान्धर्व विवाह, गौ पूजा, शिव पूजन, कृषि में धान की खेती अनेक शाक-सब्जियों का उत्पादन तथा योगविद्या आदि।

उपर्युक्त विश्लेषण से मेरा तात्पर्य केवल यह बता देना है कि छान्दस युग में ही भाषा ने अनेक विजातीय तत्त्वों को ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया था। यह स्वाभाविक था, क्योंकि आज की भारतीय भाषाएँ अरबी, फ़ारसी, पुर्तगीज़, आँग्ल आदि भाषाओं के प्रभाव से अपने को वंचित न कर सकी तो फिर उस समय की छान्दस उस भाषा के बोलने वालों के सम्पर्क में आई, अन्य भाषाओं के प्रभाव से मुक्त रह सकी होगी, कुछ जँचता नहीं है। ये प्रभाव कौन-कौन से हो सकते है, किस प्रकार के हैं तथा कौन-सी भाषाओं के हैं, यह स्वतन्त्र रूप से विचार के विषय हैं और पृथक् ग्रन्थ की अपेक्षा रखते हैं। अतः मैं समझता हूँ यहाँ पर इतने संकेत ही पर्याप्त हैं।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा पर विचार करने से पूर्व एक महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार कर लेना असंगत न होगा। विद्वानों का विचार है कि छान्दस और अवेस्ता की भाषा में इतना साम्य है कि केवल कुछ ध्वनियों के परिवर्तन कर देने पर दोनों भाषाओं का स्वरूप समान हो जाता है। उनके निष्कर्ष है कि ध्वनियों का यह अन्तर 'भारत-ईरानी' शाखा से पृथक् होने पर छान्दस ने विकसित कर लिया और ऋग्वेद की भाषा अवेस्ता की भाषा का पश्चकालीन विकसित रूप है, किन्तु दोनों भाषाओं की तुलना के पश्चात् मन यह मान्यता स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। यदि छान्दस से विकसित भाषाओं—पालि प्राकृत आदि—का मिलान अवेस्ता की भाषा से करें तो इन में पर्याप्त मात्रा में समानता दृष्टिगत होती है। कितने ही ध्वनि-परिवर्तनों के आधार वे ही तत्त्व है जो पालि या साहित्यिक प्राकृतों के भी हैं। संस्कृत/छान्दस, अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी, पालि/ प्राकृत आदि भाषाओं के कुछ चुने हुए उदाहरणों के द्वारा मैं अपने मत की पुष्टि करने का प्रयत्न करूँगा :

१. संस्कृत/छान्दस के अन्त्य 'अ' के स्थान पर अवेस्ता में 'ओ', प्राचीन फ़ारसी में 'अ, ओ', पालि में 'ओ' तथा मागधी में 'ए' मिलता है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता	प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
जातः	जातो	जात	जातो	जातो/जाते
पुत्रः	पुथ्रो	पुथ्र	पुत्तो	पुत्तो/पुत्ते

२. छान्दस या संस्कृत के 'अ' के स्थान पर अवेस्ता में 'ए, ओ, इ' मिलते है। ठीक इसी प्रकार पालि तथा अन्य प्राकृतों में भी 'ए, ओ, इ' मिलते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता[11]
अजति	अजैति
पति	पैतिन्
सन्तम्	हैंन्तम्
धन	धिन
वसु	वोहु

छान्दस/संस्कृत	पालि/प्राकृत
अत्र	एत्थ
अधस्तात्	हेट्ठा
तमस्	तिमस
त्रिपु	तिपु
अन्तर्	अंतो
तिरस्क	तिरोक्ख

३. छान्दस/संस्कृत 'ऋ' के स्थान पर अवेस्ता 'ऐरे' प्रा० फ़ारसी 'र', पालि/प्राकृत 'इ, उ, अ तथा रि, इर्' मिलते हैं—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी		पालि	प्राकृत
कृणोति	केरेनओइति	—	—	कौण्णोति
वृकम्	वरेजम्	—	रुक्ख	रुक्ख
मृगाङ्क	—	—	मयंक	मियंक
छान्दस/संस्कृत	**अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी**		**पालि**	**प्राकृत**
ऋषि	—	ऋषस्	इसि	रिसि
ऋणम्	—	—	इणं	रिणं

४ छान्दस/संस्कृत के ऐ/औ का अवेस्ता में 'आइ तथा आउ' होते हैं परन्तु पालि/प्राकृत में 'अइ तथा अउ' होते हैं—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता	पालि	प्राकृत
पौरः	—	पउरो	पउरो
गौडः	—	—	गउड
कस्मै	कह्माइ	—	—
चैत्यम्	—	चइत्तं	—

---

[11] अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी के नियम 'हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास', पृष्ठ २४–३० से लिए गए हैं।

व्यञ्जन—

१. व्यञ्जन से अनुगमित संस्कृत 'क, त, प' अवेस्ता में 'ख, थ, फ' हो जाते हैं। ठीक यही नियम पालि एवं प्राकृतादि (साहित्यिक) भाषाओं में लक्षित किया जा सकता है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
क्रतुः	ख़्रतुस्	—	—
स्वप्नम्	ह्वफ़्नेम	—	—
पलितम्	—	फलितम्	फलितम्
पनसः	—	—	फणसो
परिखा	—	—	फलिहा
परुषः	—	—	फरुसो
स्तनः	—	—	थणो
स्तम्भः	—	—	थम्भो
स्त्री	—	—	थी
क्षणः	—	—	खणो
कर्परम्	—	—	खप्परं
स्कन्द	—	—	खन्द

२. छान्दस/संस्कृत 'घ, ध, भ' अवेस्ता में 'ग द, व' में परिवर्तित हो जाते है। प्राकृतो में भी इन महाप्राण ध्वनियो के महाप्राणत्व के स्थान पर अल्पप्राणत्व के दर्शन होते है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
दीर्घम्	दरे॑गे॑म्	—	—
अघः	अदा	—	—
भ्राता	ब्राता	—	—
भगिनी	—	वहिणी	वहिणी
घासः	—	—	गस (नि० प्रा०)
सद्यः	—	सद (नि० प्रा०)	
भूमिः	—	—	बूम (नि० प्रा०)

३. छान्दस/संस्कृत 'श' के स्थान पर 'स' और 'श, स' के स्थान पर 'ह' अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी की महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ है। पालि और अन्य प्राकृतों की यह सर्वप्रमुख विशेषताएँ मानी गई है—

छान्दस/संस्कृत	अवेस्ता/प्रा० फ़ारसी	पालि	प्राकृत
सप्त	हफ़्त	—	—
शरद्	हरुद्	—	—
शाक	हाख	—	—
सोम	होमु	—	—
शत	हथ	—	—
द्वादश	—	—	बारह
दश	—	—	दह
कार्षापण:	—	—	काहावणो
असि	अहि	अहि	अहि
दशमुख:	—	—	दहमुखो
अस्माकम्	—	—	अम्हाणं
शाप:	—	—	सावो
शपथ:	—	—	सवहो

इनके अतिरिक्त अवेस्ता में पाया जाने वाला 'ज' कश्मीरी में अभी तक सुरक्षित है। कश्मीरी में संस्कृत 'श' के स्थान पर 'छ' और मागधी में 'श्च' उपलब्ध होते हैं। यदि भारत की सम्पूर्ण आर्य-परिवार की भाषाओं का विश्लेषण कर उनका अवेस्ता के साथ तुलनात्मक अध्ययन किया जाए तो ज्ञात होगा कि कुछ परिस्थिति विशेष में हुए ध्वन्यात्मक परिवर्तनों के अतिरिक्त अवेस्ता की भाषा म. भा. आ. का ही अनुसरण करती है।

द्वितीय अध्याय

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

विकास शाश्वत होता है—बोली से भाषा का विकास—संस्कृत में ऐसे अन्तर पर विचार—बोलियों का लुप्त हो जाना—भाषा के अध्ययन में कठिनाइयों का साम्मुख्य—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा का प्रारम्भ—ऋग्वेद प्राचीनतम कृति—आर्यों का आगमन—ऋग्वेद की भाषा का भाषा-वैज्ञानिक विवेचन—ईरानी से साम्य—तालव्य भाव के नियम का प्रभाव—वैदिक संस्कृत का ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—कोष पर विचार—वैदिक काल में भाषा में विकास के चिह्न—उस समय की भाषा एवं बोलियों की स्थिति—संस्कृत भाषा का प्रादुर्भाव—संस्कृत का चहुँमुखी विकास—ध्वन्यात्मक विवेचन—रूपात्मक विवेचन—उपसर्ग एवं निपातों का विवेचन ।

भाषा और बोली

विकास प्रकृति का एक चिरन्तन और शाश्वत सिद्धान्त है। आज डार्विन (Darwin) के विकासवाद को चाहे उसके वर्तमान समय में महत्ता न दी जाती हो, किन्तु विश्व के गण-मान्य मनीषी, शास्त्रवेत्ता पण्डित, चिन्तनशील दार्शनिक एवं प्रयोगनिरत सत्यान्वेषी वैज्ञानिक आज इस तथ्य से पूर्णतः अभिज्ञ हो चुके हैं कि प्रकृति का कण-कण विकासशील है। आज से हजारों अथवा लाखों वर्ष पूर्व (विषय वस्तु के अनुरूप) जो प्राकृतिक उपादान जिस स्थान एवं स्थिति में थे, आज उस स्थान एवं स्थिति से आगे या पीछे प्रसृत, निसृत या अपसृत हो चुके हैं। यह इतर वार्ता है कि धर्माधिकारी उनमें से किसी को ह्रास और किसी को विकास की संज्ञा से अभिहित करें, परन्तु वैज्ञानिक विस्तृत अर्थ में उन्हें विकास की श्रेणी में ही अधिष्ठित करेंगे। दार्शनिक परिभाषा में प्रकृति जड़ और चेतन के समस्त कार्य-कलापों, गति-विधियों, उत्थान-पतनों एवं गुण-अवगुणों को अपने में समाविष्ट किए हुए है। मानव, प्रकृति का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। मानव की क्रियाओं का नाम है जीवन। भाषा इसी जीवन के भली प्रकार यापन का महत्त्वपूर्ण साधन है। इस प्रकार मानव जीवन और भाषा का परस्पर गहन सम्बन्ध है।

सांख्य-दर्शन के सिद्धान्त के अनुसार कार्य न्यूनाधिक रूप में कारण के गुण और धर्म से समवेत होता है।[1] अतः हम कह सकते हैं कि प्रकृति के विकासशील गुण की उपलब्धि भाषा में भी होनी चाहिए। यदि हम भाषा का विश्लेषण करने बैठें तो ज्ञात होगा कि भाषा के दो स्वरूप प्रायः प्रत्येक युग में वर्तमान रहते हैं। एक, उसका शुद्ध प्राकृतिक स्वरूप; जिसे बोली, देशभाषा अथवा जनसाधारण के दैनिक जीवन में काम आने वाले वस्तु-व्यापारों एवं भाव-व्यापारों के लिए प्रयुक्त की जाने वाली ग्राम्य-भाषा कहा जा सकता है, जिसका कोई लिखित व्याकरण नहीं होता। लोक रुचि ही जिसका व्याकरण, प्रमाण या शास्त्र होता है। भाषा का दूसरा स्वरूप उपरिकथित स्वरूप का शुद्ध, संस्कृत एवं परिमार्जित किया हुआ साहित्यिक अथवा कृत्रिम रूप है जिसे विद्वत्समाज या शिष्ट-जनों की भाषा कहा जाता है। उसे व्याकरण के नियमों में आबद्ध कर, आवश्यकतानुसार उसमें नवीन शब्दों का उसकी पूर्ववर्ती भाषा से या अन्य किसी समृद्ध भाषा से प्रवेश करवा कर

---

[1] सांख्य-कारिकावलि एवं न्याय दर्शन।

अथवा निर्माण कर, जीवन के उदात्त एवं गम्भीर भावों, विचारों एवं तथ्यों की अभिव्यक्ति का साधन बनाया जाता है। इस अन्तर को भली प्रकार चिह्नित करने के लिए ही विद्वानों ने प्रथम रूप को बोली की और दूसरे रूप को भाषा की संज्ञा दी है। संस्कृत वैयाकरणों एव काव्य-शास्त्रियों ने इसे वाणी, भाषा और विभाषा जैसे वर्गों मे भी विभाजित करने का प्रयास किया है। अन्तर केवल इतना है कि ये वैयाकरण शुद्ध, शिष्ट, परिमार्जित किन्तु कृत्रिम भाषा को मूल मान कर जनसाधारण की भाषा की ओर प्रयाण करते हैं; जैसे भरत ने लिखा है—

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौरसेन्यार्धमागधी।
वाल्हीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्तिता॥"[2]

मागधी, अवन्तिजा, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाल्हीका तथा दाक्षिणात्या ये सात भाषाएँ हैं। आगे ये लिखते हैं—

"शकाराभीर-चाण्डाला शवर-द्रमिलान्ध्रजाः।
हीना वनेचराणाञ्च विभाषा नाटके स्मृताः॥"[3]

जंगली लोगो द्वारा बोली जाने वाली शकारा, आभीर, चाण्डाला, शवर, द्रमिल, आन्ध्रजा आदि हीन बोलियाँ ही नाटक में विभाषाएँ कही जाती हैं। 'भाषा' से लेखक का क्या तात्पर्य था तथा 'विभाषा' शब्द किस प्रकार की बोली के लिए प्रयुक्त होता था, इसे स्पष्ट करते हुए अपने भाष्य में अभिनव गुप्तपादाचार्य लिखते हैं—

"भाषा संस्कृतापभ्रशः, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा, सा तत्तद्देश एव गह्वरवासिनाम् च एता एव नाट्ये तु"।[4]

उपर्युक्त विवृति में संस्कृत को वाणी अथवा देववाणी मान कर भाषा को संस्कृत का अपभ्रष्ट स्वरूप कहा है तथा भाषा के अपभ्रष्ट स्वरूप को विभाषा कहा है। इसीलिए भाषा के अन्तर्गत उपरिकथित सात प्राकृत भाषाओं को और विभाषा के अन्तर्गत जंगली, गुफाओ मे रहने वाले हीन व्यक्तियों की बोलियों को, जो भिन्न-भिन्न प्रदेशो में भिन्न-भिन्न तरीकों से बोली जाती थी, किन्तु विकास की ओर अग्रसर थी, लिया गया है। इन विभाषाओं का प्रयोग नाटकों में हीन पात्रों के मुख से करवाना वैध माना जाता था। इस प्रकार हमारे सामने भाषा के तीन रूप आ जाते हैं। जहाँ तक भाषा के लिए 'वाणी' शब्द के प्रयोग का सम्बन्ध है, वह केवल अतिधार्मिक भावना का ही

---

2 भरत का नाट्य-शास्त्र, १७/४९।

3 वही, १७/५०।

4 भरत नाट्यशास्त्र की टीका, पृष्ठ ३७६।

परिणाम है। जहाँ तक विभाषा का सम्बन्ध है, वह बोली और भाषा के बीच की स्थिति है। इसमें थोड़ा बहुत साहित्य भी होता है। ग्राम्य प्रयोगों की अनुज्ञा के साथ-साथ व्याकरण के नियमों का बन्धन भी रहता है। अतः यह स्पष्ट है कि भाषा की मुख्य स्थितियाँ बोली और भाषा ही हैं।

उपर्युक्त विवेचन से हम सरलता से इस निष्कर्ष पर पहुँच जाते हैं कि लोक में भाषा के दो रूपों की समानान्तर स्थिति प्रत्येक अवस्था में बनी रहती है। हाँ! यह अवश्य है कि एक बोली की अनेक भाषाएँ चाहे न हों, परन्तु एक भाषा की अनेक बोलियाँ अवश्य होती हैं; यथा—हिन्दी की—ब्रज, कन्नौजी, बघेली, बुन्देली, छत्तीसगढ़ी, अवधी, खड़ी बोली, बाँगरू आदि। बोली का ही परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप भाषा बनता है, साथ ही भाषा का अपभ्रष्ट रूप भी बोली के कोष को समृद्ध करता है। डॉ. रामविलास शर्मा का यह मत कि परिनिष्ठित भाषाओं से बोलियाँ उत्पन्न ही नहीं होतीं,[5] मान्य नहीं है। यदि यह मत मान भी लिया जाए तो आज भारत में आर्य-परिवार की भाषाओं के अधीन बोली जाने वाली तीन चार सौ बोलियों का अस्तित्व 'छान्दस-युग' में भी मानना पड़ेगा, जो कि सम्भव नहीं है। जैसा कि डॉ. रामविलास स्वीकार करते हैं कि सामाजिक उत्थान-पतन एवं उसकी स्थिति का भाषा के साथ प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है, तो उन्हें यह स्वीकार करने में नहीं हिचकिचाना चाहिए कि प्रारम्भ में आर्य लोग एक कबीले के ही रूप में थे। समाजशास्त्र के अनुसार प्राचीन काल का वह समुदाय जो एक सांस्कृतिक इकाई में आबद्ध था, कबीला कहलाता था। कबीले के सभी लोग उस समय निश्चय ही किसी एक बोली का प्रयोग करते रहे होंगे। जैसे-जैसे उनमें विस्तार हुआ होगा, त्यों-त्यों समय और परिस्थिति के अनुसार उनकी बोलियों में भी अन्तर आया होगा और इस प्रकार एक बोली अनेक में परिवर्तित हुई होगी, पर मूल आधार उसके कबीले की भाषा ही रही होगी। संभवतः डॉ० रामविलास के साथ मूल कठिनाई यह रही है कि इन्होंने आर्यों के 'जन' अथवा गोत्र को कबीला मान लिया है और हिन्दी का सम्बन्ध भी छान्दस के समय की किसी भिन्न बोली के साथ जोड़ने का प्रयास किया है। मज़ेदार बात तो यह है कि डॉक्टर साहब इसी अध्याय में भोजपुरी सम्बन्धी वर्गों को ग्रियर्सन के मत से ही काटते नज़र आते हैं। बोली के विकास का मूलाधार बोली ही नहीं, अन्य कारण भी होते हैं। यथा—उसी से परिष्कृत परिनिष्ठित रूप, अन्य परिवारों की भाषाएँ, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक परिस्थितियाँ आदि। बात वास्तव में यह है कि बोली का रूप जब परिष्कृत होकर भाषा का बाना

---

[5] भाषा और समाज, पृष्ठ ३६७।

धारण कर लेता है, तो वह रूप अधिक से अधिक समृद्ध होने में तल्लीन हो जाता है, विद्वान् लोग नवीन ध्वनियों, नवीन शब्दों एवं नवीन प्रयोगों द्वारा उसे अधिक से अधिक सशक्त एवं अभिव्यञ्जिका बनाने में दत्तचित्त हो जाते है और वही बोली विशेष, दिन दूनी रात चौगुनी फलने फूलने लगती है। उसमें अन्य भाषाओं के शब्द एवं प्रयोग भी ग्रहण किये जाने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जन सामान्य दो सिद्धान्तों के अधीन—१. अनुकरण व २. मुखसुख—नवीन बोली को धीरे-धीरे पनपाने लगता है। अनुकरण के सिद्धान्त के अनुसार वह विद्वानों के शब्दों और ध्वनियों का उच्चारण करने का प्रयत्न करता है और 'मुख-सुख' के अधीन उसे अशुद्ध बना देता है तथा उसके समकक्षी अपने प्राचीन शब्द का त्याग करने लगता है। धीरे-धीरे ज्यों भाषा का प्रभुत्व बढ़ता जाता है, बोली भी जाने-अनजाने मे परिवर्तित होती रहती है और इस प्रकार एक ऐसी स्थिति आती है कि बोली एकदम नये रूप में आ उपस्थित होती है। उदाहरण के लिए, आज से ५०–६० वर्ष पूर्व गाँव के लोग, विद्यार्थी के लिए 'चट्टा' और विद्यालय के लिए 'चटसाल' का प्रयोग करते थे। अब इन दोनों शब्दों का स्थान विद्यार्थी और विद्यालय (स्कूल) ने ले लिया है। इसी तरह अहीरवाटी मे गेहूँ की रोटी के लिए 'माण्डो' शब्द का प्रयोग होता था, पर अब अधिकांश ग्रामीण भी 'माण्डो' कहने से लजाने लगे है और उसके स्थान पर शिष्ट शब्द 'फुलके' का प्रयोग करते है। 'सहायक' क्रिया 'स' का स्थान हिन्दी सहायक क्रिया 'है' ने ले लिया है। ब्रजभाषा भाषी ग्रामीण जन भी अब 'हौं' कहना उचित नहीं समझते, बल्कि 'मैं' का प्रयोग करते है। 'हिन्दी' के प्रभाव के कारण अहीरवाटी का प्रवाह 'आकारान्त' होता जा रहा है। अब 'काकोजी' के स्थान पर 'काकाजी' कहना अधिक शिष्ट समझा जाता है। 'थो' सहायक क्रिया (भूतकाल) का भी यही हाल है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि परिनिष्ठित भाषा से बोली का विकास हो ही नहीं सकता, उचित नही है। अतः संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि एक बोली के पश्चात् जो दूसरी बोली का प्रचलन लोक में देखा जाता है, वह उस पूर्ववर्ती बोली का विकसित रूप ही नही होता, बल्कि शिष्टजनो द्वारा व्यवहृत परिनिष्ठित भाषा के अनुभूत क्लिष्ट उच्चारणों एवं रूप प्रयोगो का सरलीकृत स्वरूप भी होता है। इससे यह तात्पर्य कदापि नही है कि पूर्ववर्ती बोली का उसके परिमार्जित स्वरूप के प्रकाश मे आने पर पूर्णतया देहान्त हो जाता है, परन्तु इतना आवश्यक है कि वह बोली परिनिष्ठित भाषा के कोष से अपना भण्डार भरती रहती है तथा उसके प्रकाश मे अपने कुछ प्रयोगों का त्याग करती हुई नवीन बोली का आवरण धारण कर लेती है। इस प्रकार नवीन बोली पुरानी बोली और परिनिष्ठित भाषा का सम्मिलित परिणाम होती है।

किसी भी भाषा के वैज्ञानिक अध्ययन के समय एक बड़ी कठिनाई जो आती है, वह यह कि साहित्य में उसकी पूर्ववर्ती बोली का रूप प्राय: अलक्षित हो जाता है। कितने ही ग्राम्य प्रयोगों एवं रूपों पर वैयाकरण प्रतिबन्ध लगा देते हैं और हमारे सामने केवल उसका परिमार्जित एवं परिष्कृत रूप, जो ग्रन्थों में प्रयुक्त हुआ होता है, उपस्थित होता है, तब यह जानना कठिन हो जाता है कि अमुक भाषा जिसका अध्ययन किया जा रहा है, किसी बोली से समुत्पन्न है अथवा शिष्ट एवं साहित्यिक भाषा का विकृत रूप है। इसी प्रश्न को लेकर भारतीय आर्य परिवार की भाषाओं के विकास के सम्बन्ध में विद्वानों में अत्यधिक विवाद चल रहा है, विशेषकर संस्कृत एवं प्राकृतों के विषय में। डॉ. चाटुर्ज्या ने लिखा है कि "प्राच्य बोली छान्दस एवं ब्राह्मण ग्रन्थों की संस्कृत से इतनी अधिक दूर जा चुकी थी कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति को प्राच्यों की भाषा समझने में कुछ कठिनाई का अनुभव होता था।"[६] उक्त कथन से यह सिद्ध होता है कि आर्य लोग मूलत: अर्थात् जब सप्तसिन्धु प्रदेश में थे, छान्दस अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा बोलते थे, परन्तु धीरे-धीरे जब वे पूर्व की ओर अग्रसर होते गए, उनका उच्चारण शिथिल होता गया। इस शिथिलता के कारण जो अन्तर आया, वही अन्तर नवीन बोली का उत्पादक सिद्ध हुआ। यदि डॉ. रामविलास शर्मा के अनुसार यह मानें कि वे भिन्न बोली पहले से ही बोलते थे तो बोली को समझना बाद में कठिन क्यों हुआ? तथा प्राचीन ग्रन्थों में बाद के ब्राह्मणों में ही इसका उल्लेख क्यों हुआ? अत: स्पष्ट है कि छान्दस का अशुद्ध उच्चारण, 'छान्दस' की बोली के अवशेष (जिसे वे पहले बोलते रहे होंगे) तथा अनार्यों के सम्पर्क ने प्राच्या को जन्म दिया, जिसमें छान्दस के अपभ्रष्ट रूप का योग सर्वाधिक था।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषा

बोली और भाषा का अन्तर स्पष्ट हो जाने पर अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि किस प्रकार छान्दस तथा उसकी बोलियों ने क्रमश: विकसित होकर प्राकृतों एवं अपभ्रंशों के रास्ते से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं को जन्म दिया। यद्यपि यह चाहे विवादास्पद विषय है कि आर्यों का मूल निवास स्थान भारत है अथवा ये लोग कहीं बाहर से यहाँ आए, पर यह सर्वमान्य मत है कि ऋग्वेद आर्यों का छान्दस भाषा में लिखित आर्य परिवार की भाषाओं का प्राचीनतम लिपिबद्ध ग्रन्थ है। छान्दस को यदि भारतीय आर्य परिवार की भाषाओं का मूल उत्स मान कर चलें तो भारतीय आर्य परिवार की भाषाओं

---

[६] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७५।

का विकास क्रम की दृष्टि से काल-विभाजन एवं वर्ग-विभाजन इस प्रकार किया जा सकता है—[7]

(१) **प्राचीन भारतीय आर्य भाषाएँ** (प्रा० भा० आ० भा०)—'छान्दस एवं संस्कृत।

समय—१५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक।

(२) **मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ** (म० भा० आ० भा०)—(अ) पालि, अशोक के शिलालेखों की भाषा, (ब) साहित्यिक प्राकृतें, (स) अपभ्रंश।

समय—५०० ई० पूर्व से १०००–१२०० ई० तक।

(३) **आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ** (आ० भा० आ० भा०)—हिन्दी गुजराती, मराठी आदि।

समय—१०००–१२०० ई० से आज तक।

उपर्युक्त वर्गीकरण का नामकरण संस्कार विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूपों में किया है; यथा—डॉ. चाटुर्ज्या प्रथम को आ० भा० आ० की भाषाएँ, द्वितीय को म० भा० आ० की भाषाएँ तथा तृतीय को न० भा० आ० की भाषाएँ कहते है, तो डॉ. उदयनारायण तिवारी तृतीय को आधुनिक भारतीय आर्य भाषा परिवार की संज्ञा देते है, पर इससे मूल विषय में कोई अन्तर नहीं आता।

छान्दस भाषा के वैज्ञानिक विवेचन का मूल आधार मुख्यतः ऋग्वेद और गौणतः वैदिक साहित्य हो सकता है। यद्यपि इस समय छान्दस भाषा की बोली का कोई भी रूप हमारे सामने नहीं है तो भी विद्वानों ने अनुमानतः उसके रूप-निर्धारण का प्रयत्न किया है। डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि वेदों के संकलन काल और लेखन काल की भाषा में अवश्य अन्तर रहा होगा, क्योंकि लेखन के हजारो वर्ष पश्चात् वेदों का संकलन किया गया है। अतः मूल रूप में जो ऋचाएँ लिखी गई होंगी, वे सम्भवतः वर्तमान स्वरूप से कुछ अंशों में भिन्न रही होंगी। आपके अनुमान का आधार स्वयं ऋग्वेद संहिता के प्रथम मण्डल और दसवें मण्डल की भाषा का अन्य मण्डलों की भाषा से भिन्न होना है। आपने इस आधार पर दो ऋचाओं के अनुमानित रूप इस प्रकार दिये हैं—[8]

---

[7] उक्त विभाजन का आधार डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा दिया गया विभाजन है, जो भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १५-१६ पर अंकित है। अभी तक विद्वान् किञ्चित् मत-भेद के बाद भी इसे ही मान कर चलते हैं।

[8] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७०।

संहिता रूप— "अग्निम् ईळे (ईडे) पुरोहितम्
यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्
होतारम् रत्न-धातमम् ॥" (ऋग्वेद १/१)

मूल अथवा अनुमानित रूप—
अग्निम् इज़्दइ पुरस्-धितम्
यज़्ञस्य दइवम् ऋत्विज़म्
ज़्ह्' तारम् रत्न-धा-तमम्

इसी प्रकार लोक प्रचलित प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र का भी अनुमानित रूप डॉ० चाटुर्ज्या ने प्रस्तुत किया है[1]—

संहिता रूप— "तत् सवितुर् वरेण्यम्
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।"

मूल या अनुमानित रूप—
"तत् सवितृस् वरइ णियम्
भर्गज़् दइवस्य धीमधि ।
धियस् यस् नस् प्र क्' उदयात्" ॥

यह मानते हुए कि भाषा विकासशील है और ऋग्वैदिक ऋषियों ने प्रारम्भ में भाषा के जिस रूप में ऋचाएँ लिखी होंगी, उस समय की भाषा में और ऋचाओं के संकलन काल तक की भाषा में अवश्य अन्तर आया होगा, परन्तु उपर्युक्त जो सम्भावित रूप डॉ. चाटुर्ज्या ने दिए हैं, उनसे ऐसा लगता है कि पाश्चात्य विद्वानों द्वारा ही आविष्कृत 'तालव्य-भाव का नियम' तथा अवेस्ता की भाषा को छान्दस से प्राचीन मानने की भावना ही काम कर रही है। कण्ठ्य स्थानीय क वर्ग का 'अ इ ए' स्वर के कारण तालव्य स्थानीय च वर्ग में परिवर्तित हो जाना 'तालव्य-भाव' का एक नियम है। इसीलिए डॉ. साहब को 'चोदयात्' का प्राचीन रूप 'क' उदयात्' खोजना पड़ा। साथ ही पाश्चात्यों ने समान ध्वनि और समान शब्द का सिद्धान्त भी बनाया। इस आधार पर कुछ समान शब्दों एवं ध्वनियों को प्राचीन मान कर मूल भाषा का अनुमान लगाया गया। इसके अर्वाचीन विद्वान् 'ज' की अपेक्षा 'ज़' ध्वनि को प्राचीन मानते हैं। क्योंकि यह अवेस्ता और ग्रीक में भी मिलती है। इसीलिए इन्हें भर्गो > भर्गः > भर्गस् के स्थान पर भर्गज़ करना पड़ा। इस सिद्धान्त की कठोर आलोचना डॉ. रामविलास शर्मा ने की है, जो अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण एवं

---

[1] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७१।

प्रशंसनीय है।[10] अवेस्ता में 'द व तथा ह्' की पूर्ववर्ती ध्वनि 'ए' के स्थान पर 'अज' प्राप्त होता है तथा 'सुप्' प्रत्ययों के 'स्' के स्थान पर भी वहाँ 'ज़' प्राप्त होता है तथा साथ ही 'य, व, ह्' के पूर्ववर्ती 'ओ' को 'अज' का स्थानी स्वीकार कर उक्त ऋचाओं का अनुमानित रूप प्रस्तुत किया गया है। यदि छान्दस 'एधि' के स्थान पर अवेस्ता में 'अज़धि' मिलता है तो इस का यह तात्पर्य नहीं कि 'ए' सर्वत्र 'अज़' ही बन जाए, जैसा कि इन्होंने उपस्थित किया है।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यदि हम छान्दस के पश्चकालीन विकास का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि पाश्चात्य विद्वान् जिन विकास सूत्रों का अवलोकन मूल भाषा से ग्रीक और उससे संस्कृत तक करते हैं, वे सूत्र संस्कृत से उत्तरोत्तर विकसित हुई भाषाओं में उपलब्ध होते है। इसका विस्तृत विवेचन हम पूर्व पृष्ठों में कर चुके हैं।

अस्तु, हम इस विवाद में न उलझ कर कि संकलन की भाषा मूल छान्दस है अथवा लेखन समय की भाषा का विकसित रूप है, यह देखने का प्रयास करेंगे कि इस समय जो भाषा का प्राचीनतम प्रमाणित रूप ऋग्वेद संहिता में उपलब्ध है, उसकी क्या-क्या प्रवृत्तियाँ हैं और उसका उत्तरोत्तर विकास किस प्रकार हुआ है ? भाषा के वैज्ञानिक विश्लेषण में उसकी ध्वनियों, पद-विन्यासों, कोष तथा वाक्य गठन आदि पर विचार किया जाता है। अतः हम सर्वप्रथम छान्दस की ध्वनियों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं—

ध्वनितत्त्व—

छान्दस भाषा में निम्नलिखित ध्वनियाँ विद्वानों ने चिह्नित की हैं—

(१) स्वर ध्वनियाँ—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, ए, ऐ, ओ, औ तथा अनुस्वार।

स्वरों की मुख्य प्रवृत्ति है, उनका 'बलाघात'। यह तीन प्रकार का होता है—(१) उदात्त, (२) अनुदात्त, (३) स्वरित। इस बलाघात से शब्दों के अर्थ में परिवर्तन आ जाता है। छान्दस में ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जहाँ एक ही शब्द बलाघात के कारण भिन्न-भिन्न अर्थ देने लगता है; यथा—'इन्द्र शत्रुः' में 'न्द्र' का उच्चारण यदि स्वरित किया जायेगा तो इसका अर्थ होगा 'इन्द्र है शत्रु जिसका' और यदि अन्त्य स्वर को उदात्त और प्रारम्भिक स्वरों को अनुदात्त उच्चारण करें तो 'इन्द्रशत्रु' का अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। प्रथम में बहुव्रीहि समास हो जाता है और द्वितीय में तत्पुरुष समास। अपश्रुति

---

[10] भाषा और समाज पृष्ठ, ११६–१४०।

का नियम भी उपलब्ध होता है पर इसकी पुष्टि अभी भी पूर्व कथित "अवेस्ता की भाषा प्राचीन है" सिद्धान्त के आधार पर की जाती है।

(२) व्यञ्जन ध्वनियां—क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग आदि स्पर्श ध्वनियां य, र, ल, व, श, ष, स, ह, : विसर्ग, जिह्वा मूलीय,[11] उपध्मानीय[12] तथा ट वर्ग के अन्तर्गत ळ, ळ्ह ध्वनियां जो 'ड और ढ' की स्थानी कही जा सकती हैं, मिलती हैं।

प्रवृत्तियां—वर्गान्त पांच अनुनासिक ध्वनियों में से केवल 'न और म' का अन्य व्यञ्जनों के समान स्वतन्त्र प्रयोग मिलता है। पदान्त में कहीं-कहीं 'ङ्' ध्वनि भी उपलब्ध होती है, यथा—प्रत्यङ्, कीदृङ् आदि। संस्कृत (छान्दस) में 'भ्' को 'ह्' का आदेश हो जाता है तथा 'घ्' के स्थान पर 'ह्' के उदाहरण मिलते हैं। ऋग्वेद के 'ष' का यजुर्वेद में 'ख' उच्चारण किया जाता है। पदादि 'य' का उच्चारण भी 'ज' होता है; यज्ञस्य>जज्ञस्य। ऋग्वेद के 'र्' का उच्चारण यजुर्वेद में 'ऋ' युत होता है; यथा—सहस्रशीर्षा>सहस्रशीरिषा, आदि 'श, स, ह्' से पूर्व के अनुस्वार का उच्चारण एक विशेष प्रकार का होता है जिसका लिपि चिह्न 'ँ' पाया जाता है।

रूप तत्त्व—

वैदिक शब्द रूपों को चार भागों में बांटा जा सकता है—१. नाम २. आख्यात, ३. उपसर्ग, ४. निपात। महर्षि यास्क ने 'नामाख्याते चोपसर्ग-निपाताश्च' के द्वारा ऐसा ही वर्गीकरण किया है। 'नाम और आख्यात' स्वतन्त्र चलते हैं और उपसर्ग तथा निपात' उनके साथ जुड़ कर अर्थ देते हैं।

(१) नाम—(क) इसके अन्तर्गत छान्दस के स्वरान्त तथा व्यञ्जनान्त समस्त संज्ञा, सर्वनाम तथा विशेषण शब्द आते हैं।

(ख) इसमें तीन वचन—१. एक वचन, २. द्विवचन, ३. बहुवचन; तीन लिङ्ग—१. स्त्रीलिङ्ग, २. पुल्लिग, ३. नपुंसक लिङ्ग; आठ कारक—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, सम्बन्ध, अधिकरण तथा सम्बोधन—पाए जाते हैं। प्रत्येक शब्द का प्रयोग लिङ्गानुसार तीनों वचनों एवं आठों कारकों में सुबन्त प्रत्यय लगाकर किया जाता है।

विशेषण शब्दों—संख्यावाचक शब्दों सहित—का प्रयोग भी सुबन्त प्रत्यय लगा कर ही किया जाता है।

सर्वनाम शब्दों की रूप निष्पत्ति संज्ञा शब्दों से कुछ भिन्न रूप में होती है।

---

[11] क तथा ख से पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ⨯ चिह्न।

[12] प तथा फ के पूर्व अर्द्ध विसर्ग सदृश ⨯ चिह्न।

नाम के अन्तर्गत महाभाष्यकार पतञ्जलि ने पाणिनि की वैदिक प्रक्रिया के अनुसार अनेक व्यत्ययो का उल्लेख किया है। 'सुपां व्यत्यय' के अन्तर्गत चतुर्थी के अर्थ में षष्ठी का प्रयोग, सप्तमी के स्थान पर प्रथमा और षष्ठी का प्रयोग, निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध होते है।[13] निर्विभक्तिक प्रयोग—परमे व्योमन् (व्योमनि के स्थान पर) शब्द रूपों में विकल्प की अधिकता, प्रथमा बहुवचन में देवाः तथा देवासः, तृतीया बहुवचन मे अर्कैः, पदेभिः, षष्ठी बहुवचन में 'गो' शब्द का 'गोनाम्, गवाम्' आदि प्राप्त होते है। समास प्रक्रिया में भी स्वच्छन्दता बरती जाती थी।

(२) आख्यात—समस्त धातुओं को विकरण की दृष्टि से दस गणो मे विभाजित किया गया है; यथा—भ्वादि, दिवादि, स्वादि, तुदादि, चुरादि आदि।

डॉ० उदयनारायण तिवारी ने वैदिक धातुओं की तीन प्रवृत्तियों की ओर संकेत किया है[14]—

१. धातु से पूर्व 'अ' के आगम का प्रयोग।

२. धातु का द्वित्व।

३. धातु एवं तिङ् प्रत्यय के मध्य विकरण का सन्निवेश। पाणिनि ने वैदिक प्रक्रिया मे क्रिया के काल एवं भावों के दस प्रकारो को वर्णित किया है; यथा—लट्, लिट्, लुट्, लृट्, लेट्, लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ् तथा लृङ्। आंग्ल भाषा में इनके समानार्थी शब्द निम्न प्रकार से है—

लट् (Present); लिट् (Perfect Past); लुट् (Periphrastic Future); लृट् (Simple Future); लेट् (Subjunctive); लोट् (Imperative); लङ् (Imperfect Past); लिङ् (Potential); लुङ् (Aorist); लृङ् (Conditional)।

धातुओं को 'स्व और पर' की दृष्टि से तीन भागों मे विभाजित किया गया है—१. आत्मनेपदी, २. परस्मैपदी, ३. उभयपदी।

वैदिक भाषा की मुख्य प्रवृत्ति-स्वच्छन्दता-तिङन्तों के प्रयोग और धातु पदो मे देखने को मिलती है—

१. संस्कृत की परस्मैपदी धातुओ का प्रयोग आत्मनेपद मे भी प्रयुक्त हुआ है, यथा इच्छते, इच्छति।

---

[13] षष्ठी युक्तश्छन्दसि वा, चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि, षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या, यजेश्च करणे, आदि—वैदिक व्याकरण, पृष्ठ १९।

[14] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६।

२. बहुवचन के लिए कहीं-कही एक वचन सहायक क्रियाओं का प्रयोग किया गया है—चपालं ये अश्व यूपाय तक्षति ('तक्षन्ति' के स्थान पर)।

३. 'तिङ्' प्रत्यय जोड़ते समय सार्वधातुक और आर्धधातुक का ध्यान नहीं रखा जाता। इसलिए 'वर्धन्तु और वर्धयन्तु' दोनों रूपों का प्रयोग वेद में मिलता है।

४. विकरण का व्यत्यय भी मिलता है; यथा—'भिद् धातु के साथ कहीं विकरण मिलता है और कहीं नहीं मिलता है। इसलिए वेद में 'भेदति' जैसा रूप भी मिलता है और भिन्दति, भिनत्ति जैसे रूप भी मिलते हैं।

५. कृदन्त प्रत्ययों के प्रयोग में भी नियमों की परवाह नहीं की गई है। 'त्वा और ल्यप्' का प्रायोगिक जो अन्तर संस्कृत में मिलता है, वह छान्दस में नही। 'त्वा' के स्थान पर 'ल्यप्' का प्रयोग धातु से पूर्व उपसर्ग जोड़ने पर ही किया जाता है, किन्तु छान्दस में उपसर्ग युक्त धातु के साथ भी 'त्वा' का प्रयोग कर दिया जाता है, जबकि संस्कृत में वहां पर त्वा का प्रयोग निषिद्ध है; यथा—परिधापयित्वा, आगत्वा आदि।

३-४ उपसर्ग और निपात—छान्दस में उपसर्गों तथा निपातों का प्रयोग बहुतायत से पाया जाता है। हां! कही-कहीं उपसर्ग को मूल शब्द से पृथक् लिखने की शैली भी दृष्टिगत होती है। कितने ही उपसर्ग तो ऐसे हैं कि जिनकी व्युत्पत्ति भी सन्दिग्ध है। निपातों में अकेले 'तुमुन्' अर्थ में प्रयुक्त होने वाले १८ प्रत्ययों का (निपात) विधान छान्दस में उपलब्ध होता है।

कोष शब्द भण्डार के सम्बन्ध में विद्वानों का मत है कि छान्दस के साहित्यिक भाषा होने पर भी तत्कालीन बोलियों का प्रभाव उस पर देखा जा सकता है। अतः अनेक ग्राम्य शब्द वैदिक साहित्य में खोजे जा सकते हैं। तैत्तिरीय संहिता में प्रयुक्त सुवर्ग (स्वर्ग) शब्द का प्रयोग सामयिक बोली का ही लगता है।[15] न केवल छान्दस् की बोलियों के ही शब्द, बल्कि तत्कालीन प्रचलित अनार्य भाषाओं के शब्दों को भी छान्दस में ग्रहण किया गया है। 'कदली, नाग, कुण्डतूल, नीर' आदि शब्द द्रविड़ भाषा परिवार और 'आस्ट्रिक भाषा परिवार' के अधिक समीप हैं। इसी प्रकार 'लिङ्ग और लगुड़' शब्दों की व्युत्पत्ति भी डॉ० चाटुर्ज्या ने आस्ट्रिक भाषा के शब्द के आधार पर की है—'लक्' मूल शब्द लग्>लङ्ग्>लिङ्ग।[16]

---

[15] डॉ० भोलानाथ तिवारी कृत भाषा विज्ञान, पृष्ठ १६९।

[16] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ५०।

संस्कृत भाषा के उद्भव से पूर्व की स्थिति

उपर्युक्त विशेषताएँ उस भाषा-विशेष से उद्धृत की गई हैं, जिसका रूप ऋग्वेदादि संहिताओं, ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों में वर्तमान है। आर्य जब सप्तसिन्धु प्रदेश में थे तब ये इन ऋचाओं का निर्माण कर रहे थे और बहुत सम्भव है कि बोलचाल में भी ये लोग इसी भाषा का प्रयोग करते थे। छान्दस में शब्दों की अनेकरूपता ही इस अनुमान का प्रमाण हो सकती है। प्रारम्भ में आर्यों में अटनशीलता एक विशेष प्रवृत्ति थी जो उस समय की परिस्थितियों के अनुकूल भी थी। तत्कालीन प्रायः सभी कबीले एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर अग्रसर होते रहते थे। डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि आस्ट्रिक परिवार के जन मूलतः भारतीय थे जो यहाँ से इण्डोनेशिया आदि स्थानों से होते हुए आस्ट्रेलिया पहुँचे और उनमें से कुछ पुनः भारत लौट आए।[17] आर्य तो प्रायः समस्त मध्य एशिया और समस्त योरप में फैल गये। अतः आर्य-जन धीरे-धीरे सप्तसिन्धु प्रदेश से मध्य देश के मार्ग से पूर्वी प्रदेशों की ओर बढ़ने लगे। इस अभियान में इनका अनेक अनार्य कबीलों से सम्पर्क हुआ। आर्यो ने उन पर विजय प्राप्त कर अपनी प्रभुता स्थापित की। वेदों में इस प्रकार के अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। इन जातियों ने विजेताओं से मधुर सम्बन्ध स्थापित करने हेतु आर्यो की भाषा सीखना प्रारम्भ किया। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के अनेक उल्लेख मिलते हैं, परन्तु अनार्य जातियों के लिए आर्य भाषा की कतिपय ध्वनियों; यथा—ऋ, ए, ऐ, ओ, औ, संयुक्त व्यञ्जन तथा अन्य ध्वनियाँ—का उच्चारण दुष्कर था, परन्तु फिर भी वे बड़े मनोयोग से इस भाषा को ग्रहण करने का प्रयत्न करते रहे होंगे। यह स्वाभाविक भी है। आज के भारतीय तो गौराङ्ग महाप्रभुओं के महा-प्रयाण करने के पश्चात् भी उनकी भाषा को सीखने, पढ़ने का प्रयत्न छोड़ने को तैयार नही हैं, बल्कि अभी तक उसे राजभाषा का गौरवमय पद प्रदान किए हुए हैं, परन्तु उस समय की स्थिति कुछ भिन्न थी, आर्य लोगों को यह रुचिकर न था कि अशिक्षित लोग आर्य भाषा का अशुद्ध उच्चारण करें। अतः अनेक स्थानों पर आर्य ऋषियों ने उनके प्रति क्षोभ प्रकट किया है तथा उन्हें आसुर्य, राक्षस, बर्बर तथा झगड़ालू वृत्ति वाला कहा गया है। ताण्ड्य या पञ्चविंश ब्राह्मण में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि व्रात्य लोग उच्चारण में सरल एक वाक्य को कठिनता से उच्चारण किया जाने वाला कहते हैं। आर्यधर्म में दीक्षा प्राप्त किए बिना ही दीक्षित आर्यो की भाषा बोलने का उपक्रम

---

[17] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ४८-४६।

करते हैं।[18] डॉ० चाटुर्ज्या ने व्रात्य जाति के सम्बन्ध में लिखा है कि व्रात्य जाति से आर्यों का तात्पर्य उस अटनशील जाति विशेष से था जो वैदिक अग्निहोत्र और ब्राह्मणों की सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था को नहीं मानने वाले थे।[19]

जहां एक ओर इन ब्राह्मण ऋषियों ने भाषा के अशुद्ध उच्चारण करने वालों का उल्लेख किया है, वहां भाषा के शुद्ध एवं सही उच्चारण करने वालों के लिए किया गया निर्देशन भी स्थान-स्थान पर उपलब्ध होता है। भाषा के शुद्ध उच्चारण करने वालों में उदीच्य जनों का नाम विशेष रूप से लिया गया है। उदीच्य प्रदेश में भाषा बड़ी जानकारी से बोली जाती है, भाषा सीखने के लिए लोग उदीच्य जनों के पास ही जाते हैं, जो भी वहां से लौटता है, उससे सुनने की इच्छा करते हैं।[20]

उपर्युक्त उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि वैदिक युग में ही छान्दस भाषा विकास की ओर अग्रसर थी तथा ब्राह्मण ऋषि इस अवाञ्छित विकास को रोकने के प्रति पर्याप्त मात्रा में सतर्क थे, किन्तु भाषा का प्रवाह कभी बन्धन स्वीकार नहीं करता, लाख प्रयत्न करने पर भी वह अपनी गति से अग्रसर रहती है। विद्वान् लोग उसे स्थायी एवं एकरूप बनाने के लिए व्याकरण के नियमों का निर्माण करते हैं, भाषा की शुद्धता की दुहाई देते हैं, किन्तु जन साधारण अपनी सुविधा के अनुसार भाषा का विस्तार एवं प्रसार रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक परिवर्तनों द्वारा करता चला जाता है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इस प्रकार के उल्लेख मिलने के कारण हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच सकते हैं कि भाषा का यह परिवर्तन ब्राह्मण ग्रन्थों के लेखन काल तक पर्याप्त मात्रा में प्रकाश में आ चुका था। ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल तक आर्य संस्कृति और भाषा आधुनिक बिहार प्रदेश तक पहुँच चुकी थी, क्योंकि व्रात्यों से इनका सम्पर्क लगभग पूर्वी प्रदेशों में ही हुआ है। अतः हम कह सकते हैं कि इस समय में दो बोलियां तो कम से कम ऐसी थीं जिन्हें ब्राह्मण ऋषियों ने पूर्णतः चिह्नित कर लिया था—एक तो उन लोगों की बोली, जो अशुद्ध उच्चारण करते थे अर्थात् पूर्वी प्रदेशों की बोली, दूसरी उन लोगों की बोली, जो कट्टरतावादी थे और भाषा का पूर्ण रूप से शुद्ध उच्चारण करते थे,

---

18 अदुरुक्तं वाक्यं दुरुक्तम् आहुः अदीक्षिता दीक्षितवाचम् वदन्ति। (ताण्ड्य ब्राह्मण, १७/४)।

19 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७२।

20 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७२ से उद्धृत—तस्माद् उदीच्याम् प्रज्ञाततरा वाग् उद्यते; उदञ्च उ एव यन्ति वाचम् शिक्षितम्; यो वा तत आगच्छति तस्य वा शुश्रूषन्त इति। (कौषीतकी ब्राह्मण, ७/६)

अर्थात् पश्चिमोत्तरी प्रदेश के उदीच्य जनों की। ब्राह्मण ग्रन्थों में प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष केवल इन दो बोलियों का ही उल्लेख मिलता है किन्तु डॉ० चाटुर्ज्या का मत है कि इन दोनों के बीच एक ऐसी भाषा अवश्य रही होगी जो न तो पश्चिमोत्तर उदीच्य की भाँति रूढ़िबद्ध ही रही होगी और न पूर्व की प्राच्या की तरह शिथिल और स्खलित ही। अर्थात् वह दोनों के बीच के मार्ग का अनुसरण करती रही होगी।[21] उक्त दोनों प्रदेशों के बीच में बोली जाने वाली बोली की कल्पना विद्वानों ने मध्य देशीय बोली के नाम से की है, जिससे आगे चल कर अनेक प्राकृतों, अपभ्रंशों एवं आधुनिक भाषाओं का प्रादुर्भाव हुआ। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों के काल में निम्नलिखित तीन बोलियाँ जन साधारण में प्रचलित थीं—

(१) **उदीच्या**—इसके क्षेत्र में आधुनिक पंजाब एवं पश्चिमोत्तर प्रदेश अर्थात् अफ़गानिस्तान तक का भू-भाग समाविष्ट किया जा सकता है।

(२) **मध्यदेशीया**—इसमें वर्तमान उत्तर प्रदेश आ जाता है।

(३) **प्राच्या**—प्राच्य देश के अन्तर्गत वर्तमान बिहार और बंगाल आते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि छान्दस भाषा के साथ-साथ उपर्युक्त तीनों बोलियाँ धीरे-धीरे पनपती जा रही थी। इसके अतिरिक्त यदि हम समस्त वैदिक साहित्य का सूक्ष्म भाषा-वैज्ञानिक विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि ऋग्वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा परस्पर पूर्ण साम्य को व्यक्त करने में सक्षम नहीं है। विशेषकर, रूप की दृष्टि से कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। ऐसा लगता है कि यह रूप छान्दस से अपेक्षाकृत कुछ सरल है। अतः बहुत सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थों का प्रणयन ऋषियों ने परस्पर की बोलचाल एवं शिक्षण कार्य के लिए प्रयुक्त की जाने वाली भाषा में किया हो। डॉ० चाटुर्ज्या ने इसकी उत्पत्ति दो प्रकार से दिखाई है, या तो उस भाषा का नवीन रूप जो प्राचीनतम भारतीय आर्य भाषा का साहित्यिक रूप था और ब्राह्मण लोग पाठशालाओं मे अध्ययन करते थे, अथवा मध्यदेशीय और प्राच्या के उपादानों से युक्त उदीच्या का एक पुराना रूप।[22]

वास्तविक बात तो यह है कि गौतम बुद्ध के रंगमञ्च पर उपस्थित होने से पूर्व भारतीय आर्य भाषा अति तीव्र गति से विकास की ओर अग्रसर थी। इसका रूप अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं में बढ़ता जा रहा था। अनार्य जातियाँ इस विकास में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान कर रही थीं; एक तो

---

[21] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७३।

[22] वही, पृष्ठ ७५।

अशुद्ध उच्चारणों एवं प्रयोगो द्वारा आर्य भाषा की शब्दावली को नवीन रूप देकर—भर्तृ का भत्त या भट्ट उच्चारण करके—द्वितीय जाने और अनजाने में 'नारिकेल और हरिद्रा' जैसे अपने शब्दों का प्रवेश करवा कर। उधर भाषा की विकासशील प्रवृत्ति भी कार्य निरत थी।

उपर्युक्त प्रत्यालोचन के पश्चात् छान्दस युग की भाषागत स्थिति पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है। इस समय भाषा तीन रूपों में विकसित हुई सी दृष्टिगत होती है। इस विकास को निम्न प्रकार से प्रदर्शित किया जा सकता है—

(१) 'छान्दस' की तीन बोलियाँ—(क) प्राच्या, (ख) मध्यदेशीया, (ग) उदीच्या—पूर्णतः प्रकाश मे आ चुकी थी।

(२) ऋग्वेद की साहित्यिक भाषा, जिसे पाठशालाओं में पढ़ाया जाता था।

(३) परस्पर बातचीत की विद्वानों की भाषा, जो छान्दस को पढ़ाने का माध्यम थी तथा जिसमें ब्राह्मण ग्रन्थों का सर्जन हुआ था।

यह तो सिद्ध हो गया कि बुद्ध से पूर्व उत्तर-भारत में तीन बोलियों का उद्भव हो चुका था, किन्तु यह सिद्धि ब्राह्मण ग्रन्थों मे उल्लिखित सन्दर्भो पर ही आधारित है। आज हमारे समक्ष उन बोलियों का कोई भी रूप नही है जिससे उसका सूक्ष्म विश्लेषण कर नवीन तथ्यों को खोज निकाला जाए। अधिक से अधिक इन प्रदेशों की बाद की साहित्यिक भाषाओं के आधार पर उन बोलियों के रूपों एवं ध्वनियों का अनुमान लगाया जा सकता है। प्राचीन आधारों में महाभाष्यकार पतञ्जलि ने ध्वनि-परिवर्तन का संकेत दिया है, जो डॉ॰ चाटुर्ज्या की दृष्टि में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। व्याकरण अध्ययन की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इन्होंने लिखा है—

"तेऽसुरा हेऽलयो हेऽलय इति कुर्वन्तः परावभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै म्लेच्छो ह वा एव यदपशब्दः।"[23]

वे असुर हेअलय! हेअलय! कहते हुए हार गए। अतः ब्राह्मण लोग अशुद्ध उच्चारण से म्लेच्छ भाषा बोलने वाले न बनें। इससे ज्ञात होता है कि अनार्य जन छान्दस 'र' के स्थान पर 'ल' का उच्चारण करते थे, द्वितीय

---

[23] गद्य परिजात—सं० डॉ० सूर्यकान्त, पृष्ठ १६। टीका में शतपथ को उल्लिखित किया है—'माध्यदिनानां शतपथब्राह्मणे तु "हेलवो हेवल इति वदन्तः"। वही, पृष्ठ २०। आर्यो की मूल जन्म भूमि मे यह पाठ इस प्रकार है—ते असुरा अत्त वचसो, हे अलयो! हे अलय। इति वदन्तः परावभूवुः तस्मान्न ब्राह्मण म्लेच्छेत्।

शतपथ ब्राह्मण में पाठ भेद से 'हेलय' के स्थान पर 'हेलव' भी मिलता है।[24] इससे निष्कर्ष निकलता है कि वे 'य' के स्थान पर 'व' का उच्चारण करते थे। इनके अतिरिक्त अन्य कोई उल्लेख तत्कालीन बोली की प्रवृत्तियों का नहीं मिलता। इन आधारों पर जब बाद की साहित्यिक भाषाओं का अध्ययन करते हैं, तो मागधी प्राकृत में सर्वत्र 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है; यथा—

राजा>लाजा, क्षोर>खोल, भर्ता>भल्ता, क्षुद्र>खुल्ल।

अब यदि मागधी को प्राच्या का साहित्यिक रूप इस आधार पर मान लें तो कुछ ऐसी प्रवृत्तियों को भी स्वीकार किया जा सकता है जिनका प्रयोग प्राच्या में होता रहा होगा; यथा—'र त' के संयोग पर दोनों का मूर्धन्यीकरण हो गया है—वि>कृत>विकट, भर्तृ>भट्ट, कर्तृ>कट्ट, कृत>कट, नि>कृत>निकट—मध्य-देशीय में ये रूप क्रमशः भत्त, कत्त आदि हुए होंगे।

डॉ० उदयनारायण तिवारी का मत है कि प्राच्या की यह प्रकृति इतनी बलवती हो गई थी कि परवर्ती भाषा का द्योतक दशम मण्डल उसे अपनाए हुए है।[25] यथाः—रम्>लम्, रोमन्>लोमन्, म्रुच्>म्लुच्। आपके अनुसार अन्य मण्डलों में कमशः 'रम्, रोमन्, म्रुच्' का प्रयोग हुआ है।

इन सब में उदीच्या में ये ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं हुए होंगे। उदीच्या की यह मुख्य प्रकृति लक्षित की गई है कि वह परिवर्तन के प्रति विशेष रुचि नहीं रखती। अतः वह रूढ़िवादी एवं कट्टरतावादी है। डॉ. चाटुर्ज्या भी तिवारी जी के उपरिकथित मत से सहमत हैं।[26] आपने अनेक उदाहरणों द्वारा इस मत की पुष्टि की है।

भाषागत यह स्थिति अधिक से अधिक उलझनदार होती जा रही थी। ब्राह्मण ऋषि भाषागत शुद्धता के हामी होते हुए भी दिन प्रति-दिन छान्दस में प्रवेश पा रहे, ग्राम्य बोलियों के शब्दों एवं निपातों को रोक नहीं पा रहे थे। बहुत सम्भव है कि वेदों की ऋचाओं के रचयिता ऋषि उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों के निवासी रहे हों तथा उनमें से कुछ भाषा-नीति में उदार भी रहे हों और प्रान्तीय बोलियों के शब्दों को अपनाने में हिचकचाहट न करते हों। परिणाम स्वरूप छान्दस् में विकल्पों की भरमार होती जा रही थी और

---

[24] वैयाकरण महाभाष्य, पृष्ठ २२—शाखान्तरे हेलव हेलवोः इति।

[25] हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ५५।

[26] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०७–११०।

व्याकरण के नियम शिथिल होते जा रहे थे।[27] उधर प्राच्य लोग वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति अपनी अनास्था प्रकट करने लगे थे। फलतः छान्दस् को स्वीकार करने को तत्पर न थे। गौतम बुद्ध और उनके दो शिष्यों का छान्दस् के सम्बन्ध में संवाद ही इसका प्रमाण है। उस समय इस बढ़ती हुई भाषा की रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक अव्यवस्था को अवरुद्ध कर देने के लिए तथा समस्त उत्तर भारत के समस्त जनों के लिए मान्य, उदीच्या बोली को आधार बना कर शालातुरीय विद्वान् पाणिनि ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रणयन किया और लगभग ई० पू० ५०० में संस्कृत नाम की नवीन भाषा अस्तित्व में आई।

पाणिनि ने छान्दस् के रूप वैविध्य के प्रशमन हेतु अपने व्याकरण का सर्जन किया तथा इसी भाषा-संस्कार के कारण इसे "संस्कृत" कहा जाने लगा। इस संस्कृत भाषा में कुछ ऐसी विशेषताएँ थीं कि तुरन्त ही अफ़ग़ानिस्तान से लेकर बंगाल तक के ब्राह्मणों द्वारा अपना ली गई। अपनाने के पीछे स्पष्ट ही दो कारण थे, एक तो संस्कृत छान्दस की स्वछन्दता पर अंकुश का काम करने के लिए प्रकाश में आई थी और ब्राह्मण ग्रन्थों एवं उपनिषदों के प्रणेता ऋषि भाषा की इस अनेक रूपता से परेशान थे। अतः संस्कृत से उन्हें एक प्रकार का सुख मिला। दूसरे, संस्कार-कर्ता ब्राह्मण उस प्रदेश से सम्बन्ध रखता था जहाँ की बोली समस्त आर्यजन एक आदर्श बोली के रूप में स्वीकार करते थे। संस्कृत की सब से बड़ी महत्ता यह है कि छान्दस के कट्टर विरोधी बौद्धों ने भी अपने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन इस भाषा में किया। इस प्रकार छान्दस के पश्चात् भारतीय आर्य भाषा का दूसरा महत्त्वपूर्ण साहित्यिक रूप संस्कृत के नाम से रंगमञ्च पर जम गया और आज तक न्यूनाधिक रूप में भारतीय हिन्दू समाज

---

[27] डॉ० श्यामसुन्दर दास ने इस अव्यवस्था का अच्छा निदर्शन किया है—विभिन्न स्थानों के आर्य, भाषा में विभिन्न प्रकार के प्रयोग काम में लाते थे। 'तुम दोनों के लिए' कोई 'युवाम्' बोलता था, कोई 'युवम्' और कोई केवल 'वाम्' से ही काम चला लेता था। इसके अतिरिक्त 'पश्चात् और 'पश्चा', 'युष्मासु और युष्मे', 'देवाः और देवासः', 'श्रवण और श्रोणा', 'अवद्योतयति और अवज्योतयति', देवैः और देवेभिः आदि दोहरे प्रयोग चलते थे। कुछ लोग विभक्ति न लगा कर केवल प्रातिपदिक का ही प्रयोग कर डालते थे (यथा—परमे व्योमन्), तो कुछ शब्द का अंग भंग करने पर सन्नद्ध थे। 'आत्मना—त्मना' इसका अच्छा उदाहरण है। कोई व्यक्ति किसी अक्षर को एक रूप में बोलता था तो दूसरा दूसरे रूप में। एक 'ड' कहीं 'ल, ल्' कहीं 'ढ़' तथा कहीं 'ल्ह्' बोला जाता था। (हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ६)।

के हृदयों पर जमी हुई है। हिन्दुओं के समस्त सांस्कृतिक कार्यक्रम इसी भाषा के माध्यम से सम्पन्न होते हैं। संस्कृत पढ़ना एक पुण्य कार्य समझा जाता है। डॉ० चाटुर्ज्या ने संस्कृत के उद्भव के सम्बन्ध में लिखा है—"उसके तथा उसकी भाषा के सौभाग्य से इसी समय एक महान् वैयाकरण का पश्चिमोत्तर प्रदेश में उदय हुआ, जहाँ के जनसाधारण की बोलियाँ अब तक भी छान्दस और ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा के रूप तत्त्व, ध्वनि विज्ञान तथा व्याकरण की दृष्टि से इतनी निकट थीं कि उनसे भिन्न प्रतीत न होकर केवल उसका एक लौकिक या प्रचलित रूप बनी हुई थी। इस लौकिक रूप पर स्थानीय जन भाषाओं की शब्दावली और मुहावरों का प्रभाव पड़ चुका था, तब भी पाणिनि ने अपने व्याकरण से हमेशा के लिए साहित्यिक संस्कृत के रूप में नियम बद्ध कर दिया। इस प्रकार वैदिक भाषा और ब्राह्मण ग्रन्थों की साहित्यिक भाषा के पश्चात् भारतीय आर्य भाषा का तीसरा रूप साहित्यिक संस्कृत प्रतिष्ठित हुआ। मूलतः यह उदीच्य बोलियों पर आधारित था और मध्य देश, पूर्व तथा दक्षिण के भी अखिल ब्राह्मण जगत् ने इसे सहर्ष स्वीकर कर लिया।"[26]

पूर्व कथित तीन बोलियों में से उदीच्या ने साहित्यिक बाना पहन कर बोली से भाषा के पद पर अपने को अधिष्ठित कर अपनी पदवृद्धि का शंखनाद किया। यद्यपि इन दिनों गौतम बुद्ध और महावीर स्वामी अपने प्रवचनों की अभिव्यक्ति छान्दस के माध्यम से न कर उनका प्रचार एवं प्रसार तत्कालीन लोक-भाषाओ में कर रहे थे तो भी वे संस्कृत के चतुर्मुखी विकास को रोक न सके और भाषागत इस संघर्ष में बौद्धों एवं जैनियों को पराजय का मुखावलोकन करना पड़ा।

संस्कृत का भाषा-तात्त्विक विवेचन

ध्वनि तत्त्व :

छान्दस की अति समीपी बोली उदीच्या पर आधारित होने पर भी संस्कृत में ध्वन्यात्मक दृष्टि से अनेक स्थानों पर भिन्नता दृष्टिगत होती है। अनेक ध्वनियों को छोड़ दिया गया, अनेकों के उच्चारण में अन्तर आ गया।

स्वर—संस्कृत में छान्दस के प्रायः समस्त स्वर मिलते हैं। केवल दीर्घ 'ॠ' और 'ॡ' का त्याग कर दिया गया। ह्रस्व 'ऌ' केवल 'क्लृप्' धातु में ही प्रयुक्त हुई है। अइ (ऐ) अउ (औ) के उच्चारण शिथिल हो गए। डॉ० सरनामसिंह ने स्वरों, व्यञ्जनों के उच्चारण में हुए परिवर्तनों की भी

---

[26] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७७।

लकार भी छान्दस भाषा में जिन-जिन भावों की अभिव्यक्ति करते थे उनकी संस्कृत में नहीं करते। आपने अपने मन्तव्य को इस प्रकार स्पष्ट किया है—"वैदिक तथा संस्कृत में सब से अधिक भिन्नता धातु रूपों में दिखाई देती है। संस्कृत में 'अभिप्राय' (लेट् Subjunctive तथा निर्बन्ध Injunctive) भावों के रूप लुप्त हो गए हैं। 'अभिप्राय' के उत्तम पुरुष के रूप संस्कृत में अनुज्ञा (लोट् Imparetive) में मिला लिए गए और निर्बन्ध भाव का प्रयोग केवल निषेधार्थक 'मा' अव्यय के साथ ही रह गया है। संस्कृत में केवल वर्तमान काल में ही धातु के विभिन्न भावों के रूप उपलब्ध होते हैं तथा सामान्य अतीत के 'विधि' (आशीर्लिङ्) के रूप में मिलते हैं। वैदिक भाषा के वर्तमान सम्पन्न तथा सामान्य भविष्यत् के भी कुछ-कुछ भावों के रूप मिलते हैं।"[28]

संस्कृति में अनेक नवीन धातुओं की सृष्टि हुई है।

संस्कृत में कृदन्तों के प्रयोग के प्रति तो अभिरुचि अधिक है, किन्तु अनेक रूप प्रतिबद्ध हैं; यथा—छान्दस में 'त्वा और ल्यप्' के प्रयोग में कोई नियम नहीं, जबकि संस्कृत में उपसर्ग रहित धातु के साथ 'त्वा' और उपसर्ग सहित धातु के साथ 'ल्यप्' का प्रयोग मिलता है।

संस्कृत में क्रियाजात विशेषणों तथा असमापक पदों का उतना प्राचुर्य नहीं है, जितना छान्दस भाषा में है।

उपसर्ग और निपात—छान्दस मे उपसर्गों को शब्द से पृथक् लिखने की जो प्रथा थी वह प्रायः समाप्त हो गई। निपातों की संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई, साथ ही वैदिक संस्कृत के ते, तवै, तात्, ताति, त्वन् आदि कृदन्त तथा तद्धित प्रत्यय लुप्त हो गए। छान्दस में समास पद्धति तो पाई जाती है, पर संस्कृत में विशेषकर उत्तर काल में जितनी जटिल है, वैसी नहीं। छान्दस में द्वन्द्व समास में दो प्रणालियाँ काम में लाई जाती हैं—पहली प्रणाली में दोनों पद विशेषण होते हैं; यथा—नील-लोहित, ताम्र-धूम्र आदि। द्वितीय प्रणाली में दोनों पद द्विवचन में होते हैं, यथा—मित्रा वरुणौ, सूर्या चन्द्रमसौ, इन्द्रवायू, पर संस्कृत में इन सब के स्थान पर द्वन्द्व समास में केवल अन्त्य पद के लिए द्विवचन का विधान कर उसका रूप स्थिर कर दिया गया; यथा—रामलक्ष्मणौ, मातापितरौ।

कोष—संस्कृत के शब्द भण्डार को सर्वाधिक मात्रा में प्राकृत भाषाओं ने प्रभावित किया। वट, निकट, विकट, नापित जैसे शब्द प्राकृत हैं। तदुपरान्त

---

[28] हिन्दी भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ५८।

तृतीय अध्याय

मध्य कालीन भारतीय आर्य भाषाएँ

प्राच्या बोली का विकास—गौतम बुद्ध का अपनी मातृ-भाषा में ही उपदेश देना—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं का काल-विभाजन—प्राकृत भाषाओं की प्रकृति पर विचार-विमर्श—चण्ड, हेमचन्द्र, दण्डी, वाग्भट्ट, मार्कण्डेय, षड्भाषा-चन्द्रिका, धनिक, प्राकृत-चन्द्रिका, पाश्चात्य एवं आधुनिक भाषा वैज्ञानिक—वैदिक संस्कृत और प्राकृतों का सम्बन्ध—प्राकृतों का प्रादुर्भाव—छान्दस से अथवा संस्कृत से—प्राकृतों की महत्ता का दिग्दर्शन—प्राकृतों की संख्या—कुवलयमाल कथा तथा अन्य वैयाकरण एवं डॉ. चटर्जी का मत।

संस्कृत को यद्यपि समस्त उत्तर भारत ने एक साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के रूप में अपना लिया था, फिर भी भाषा का यह संघर्ष गौतम बुद्ध के कार्य क्षेत्र में अवतरित होने तक गम्भीर रूप धारण कर चुका था। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि अनार्यों के सम्पर्क में आने से छान्दस भाषा अपना स्वरूप सुरक्षित नहीं रख सकी थी और प्राच्य-प्रदेश की भाषा छान्दस से इतनी दूर जा चुकी थी कि उदीच्य निवासी को उसे समझने में कठिनाई होती थी। अतः भगवान् बुद्ध ने अपने उपदेशों के प्रसार एवं प्रचार के लिये अपनी मातृ-भाषा को ही साधन बनाया और परिणाम स्वरूप प्राकृतों का प्रादुर्भाव हुआ। अब यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या संस्कृत के समान प्राकृत भी कोई एक साहित्यिक भाषा थी जो समस्त भू-खण्ड पर अपना एकछत्र प्रभुत्व जमाए हुए थी; अथवा भिन्न-भिन्न प्रदेशों में भिन्न-भिन्न नाम वाली प्राकृतें अपने साहित्य-सर्जन में लीन थीं। यदि साहित्य की प्राचीनता की दृष्टि से उपर्युक्त बोलियों के अभ्युत्थान के इतिहास पर दृष्टिपात करें तो ऐसा लगता है कि मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा को तीन मुख्य वर्गों में पर्वों अथवा अवस्थाओं में विभाजित करना पड़ेगा, क्योंकि ये तीनों वर्ग अपनी विशेषताओं एवं प्रवृत्तियों की दृष्टि अपने आप में आदिकालीन भारतीय आर्य भाषा के तीन वर्गों की अपेक्षा अधिक अन्तर एवं गहन विकास के चिह्नों को धारण किए हुए है।

इस विभाजन को डॉ. चाटुर्ज्या ने अपनी पुस्तक, 'भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी (पृष्ठ १०८ पर)', में चार अवस्थाओं में प्रदर्शित किया है—म. भा. आ. की विभिन्न अवस्थाओं—प्राथमिक म. भा. आ. परिवर्तन कालीन म. भा. आ. द्वितीय या माध्यमिक म. भा. आ. तथा अन्त्य म. भा. आ. या अपभ्रंश—किन्तु कुछ आगे चलकर आपने केवल उसे तीन तक ही सीमित कर दिया है—एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न आद्य, मध्य तथा अन्त्य म. भा. आ. की विभिन्न बोलियों के प्रादेशिक सम्बन्धों का निरूपण करना है।[1] डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इसे पर्वों की संज्ञा दी है, किन्तु अवस्थायें तीन ही निरूपित की हैं—जनपदीय भाषाओं का स्वरूप निरन्तर परिवर्तित-परिवर्धित होता रहा। ६०० ई० पूर्व से १००० ई० तक के १६०० वर्षों तक भारतीय आर्य भाषा विभिन्न प्राकृतों तथा तत्पश्चात् अपभ्रंश के रूप में विकसित होती हुई आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की जननी बनी। आर्य भाषा के मध्य-

---

1 भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०८-१०९।

कालीन स्वरूप के विकास का ठीक-ठीक विवेचन करने के लिये १६०० वर्षो के इस काल को निम्न पर्वों में बाँटा जा सकता है—

१. प्रथम पर्व, जिसमें लगभग २०० ई० पू. तक प्रारम्भिक परिवर्तन तथा २०० ई० पूर्व से २०० ई० तक का विकास अन्तर्भूत है।

२. २०० ई० से ६०० ई० तक द्वितीय पर्व।

३. ६०० ई० से १००० ई० तक तृतीय पर्व।

कुछ विद्वान् इन्हें—१. प्रथम प्राकृत, २. द्वितीय प्राकृत व ३. तृतीय प्राकृत कहकर भी अपना कार्य सम्पन्न कर लेते है। हम इन्हें इन सभी अप्रत्यक्ष नामों से अभिव्यक्त न कर प्रत्यक्ष एवं स्पष्ट रूप में—१. पालि तथा अशोक के शिला-लेखों की भाषा, २. साहित्यिक प्राकृतें, तथा ३. अपभ्रंश—अभिहित करना ही उचित समझते हैं। वस्तुतः विद्वानों ने मध्य भारतीय आर्य भाषा काल की समस्त भाषाओं को ही प्राकृत माना है और देश-भेद के अनुसार ही वे इनका वर्गीकरण करते है, जो उचित नही है। इससे पूर्व कि हम मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की तीन अवस्थाओं का भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन करें, यह आवश्यक हो जाता है कि हम 'प्राकृत' शब्द के स्वरूप को समझ लें कि मध्यकालीन भाषा का नाम "प्राकृत" क्यों पड़ा ? 'प्राकृत' शब्द पर विचार करते हुए प्राकृत वैयाकरणों ने इसकी व्युत्पत्ति 'प्रकृति' शब्द से सम्पन्न की है। वे इसकी व्याख्या इस प्रकार करते है कि किसी न किसी भाषा की प्रकृति होती है तथा उस प्रकृति से उत्पन्न रूप ही 'प्राकृत' कहलाता है। प्रकृति शब्द का निर्वचन है—'प्रक्रियते उत्पद्यते यया सा प्रकृतिः'। सर्वप्रथम 'प्राकृत-सर्वस्व' के रचियता 'चण्ड' ने प्राकृत के लक्षण में बताया है कि प्राकृत वह भाषा-विशेष है जिसकी योनि (उद्भूयते यस्याः सा योनिः) संस्कृत है। 'संस्कृत-योनि' इति प्राकृतस्य प्रकारं लक्षितवान्।[2] प्राकृत भाषा के महान् वैयाकरण हेमचन्द्र ने भी अपने 'प्राकृत शब्दानुशासन' में 'अथ प्राकृतम्' (८.१-१) सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—"प्रकृति संस्कृत है, उससे उत्पन्न अथवा विकसित भाषा ही प्राकृत है।" (अथ प्राकृतम्, ८.१-१) प्रकृतिः संस्कृतम्। तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्।

दण्डी ने अपने 'काव्यादर्श' में भी इसी प्रकार के विचार व्यक्त किये है। आपके अनुसार महर्षियों ने संस्कृत को देववाणी कहकर उसकी व्याख्या की है। इसी देववाणी से विकसित अथवा इसी के समान शब्दों वाली अनेक प्राकृतों

---

[2] अपभ्रंश काव्य त्रयी, भूमिका, पृष्ठ ८२।

का क्रम है ('संस्कृतं नाम दैवी—वागन्वाख्याता महर्षिभिः। तद् भवस्तत्समो-देशीत्यनेकः प्राकृतः क्रमः)।'[3]

वाग्भट्ट ने भी लगभग दण्डी से मिलते-जुलते विचारों की ही, इस विषय पर अभिव्यक्ति की है। आपके अनुसार भी संस्कृत देवताओं की भाषा है तथा शब्द-शास्त्र में उसका स्वरूप भी स्थिर कर दिया गया है। प्राकृत तो संस्कृत से विकसित तथा उन्हीं के समान देशी शब्दों से युक्त अनेक प्रकार की है।

यथा—'संस्कृतं स्वर्गिणां भाषा शब्द-शास्त्रेषु निश्चिता। प्राकृतं तज्ज-तत्तुल्य-देश्यादिकमनेकधा'।[4] कथारूपकपरिभाषा में भी प्राकृत को संस्कृत की विकृति ही माना है। ('प्रकृतेः संस्कृतायास्तु विकृतिः प्राकृती मता। तद्भवा संस्कृतभवा सिद्धा साध्येति सा द्विधा।')। (षड्भाषा चन्द्रिकायाम्)

'प्रकृतिः संस्कृतं। तत्र भवं प्राकृतमुच्यते।' (मार्कण्डेय—पृष्ठ १)

'प्रकृतेरागतं प्राकृतं, प्रकृतिः संस्कृतम्'। (धनिक दशरूपक—वृत्ति २/६०)

'प्रकृतिः संस्कृतं तत्र भवत्वात् प्राकृतं स्मृतम्'। (प्राकृत चन्द्रिका)

'प्राकृतस्य सर्वमेव संस्कृतम् योनिः। (वासुदेव-कर्पूरमञ्जरी टीका)

उपर्युक्त उद्धरणों के अध्ययन के पश्चात् हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

१. क्या मध्यकालीन प्राकृत भाषाएं संस्कृत भाषा का विकृत रूप है?

२. क्या प्राकृतों की अपनी कोई लोक बोली थी? यदि हां, तो उस बोली का उद्भव क्या है?

हम इससे पूर्व यह देख चुके हैं कि अनार्यों के सम्पर्क में आने से छान्दस भाषा में विकार उत्पन्न होते जा रहे थे, इसका उल्लेख स्थान-स्थान पर ब्राह्मण ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। 'र' और 'ल' का अभेद जिसकी ओर 'शतपथ-ब्राह्मण' में 'हे अरयः' के स्थान पर 'हे अलयः' का उदाहरण देकर निर्देशित किया है। वह प्राच्य भाषाओं की विशेषता मागधी प्राकृत में भी उपलब्ध होती है। दूसरे प्राकृत भाषा में प्राप्त अनेक तद्भव शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत भाषा से सिद्ध नहीं होती। विद्वानों का मत है कि उक्त शब्द छान्दस भाषा के उन शब्दों के तद्भव रूप हैं जिनका प्रयोग संस्कृत में बन्द हो गया था। ऋग्वेद में अकारान्त शब्दों के प्रथमा एवं तृतीया के बहुवचन में 'देवाः और देवैः' रूपों के साथ साथ 'देवासः और देवेभिः' रूप भी उपलब्ध होते हैं। संस्कृत में अकारान्त शब्दों के क्रमशः प्रथमा बहुवचन एवं तृतीया बहुवचन के

---

[3] काव्यादर्श, १/३३।

[4] वाग्भटालङ्कार, २/२।

'आसः और एभिः' वाले रूपों का प्रयोग प्राप्त नहीं होता है । पालि में प्रथमा बहुवचन 'आ और आसे'[6] अन्त वाले रूप (दोनों) उपलब्ध होते है; यथाः— देवा और देवासे' । तृतीया बहुवचन में संस्कृत में स्वीकृत 'देवैः' रूप का अनुकरण न कर छान्दस के 'देवेभिः' के आधार पर 'बुद्धेहि और बुद्धेभि' रूपों के प्रयोग का प्रचलन दृष्टिगत होता है । आगे चलकर अन्य प्राकृतों ने भी छान्दस के 'एभिः' वाले रुप को ही अपनाया है; यथा—देवेहि, देवेहिँ, देवेहिं । इन रूपों को देखते हुए लगता है कि मध्यकालीन आर्य भाषाओं का विकास संस्कृत की सरणि पर न होकर स्वतन्त्र रूप से हुआ है । अतः संस्कृत को इन भाषाओं की योनि कहना औचित्य की सीमा में नही आता ।

यदि हम यह बात मान लें कि छान्दस भाषा से ही अनेक प्रादेशिक बोलियों का विकास हुआ और इन्ही बोलियों का विकसित एवं परिमार्जित रूप साहित्यिक प्राकृतें है तो हमारे सामने दूसरा प्रश्न यह उपस्थित होता है कि फिर तत्कालीन प्राकृत-वैयाकरणो ने (जो इन भाषाओं को बोलते भी थे तथा इनके पण्डित भी थे) प्राकृतों का उद्भव संस्कृत से क्यों माना है ? क्या वे गलती पर थे ? प्राकृत के इन महान् पण्डितों को गलत कहना ऐसा ही होगा जैसा कि पाणिनि जैसे विद्वान् को संस्कृत का अल्प ज्ञाता कहना । क्योंकि जो स्थान सस्कृत में पाणिनि का है, वही स्थान प्राकृतों में हेमचन्द्र, चण्ड तथा मार्कण्डेय आदि का भी है । तो फिर हमें मान लेना चाहिए कि प्राकृतों का उद्भव संस्कृत से ही हुआ है । कतिपय पाश्चात्य विद्वानों ने भी इसे स्वीकार किया है । यदि हम इसे स्वीकार करते हैं तो हमारे सामने यह समस्या आती है कि ब्राह्मण ग्रन्थो में जिसे भ्रष्ट-भाषा कहा गया है उसका क्या हुआ ? या तो वे अपनी मौत स्वयं मर गई या फिर उनका लिखित साहित्य उपलब्ध नही है । परन्तु बात ऐसी नही है । प्राकृत-व्याकरणकारों ने जो कुछ कहा है, उसको यदि हम गहराई से विचारें तो हमारी समस्या का समाधान हो जाता है । बात यह है कि व्याकरण तब लिखा जाता है जब कोई भाषा पूर्ण प्रकाश में आ जाती है तथा कवि और साहित्यकार उसे अपने विचारों की अभिव्यक्ति के लिए अपना लेते हैं । लक्षण ग्रन्थों की रचना हमेशा लक्ष्य ग्रन्थों के आधार पर होती है । जब 'चण्ड' अपना 'प्राकृत-सर्वस्व' और हेमचन्द्र 'प्राकृत-शब्दानुशासन' लिख रहे थे, संस्कृत उस समय सर्वोच्च वर्ग की एक समृद्ध भाषा थी, जिसके सभी रूप स्थिर एव सिद्ध थे । भाषा का

---

6 "प्रथमा के बहुवचन में कभी-कभी 'आसे' प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप 'देवासः' की छाया पर ज्ञात होता है ।"

आद्यादत्त ठाकुर कृत पालि-प्रबोध, पृष्ठ ३१ ।

एक अपना नियम और सिद्धान्त था। पठन और पाठन की वह भाषा थी तथा समाज की सर्वाधिक जनसंख्या का वह सांस्कृतिक निरूपण करती थी। अतः वे विद्वान् भी संस्कृत के गहन अध्ययन के पश्चात् ही देशी भाषाओं की ओर अग्रसर हुए होंगे और उन सिद्ध शब्दों के साथ ही देशी भाषा में प्राप्त शब्दों की संगति बैठाने में अपने कर्तव्य की 'इति-श्री' समझते रहे होंगे। क्योंकि इन वैयाकरणों द्वारा अपनाई गई शैली ठीक वैसी ही है, जैसी कि संस्कृत-वैयाकरणों की थी। इसी प्रकार से लोप, आगम, आदेश आदि का विधान इन लोगों ने अपनी व्याकरणों में किया है। अतः हो सकता है इस प्रकार से इन्होंने प्रत्येक शब्द की संगति संस्कृत शब्दों के साथ बिठा कर इन्हें 'संस्कृतजा' कह कर छुट्टी ले ली हो। फिर एक बात यह भी है कि संस्कृत अधिकांशतः छान्दस् जैसी ही है। केवल छान्दस् में जो अनेक-रूपता पाई जाती थी उस पर ही विशेष प्रतिबन्ध संस्कृत में दृष्टिगोचर होता है। अतः उन अनेक रूपी शब्दों को छोड़कर प्राकृत के अन्य रूपों एवं ध्वनियों की सिद्धि संस्कृत के आधार पर सरलता से की जा सकती है। अतः बहुत कुछ सम्भव है कि प्राकृत वैयाकरणों ने उन रूपों की ओर ध्यान न देकर केवल शेष रूपों की सिद्धि संस्कृत से सम्भव देखकर उन्हें 'संस्कृतजा' कह दिया हो।

यद्यपि कतिपय स्थानों पर इस बात का विरोध भी प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है, किन्तु जहाँ कहीं इस बात का विरोध भी हुआ है तो वह भाषा-वैज्ञानिक न होकर पूर्णतः धार्मिक रहा है। सौभाग्य या दुर्भाग्य से प्राकृत के अधिकांश वैयाकरण जैन विद्वान् हुए हैं। इन्होंने प्राकृतों को 'संस्कृतजा' मान कर भी, अर्धमागधी को आदिम भाषा सिद्ध करने का खोखला प्रयास किया है। इसे पशु एवं पक्षियों द्वारा समझी जाने वाली भाषा कह कर शायद इन्होंने अधिक गौरवान्वित करना चाहा है, पर वैज्ञानिक दृष्टि से कहीं पर भी यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं किया गया कि अर्धमागधी संस्कृत या छान्दस की पूर्वजा किस प्रकार से सम्भव है? वाक्पतिराज ने प्राकृत को एक महासमुद्र कहा है, जिससे सभी भाषाएँ उत्पन्न होती हैं[6]—

'सकलाश्चेमा वाचः प्राकृत-महार्णवाद् निर्यान्ति तदैव च प्रविशन्ति।'

राजशेखर ने इसे संस्कृत की योनि कहा है—'तद् योनिः किल संस्कृतस्य'।[7] अतः जैन विद्वानों या अन्य प्राकृत वैयाकरणों या काव्य-शास्त्रज्ञों ने कहने को तो कह दिया कि प्राकृत अर्धमागधी संस्कृत की योनि है, पर क्यों? और कैसे? यह बताने का कष्ट नहीं किया। अतः इन विद्वानों के उक्त भाषाओं के

[6] 'गउड़ वहो' (गौड़वधः) सयलाओ इमं वाया विसंत्ति एत्तो य णेंति वायाओ।

[7] काव्य-मीमांसा—भूमिका, पृष्ठ १६।

लिए जो प्रशस्ति-वाक्य उपलब्ध होते है, वे केवल मात्र धार्मिक कट्टरता के ही सूचक हैं, शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक तथ्य नहीं। अतः उन्हें सिद्धान्त सूत्र नहीं कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त उन प्राकृत वैयाकरणों की मान्यता कि प्राकृतों का उद्भव संस्कृत से हुआ है, सही नहीं प्रतीत होती, क्योंकि भाषा-वैज्ञानिक तथ्य एवं पुरातन संकेत यह द्योतित करते हैं कि मध्यदेशीय एवं प्राच्य बोलियाँ संस्कृत के अस्तित्व में आने से पहले ही प्रकाश में आ चुकी थीं। उक्त बोलियाँ ही वस्तुतः मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के विकास का आधार हैं। अतः समझ में नही आता कि संस्कृत प्राकृत भाषाओं की योनि कैसे कही गई? डॉ. श्यामसुन्दर ने साहित्यिक प्राकृतों से अनेक ऐसे शब्दों को उद्धृत किया है जिनकी व्युत्पत्ति संस्कृत व्याकरण से सिद्ध नही की जा सकती। इनके मत से ऐसे शब्दों का उद्भव संस्कृत से नही, छान्दस् से हुआ है।[8] किसी भाषा में प्राचीन भाषा के तद्भव रूपों की प्राप्ति भी इस बात की पुष्टि नही करती कि वह उसकी जन्मदात्री है और इसका तात्पर्य यह भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि उस भाषा-विशेष का उद्भव उसकी पूर्ववर्ती भाषा से न होकर पूर्ववर्ती भाषा की पूर्ववर्ती भाषा से हुआ है। यदि इसे सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेंगे तो कम से कम हिन्दी और बंगला का उद्भव तो सीधे संस्कृत से स्वीकार करना पड़ेगा।

सिद्धान्ततः जिस भाषा के सुबन्त एवं तिङन्त रूप अपनी पूर्ववर्ती भाषा के सुबन्तों एवं तिङन्तों के तद्भव रूप हों तथा जिस भाषा की प्रारम्भिक प्रवृत्तियाँ उस भाषा की अन्तिम प्रवृत्तियों—ध्वन्यात्मक, रूपात्मक आदि—के साथ साम्य प्रकट करती हों, तभी कहा जा सकता है कि अमुक भाषा का विकसित रूप अमुक भाषा है। संक्षेप में कह सकते हैं कि दोनों के प्रकृति और प्रत्ययों में संगति होनी चाहिए, जो विकास के सूत्र से संवलित हो।

उपर्युक्त मान्यता के आधार पर यदि हम प्राकृत भाषाओं का परीक्षण करें तो परिणाम स्पष्ट है कि संस्कृत, व्याकरण के नियमों में इतनी निबद्ध कर दी गई थी कि उसका तुरन्त विकास होना सम्भव नही था। यद्यपि विकास के इस प्रवाह को पाणिनि की अष्टाध्यायी भी पूर्णतया अवरुद्ध करने में सफल न हो सकी, क्योंकि पूर्ववर्ती संस्कृत और परवर्ती संस्कृत की प्रकृति में एक सूक्ष्म विकास का सूत्र देखा जा सकता है और पतञ्जलि का महाभाष्य पाणिनि की अष्टाध्यायी के सूत्रों की व्याख्या ही नहीं है, बल्कि संस्कृत के विकसित नवीन रूपों की सिद्धि का प्रस्तुतीकरण भी है। दूसरे यदि हम डॉ. चाटुर्ज्या को प्रमाण मानें तो संस्कृत का उदय ई० से ५०० वर्ष पूर्व स्वीकार करना

---

[8] हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ११-१२।

पड़ेगा। इन्होंने डॉ० हेमचन्द्र राय चौधरी द्वारा प्रदत्त पाणिनि के जन्म-काल की तिथि ही अविकृत एवं सही रूप में स्वीकार की है।[9] ठीक इसी तिथि के आस-पास तथा कुछ इससे भी पहले आर्यों में प्राकृतों की आधारभूत बोलियाँ प्रकाश में आ चुकी थीं। अतः वे प्राकृतें, जो संस्कृत के साथ-साथ साहित्यिक क्षेत्र में अवतरित हो चुकी थीं, कभी भी संस्कृत से विकसित भाषाएँ नहीं कही जा सकतीं। जब हम यह मान्यता स्वीकार कर लेते हैं तो हमारे समक्ष एक प्रश्न और उपस्थित होता है जिसका उत्तर अवश्यम्भावी है और वह यह कि फिर प्राकृत वैयाकरणों ने संस्कृत को प्राकृत भाषाओं की प्रकृति, योनि अथवा उत्पादिका आदि क्यों कहा है? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि संस्कृत और छान्दस का अन्तर अत्यन्त सूक्ष्म है और वह अन्तर यह है कि छान्दस के कतिपय प्रयोगों और शब्द रूपों का संस्कृत में लोप हो गया। शेष प्रयोगों और शब्द रूपों में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन दृष्टिगत नहीं होता, जिससे कि प्राकृत शब्दों की तरह संस्कृत शब्दों को भी तद्भवादि शब्दों की कोटि में रखा जा सके। संक्षेप में इसे यों भी स्पष्ट किया जा सकता है कि संस्कृत छान्दस का ही वह व्यवस्थित रूप है जिसमें व्यक्तिगत स्वच्छन्दता के लिए कोई स्थान नहीं रहा। दूसरे इस तथ्य से भी हम दूर नहीं जा सकते कि प्राकृत व्याकरणों के निर्माण काल के समय संस्कृत का प्रभाव उल्लेखनीय था। वह न केवल भारत के एक बहुत बड़े शिक्षित और अशिक्षित समुदाय की ही समादृत भाषा थी, बल्कि प्रायः समस्त एशिया में इसका महत्त्वपूर्ण प्रभाव था। डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे "संस्कृत की दिग्विजय" घोषित किया है—'संस्कृत की भारत और भारत से बाहर दिग्विजय की उपरिलिखित कुछ अप्रासङ्गिक चर्चा का उद्देश्य चार संस्कृतियों—एक आर्य और तीन अनार्य (द्रविड़, निषाद एवं किरात) के भारत में हुए एकीकरण का महत्त्व दिखलाना था।[10] अतः ऐसी स्थिति में प्राकृत वैयाकरण भी संस्कृत की इस चकाचौंध में छान्दस भाषा के स्वरूप को न पहचान सके हों तो कोई आश्चर्य नहीं तथा दूसरे प्राकृत के अधिकांश शब्द-रूप इस प्रकार के हैं, जो संस्कृत शब्दों के तद्भव रूप कहे जा सकते हैं, क्योंकि संस्कृत में वे शब्द छान्दस् भाषा से तत्सम रूप में आ गए थे और उन्हें ज्यों का त्यों ग्रहण कर लिया गया था। अतः प्राकृत शब्दावली समान रूप से छान्दस भाषा की शब्दावली और संस्कृत भाषा की शब्दावली का तद्भव रूप कही जा सकती है। यदि ऐसी बात है तो फिर प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं का सम्बन्ध छान्दस भाषा से क्यों नहीं

---

9 भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७७।

10 वही, पृष्ठ ६५।

स्थापित किया, संस्कृत से ही क्यों किया ? उत्तर स्पष्ट है कि बौद्धों एवं जैनों का, जिनके धर्म का अभ्युदय ही वैदिक ऋषियों एवं ब्राह्मणों की यज्ञ-प्रधान संस्कृति के विरोध में हुआ था तथा इन भाषाओं पर जिनका पूर्ण आधिपत्य था, छान्दस भाषा के प्रति आन्तरिक वैमनस्य हो सकता है। भगवान् तथागत का अपने शिष्यों को उनके उपदेशों को छान्दस में अनूदित करने की अनुमति न देना ही इसका प्रमाण है। "जब प्राच्या बोली छान्दस् तथा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से इतनी दूर चली गई कि उदीच्य प्रदेश से आने वाले व्यक्ति के लिए प्राच्यों की भाषा को समझने में कठिनाई होने लगी, तो बुद्ध के दो ब्राह्मण शिष्यों ने यह प्रस्ताव रखा था कि तथागत के आदेशों को प्राचीन भाषा छान्दस अर्थात् सुशिक्षितों की साधुभाषा में अनूदित कर लिया जाए; परन्तु बुद्ध ने इसे अस्वीकृत कर दिया और साधारण मानवों की बोली को ही अपने प्रवचन-प्रसार का माध्यम रखा। उनका यह अनुरोध रहा कि समस्त जन उनके उपदेश को अपनी मातृभाषा में ही ग्रहण करें।[11] इससे सिद्ध होता है कि वे लोग छान्दस को किसी भी तरह का महत्त्व देने के लिए तत्पर न थे। एक यह भी कारण हो सकता है कि बौद्ध और जैन विद्वान् संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् होते थे तथा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप में संस्कृत के लिए उनके हृदय में भी आदर की भावना थी। इसीलिए इन्होंने संस्कृत भाषा को प्राकृतों का मूल माना, जो कि वास्तव में नहीं है।

अन्त में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि संस्कृत भाषा से प्राकृतों का उद्भव किसी रूप मे स्वीकार नही किया जा सकता। प्राकृतों का उद्भव छान्दस भाषा और उसकी बोली (यदि कोई थी तो) के ही विकसित रूप का परिणाम है। ये प्राकृतें देश-भेद के अनुसार अर्थात् भिन्न प्रदेशों में कुछ अन्तर से बोली जाने के कारण अनेक थीं। "कुवलयमाल कहा"[12] "राज प्रश्नीय सूत्र",[13]

---

[11] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी ('संकाय निरुत्तिया' से उद्धृत अवतरण के अनुसार), पृष्ठ ७६।

[12] जाव थो अन्तरे दिट्ठं इमिणा आवेयय। (व) णि अपसारया वुद्धकय विक्कय पयत्त वट्टमाण कलयरवं हट्टमग्गं ति। तत्थय पवि समाणेठ दिठ्ठं अणेय देस भासा लक्खिए देस वणिए······इअ अट्ठारस देसी भासाउ पुलहळण सिरि अत्तो। अण्णाइं अ पुल एई खस पारस वव्वरादीए। (कुवलयमाल कहा—अपभ्रंश काव्यत्रयी की भूमिका, पृष्ठ ६१ तथा ६४ से उद्धृत)

[13] तए णं से दढ पतिण्णे दारए उम्मुक वाल भावे विण्णाय परिणयमित्ते जोव्वण गमणुपत्ते वावत्तरि कला पंडिए अट्ठारस विह देसिप्पगार भासा विसारिए णवंग सुत्त पडि बोहए गीय रई गंधव्व नट्ट कुसले सिंगारागार चारू वेसे। (राज-प्रश्नीय सूत्रे—आ० समिति० प्र०, पृष्ठ १४८)

औपपातिक सूत्र,[14] विपाक सूत्र,[15] ज्ञान सूत्र,[16] जैन सिद्धान्त, जिनदास महत्तरेण[17] आदि में अठारह प्राकृतों का वर्णन आता है, जिन्हें देशी भाषा के नाम से व्यवहृत किया गया है। 'कुवलयमाल' ग्रन्थ में एक वृत्तान्त आता है कि श्रीदत्त ने थोड़े से अन्तर पर अनेक व्यापारियों से आपूरित पण्य-वीथि को देखा, जहाँ पर व्यापारी लोग अपनी-अपनी भाषा में वार्तालाप कर रहे थे। इस प्रकार श्रीदत्त ने अठारह देशी-भाषाओं के बोलने वालों को वहाँ पर देखा। इसके अतिरिक्त पारस, खस, बब्बरी आदि भाषा-भाषी जनों को भी देखा। कुछ ऐसी ही कथाएँ जैन सूत्र ग्रन्थों में भी मिलती हैं।

जैन सूत्र ग्रन्थों में जो अधिकांशतः अर्धमागधी भाषा में लिखे गए हैं, ऐसे अनेक वृत्त आते हैं, जिनमें अठारह देशीय भाषाओं का प्रसङ्ग आता है। कहीं किसी राजकुमार को अठारह भाषाओं का पंडित बताया गया है, तो कहीं गणिकाओं को अष्टादश-भाषा-विशारदा कह कर सम्बोधित किया गया है। सूत्र ग्रन्थों की अर्धमागधी, साहित्यिक अर्धमागधी, जिसकी गणना महाराष्ट्री आदि के साथ की जाती है, से अत्यन्त प्राचीन है। इसलिए डॉ. सक्सेना ने इसे प्राचीन अर्धमागधी नाम से अभिहित किया है। इस तरह हम कह सकते हैं कि पालि के समय में ही समानान्तर रूप से उक्त अर्धमागधी भी विकसित हो चुकी थी और उसमें सूत्र ग्रन्थ लिखे जाने प्रारम्भ हो गए थे। इन ग्रन्थों में अठारह देश्य-भाषाओं का वर्णन यह सिद्ध करता है कि उस समय में (चाहे भाषाओं के रूप में नहीं) ये बोलियाँ निश्चय ही प्रकाश में आ चुकी होंगी।

---

[14] तए णं से दढ़पइण्णे दारए बावत्तरि कला पंडिए नवंग सुत्त पडिबोहिए अट्ठारस देसि भासा विसारए गीय रई गंधव्वणट्ट कुसले।
(औपपातिक सूत्र—आ० समिति प्र०, पृष्ठ ९८)

[15] तत्थ णं वाणियगामे कामज्झया नाम गणिया होत्था। बावत्तरि कला पंडिया चउसट्ठी गणिया गुणोववेया एगूणतीस विसेसे, रमयणि एक्कवीस रति गुणप्पहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला णवंग सुत्त पडिबोहिया अट्ठारस देसि भासा विसारिया सिंगारागार चारु वेसा गीय रई गंधव्व नट्ट कुसला।
(विपाक सूत्रे—अ० २, सू० ८ आ० समिति० प्र०, पृष्ठ ४५)

[16] तए णं से मेहे कुमारे बावत्तरि कला पंडिए णव अंग सुपत्त पडि बोहिए, अट्ठारस विहिप्पयार देसि भासा विसारए गीय रई गंधव्व नट्ट कुसले।
(ज्ञा० उ० ता० प० २५ आ० समिति प्र०, पृष्ठ ३८)

[17] तत्थ णं चंपाए णयरीए देवदत्ता णाम गणिया परिवसइ चउसट्ठि कला पंडिया चउसट्ठि गणिया गुणोववेया अउणतीस विसेस रममाणी एक्कवीसं रइगुण प्पहाणा बत्तीस पुरिसोवचार कुसला, णवंग सुत्त पडिबोहिया अट्ठारस देसि भासा विसारया सिंगारागार चारु वेसा। (ज्ञा० उ० ता० प० ७१ आ० समिति प्र०, पृष्ठ ९२)

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देशी भाषाएँ छान्दस युग से ही पनप रही थी जिनमे सर्वप्रथम उदीच्य वालों ने अपनी बोली के आधार पर संस्कृत का स्वरूप निर्धारण कर उसे साहित्यिक रंगमञ्च पर प्रतिष्ठित किया। इसके पश्चात् मध्यदेशीय बोली से विकसित पालि भाषा ने साहित्यिक वेश-भूषा धारण की और इसके साथ ही साथ प्राच्या बोली ने मागधी के नाम से साहित्य-संसार में प्रवेश किया। इन दोनों प्रदेशों के मध्य जन-साधारण में एक अन्य बोली भी प्रचलित थी जिसमे मध्यदेशीया एवं प्राच्या के तत्त्व मिश्रित थे। इस बोली के विकसित साहित्यिक रूप को वैयाकरणों ने अर्धमागधी भाषा के नाम से अभिहित किया। जैन धर्म के प्रचारको ने इसे ही अपनी धार्मिक भाषा स्वीकार कर इसके माध्यम से अपने धर्म का प्रचार किया। जब मागधी और अर्धमागधी लगभग साहित्यिक स्वरूप या परिनिष्ठित रूप ग्रहण कर चुकी थी, उस समय अपनी पूर्ण शक्ति के साथ मध्यदेश मे एक अन्य भाषा पनप रही थी जिसका प्राचीन रूप पालि कहा जा सकता है (यद्यपि अभी सभी विद्वान् इस पर एक मत नही है), उसे विद्वानो ने शौरसेनी प्राकृत के नाम से अभिहित किया। उपर्युक्त प्राकृतों के साथ-साथ प्राकृत वैयाकरणो ने एक अन्य प्राकृत भाषा का नाम गिनाया है, जिसे महाराष्ट्री कहा जाता है। महाराष्ट्री जैसा कि इसके नाम से भी व्यञ्जित होता है, तथा प्राकृत वैयाकरणों ने भी स्वीकार किया है कि यह महाराष्ट्र प्रदेश की बोली का विकसित साहित्यिक रूप है, परन्तु आधुनिक भाषा-विज्ञ इससे सहमत नहीं हैं। ये इसे शौरसेनी प्राकृत का पश्चकालीन विकसित रूप मान कर चलते हैं। यह भाषा अपने समय की सर्वाधिक लोक-प्रिय भाषा रही है। प्राकृत वैयाकरणो ने तो 'प्राकृत' शब्द को महाराष्ट्री का पर्यायवाची ही बना दिया है।

उपर्युक्त विश्लेषण के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्यकाल मे प्राकृत भाषाएँ, जिनका न्यूनाधिक साहित्य आज भी उपलब्ध है, देश-भेद के अनुसार सात रूपों मे प्रचलित थी—(१) पालि, (२) शौरसेनी, (३) मागधी, (४) अर्धमागधी, (५) महाराष्ट्री, (६) पैशाची तथा (७) अपभ्रंश।

इन सभी भाषाओ को संस्कृत की छोटी बहने कहा जा सकता है, क्योकि इनका विकास भी संस्कृत के समानान्तर छान्दस भाषा से सम्भूत लगता है। डॉ० चाटुर्ज्या के मत से भी यही बात सिद्ध होती है कि 'सस्कृत के पश्चात् वे भाषाएँ आई, जिन्हे हम वैज्ञानिक दृष्टि से उसी के कनीयस रूप कह सकते है।'[18] डॉ० श्यामसुन्दरदास ने तो स्पष्ट रूप से यह स्वीकार किया है कि

[18] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ ९५।

प्राचीन वैदिक भाषा से ही प्राकृतों की उत्पत्ति हुई है, अर्वाचीन संस्कृत से नहीं।[19] डॉ. बाबूराम सक्सेना ने भी पालि भाषा के विकास पर विचार करते हुए यही मान्यता स्थापित की है कि 'पालि में कुछ लक्षण ऐसे मिलते हैं जिनसे हम यह निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि इसका विकास उत्तरकालीन संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत और तत्कालीन बोलियों से मानना अधिक उचित है। तृतीया बहुवचन में अकारान्त संज्ञाओं का 'एभिः' प्रत्यय और प्रथमा बहुवचन में आस् के विकल्प में 'आसः', धातु (यथा गम्) और धात्वादेश (यथा अच्छ्) के प्रयोग में भेद का अभाव, अडागम (हसीत्=अहसीत्) का प्रायः अभाव, आदि बातें उदाहरण हैं। संस्कृत के 'इह' के स्थान में पालि 'इध' पाया जाता है, जो वैदिक-पूर्व भाषा का अवशेष समझा जाता है।[20]

---

[19] हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ ११-१२।

[20] सामान्य भाषा-विज्ञान, पृष्ठ २६३।

चतुर्थ अध्याय

पालि एवं अशोक के शिला-लेखों की भाषाएँ

'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति एवं इतिहास—पालि किस क्षेत्र की भाषा थी—विद्वानों के मतों की समीक्षा एवं निष्कर्ष—पालि का ध्वन्यात्मक विवेचन—पालि की रूपात्मक स्थिति—पालि का शब्द-कोष—अशोकी शिला-लेखों की भाषा—पालि से छान्दस का साम्य और वैषम्य—ध्वनि और रूप।

'पालि' शब्द का निर्वचन और उसका भाषा के अर्थ में प्रयोग

संस्कृत भाषा को छोड़ कर प्रायः अन्य समस्त भारतीय भाषाओं का नाम किसी न किसी प्रदेश-विशेष के नाम पर पाया जाता है। अतः पालि के नामकरण के रहस्य को जानने की अभिरुचि उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है। 'अभिधानप्पदीपिका' में पालि शब्द की निरुक्ति, तन्ति बुद्ध वचन तथा पंक्ति अर्थ देते हुए पा-रक्षणे धातु से की गई है—'पा पालेति रक्खतीति पालि'। कुछ विद्वान् इसी को आधार मान कर इसे भाषा रूप में स्वीकार कर लेते हैं; किन्तु 'भिक्षु जगदीश काश्यप' इससे सहमत नहीं हैं। उनका कहना है कि यह निरुक्ति उस समय की गई है जब पलियाय और पालि का सम्बन्ध विच्छेद हो चुका था। पालि शब्द की व्युत्पत्ति के लिए तीन विद्वानों के मत विचारणीय हैं—

(१) भिक्षु जगदीश काश्यप का मत—पालि शब्द का विकास 'परियाय' 'पलियाय' शब्द से हुआ है। इसके लिए आपने दो तर्क दिए हैं। एक तो यह कि परियाय शब्द का अर्थ बुद्ध वचन होता है और इस अर्थ में इस शब्द का प्रयोग 'दीघनिकाय' 'अंगुत्तर निकाय' तथा 'भब्रु शिला-लेख' में बुद्ध देसना के अर्थ में प्रयोग किया गया है। मुझे इस विचार के लिए यही कहना है कि 'र' के स्थान पर 'ल' का आदेश मागधी भाषा की विशेषता है, अतः 'पालि' मागधी भाषा का शब्द ठहरता है, पालि भाषा में इसके स्थान पर 'पारि' शब्द का प्रयोग मिलता है; यथा—'अयं धम्म परियायेति'—('अंगुत्तर निकाय')। 'इमं धम्म परियायं अत्थ'—(दीघनिकाय—ब्रह्मजाल सुत्त)। अतः यह बात समझ में नहीं आतीकि पालि के अनुयायियों ने इसके लिए 'पारि 'शब्द को न अपनाकर 'पालि' मागधी शब्द को क्यों अपनाया ?

(२) भिक्षु सिद्धार्थ का मत—आपका कथन है कि 'पालि' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'पाठ' शब्द से हुई है। आपके अनुसार बहुत से वेदपाठी ब्राह्मण भी बौद्ध धर्म में दीक्षित हुए और अपने साथ अनेक वैदिक शब्दों को भी लेकर आए। बौद्ध धर्म ने उन्हें स्वीकार भी कर लिया। अतः पाठ शब्द वेदों के पाठ-स्वाध्याय के लिए प्रयुक्त होता था और इसी अर्थ में यह यहाँ भी अर्थात् बुद्ध वचनों के पाठ के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा और धीरे-धीरे भाषावाची हो गया। आपके अनुसार संस्कृत मूर्धन्य ध्वनियाँ पालि भाषा में 'ल' में बदल जाती हैं। अतः पाठ का पालि में हुआ 'पाल' और मिथ्या सादृश्य के आधार पर 'पाल' का हो गया 'पालि'। मैं समझता हूँ कि एक शब्द को केवल सिद्धान्त

रूप में सिद्ध करने हेतु भिक्षु सिद्धार्थ को इतनी क्लिष्ट कल्पना करने की क्या आवश्यकता पड़ गई थी ? कुछ विद्वानों के मस्तिष्क में अनेक भाषा-वैज्ञानिक भ्रम हैं; जिनका निराकरण परम वाञ्छनीय है। पहला तो यह कि भाषाओं का विकास किसी सिद्धान्त-विशेष को सम्मुख रख कर नहीं किया जाता, बल्कि विकास (इस अर्थ में) किया नहीं जाता है, हो जाता है। जनसाधारण अपनी गति से चलता रहता है और भाषा का विकास भी होता रहता है। अतः विकास के किसी एक नियम को, विशेष कर ध्वन्यात्मक परिवर्तन के क्षेत्र में, सर्वत्र लागू कर, देखना उचित नहीं है। उदाहरण के लिए कुछ नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में 'स' के स्थान पर 'ह' पाया जाता है। पर यह आदेश सर्वत्र नहीं देखा जाता; यथा—'दसले' को हिन्दी में 'दहला' तो हो जाता है पर 'दस' का 'दह' नहीं होता। सिन्धी में 'डह' हो जाता है। इसी प्रकार 'मुख' का 'मुँह' हो जाता है पर सुख का 'सुह' या दुःख का 'दुह' नहीं होता। अतः 'ठ' का 'ल' और फिर 'लि' और पुनः 'लि' हो जाए, इतना विकास भाषा में हुआ हो ऐसा लगता नहीं। दूसरे इन विकास के स्तरों का प्रयोग भाषा में उपलब्ध तो होना ही चाहिए या घर बैठे ही विकास होता रहता है। मैं समझता हूँ नियम बाद में बनता है और विकास पहले हो जाता है। सिद्धार्थ महोदय ने विकास-सूत्र की कड़ियों का ऐतिहासिक विवरण कहीं पर भी प्रकट नहीं किया।

(३) **पं० विधुशेखर भट्टाचार्य का मत**—आपके कथनानुसार पालि शब्द का एक अर्थ 'अभिधानप्पदीपिका' में पंक्ति भी दिया है—'तन्ति बुद्धवचनं पन्ति पालि'। अतः पहले पालि शब्द पंक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होता था, बाद में ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ में प्रयुक्त होने लगा। बुद्धघोष ने पालि शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है। श्री भिक्षु जगदीश काश्यप ने इसका खण्डन किया है तथा इसमें तीन दोष बताए हैं—

(१) पंक्ति के लिए लिखित ग्रन्थ का होना आवश्यक है। त्रिपिटक प्रथम शतक ई० पूर्व से पहले लिखा नहीं गया था। अतः उस समय के लिए त्रिपिटक के उद्धरण के लिए पालि या पंक्ति शब्द का व्यवहार करना जँचता नहीं है।

(२) पालि साहित्य में कहीं भी 'पालि' शब्द का ग्रन्थ की पंक्ति के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया। मूल त्रिपिटक के ग्रन्थों के अन्दर कहीं भी पालि शब्द का प्रयोग नहीं देखा जाता। हाँ, ग्रन्थ के नाम के साथ अवश्य ही 'पालि' शब्द जोड़ दिया जाता है। ऐसी स्थिति में 'पालि' शब्द का अर्थ पंक्ति लें, तो "उदान पालि" से "उदान पंक्ति" शब्द का कोई अर्थ नहीं निकलता।

(३) 'पालि' शब्द का प्रयोग पंक्ति के अर्थ में है तो उसे सर्वत्र बहुवचन में प्रयुक्त होना चाहिये था जबकि इस शब्द का सर्वत्र एक वचन में प्रयोग हुआ है।

उपर्युक्त दोषों के होते हुए भी यह मत विचारणीय है। यदि पालि का अर्थ एक 'जमायत' की अथवा संघ की भाषा लिया जाए तो इस शब्द का उपर्युक्त लाक्षणिक अर्थ 'पंक्ति' शब्द के साथ असंगत न होगा। इन तीन मतों के अतिरिक्त एक अन्य मतानुसार 'पालि' शब्द का अर्थ किया जाता है—'पाटलिपुत्र की भाषा'। ये 'पाटलि' शब्द के मध्यस्थ 'ट' लोप कर पालि शब्द निष्पन्न करते हैं। दूसरा एक मत और प्रचलित है जिसके अनुसार 'पल्लि' (ग्राम) शब्द से "पालि' की व्युत्पत्ति हुई मानी जाती है। उक्त दोनों मत पुष्ट भाषा-वैज्ञानिक एवं ऐतिहासिक तथ्यों के अभाव से ग्रस्त होने के कारण विशेष महत्त्व नहीं रखते।

फिर 'पालि' से क्या तात्पर्य है? प्रश्न विचारणीय ही रहता है। बात वास्तव में यह है कि प्रारम्भिक समय में मूल त्रिपिटक ग्रन्थों के लिए 'पालि' शब्द का प्रयोग उसी प्रकार किया जाता था जिस प्रकार वेदों के लिए 'संहिता' शब्द का। अमुक बात ऋग्वेद संहिता में है, अमुक यजुर्वेद संहिता में, इसी प्रकार बौद्ध साहित्य में 'पालि' शब्द का प्रयोग हुआ है—'पालि मत्तं इध आनीतं, नत्थि अट्ठकथा इध'—यहाँ केवल पालि लाई गई है, यहाँ अर्थ कथा नहीं है—उक्त पद में 'पालि' शब्द का प्रयोग 'मूल त्रिपिटकों' के लिए किया गया है। अन्यत्र भी ऐसा ही प्रयोग देखिये—'नेव पालियं न अट्ठकथायं दिस्सति, इमिस्सा पन पालिया एवमत्थो वेदितब्बो।' इस वाक्य में 'पालि' शब्द का प्रयोग मूल ग्रन्थों के लिए ही हुआ है। कालान्तर में 'मूल ग्रन्थों की भाषा के लिए' भी 'पालि की भाषा'—इस प्रकार का प्रयोग भी अवश्य चलता रहा होगा और बाद में केवल भाषा का द्योतक बनकर रह गया होगा। अब दूसरा प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या फिर 'पालि' से तात्पर्य मागधी भाषा होगा? क्योंकि मूल त्रिपिटकों की भाषा मागधी थी। अब इसमें किसी भ्रम के लिए स्थान नहीं है कि त्रिपिटकों में जो प्रवचन लिपिबद्ध हैं, उनकी मूल अभिव्यक्ति गौतम बुद्ध ने अपनी मातृ-भाषा में की थी। वह मातृ-भाषा कोई और नहीं, मागधी ही थी। साथ ही गौतम बुद्ध के शिष्यों की इस भावना को, कि भगवान् तथागत के प्रवचनों को छन्द में लिपि-बद्ध कर दिया जाए, यों ही टाला नहीं जा सकता। मध्यदेश के प्रति उस समय के लोगों का जो लगाव था, वह असाधारण नहीं था। अपनी प्राथमिक पुण्य भूमि के प्रति जो लगाव होता है, वह असाधारण नहीं होता। अतः मैं ऐसा अनुमान करता हूँ कि बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् जब इन प्रवचनों को, जो पहले मौखिक थे, लिपि-बद्ध करने का प्रश्न आया होगा, तो निश्चय जनमत मध्यदेश की भाषा के पक्ष में रहा होगा। कारण स्पष्ट है कि उस बोली के बोलने वालों की संख्या अधिक रही होगी। साथ ही कुछ लोगों के मन में मध्यदेश की भाषा के प्रति विद्वेष की भावना भी रही होगी।

परिणामतः इसका नाम मध्य देश की बोली का जो कुछ नाम, उस समय रहा होगा—जो अब काल-कवलित हो गया—के स्थान पर 'पालि' अर्थात् पंक्ति या 'जमायत' की भाषा रख दिया गया होगा। पालि मध्यदेश की भाषा का पूर्ण प्रतिनिधित्व करने में असमर्थ है, अर्थात् यों कहिए, उस समय की भाषाओं की खिचड़ी है। इस समस्या का समाधान नीचे किया गया है।

पालि भाषा और उसका क्षेत्र

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के विवेचन में यह स्पष्ट किया जा चुका है कि विकास की दृष्टि से इस युग की भाषाओं को तीन भागों मे विभाजित किया जा सकता है। इनमें सर्वप्रथम पालि भाषा ने परिनिष्ठित स्वरूप धारण किया। बौद्ध धर्म के प्रायः समस्त प्रमुख धार्मिक ग्रन्थ इसी भाषा में निबद्ध है। गौतम बुद्ध मागध थे। अतः बौद्ध मतानुयायी इस भाषा का उद्‌भव-स्थल मगध प्रदेश को मान कर चलते हैं, किन्तु भाषा-वैज्ञानिक-निष्कर्ष इसके विरुद्ध पड़ता है। वस्तुतः पालि भाषा का, जो बौद्ध ग्रन्थों में मिलती है, गठन कुछ इस प्रकार का है कि उसे किसी निश्चित प्रदेश की भाषा घोषित कर देना सरल कार्य नही है। यही कारण है कि विद्वानों की इस विषय पर भिन्न-भिन्न धारणाएँ है। डॉ. सरनामसिंह ने इन सब विद्वानों को, मत की दृष्टि से छः वर्गो में विभाजित किया है, जो इस प्रकार हैं—[1]

प्रथम वर्ग—इस वर्ग में वे विद्वान् आते हैं, जो पालि भाषा का सम्बन्ध मागधी भाषा से स्थापित करते हैं तथा इसे मगध प्रदेश की बोली पर आधारित बताते है। इन विद्वानों में मैक्सवेलेजर, चाइल्ड्स, जेम्स, आलबिस, ई. जार्ज ग्रियर्सन, श्रीमती डेविड्स, विंटरनित्ज आदि का नाम उल्लेखनीय है।

द्वितीय वर्ग—ये लोग पालि भाषा को पूर्व की बोली के अनुवाद की साहित्यिक भाषा मानते है जो मध्यदेश की बोलियो पर आधारित थी। इसे ये लोग पश्चिमी हिन्दी की पूर्वजा मानते है। इनमें सर्वश्री लूडर्स, सिलवाँ लेवी, डॉ. कीथ, प्रो० टर्नर, डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या आदि का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है।

तृतीय वर्ग—ये वर्ग पालि को कलिंग बोली के आधार पर विकसित भाषा मानते है। इनमें सर्वश्री ओल्डनवर्ग और डॉ. मूलर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

चतुर्थ वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि को विन्ध्याचल क्षेत्र की भाषा मान कर चलते है। इनमें डॉ. स्टेनकोनो तथा आर० ओ० फ्रैंक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

---

[1] डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत पालि साहित्य और समीक्षा।

पंचम वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि का मूल उद्गम कोशल प्रदेश की बोली से मानते हैं। इस मत के एक मात्र पोषक प्रो० रायस डेविस ही हैं।

षष्ठ वर्ग—इस वर्ग के विद्वान् पालि का उद्गम-स्थल उज्जैन प्रदेश बतलाते है। इस मत को मानने वाले श्री वेंस्टरगार्ड और ई० कुट्टन हैं।

उपर्युक्त सभी विद्वानों की मान्यताओं का कोई न कोई निश्चित आधार अवश्य रहा है। यह बात इतर है कि इनमें से किसी की मान्यता में कल्पना और अनुमान को अधिक प्रश्रय दिया हो और किसी की आधार भूमि ठोस भाषा-वैज्ञानिक होते हुए भी अतिव्याप्ति दोष या अव्याप्ति दोष से ग्रस्त रही हो। बात वास्तव में यह है कि पालि भाषा एक इतने बड़े धर्म-सम्प्रदाय की भाषा थी जो समस्त एशिया भूखण्ड का धर्म बन गया था। अतः उसमें विकृति एवं मिश्रण आना अवश्यम्भावी था। ऐसी स्थिति में उस पर किसी निश्चित मान्यता की स्थापना करना खतरे से खाली नहीं है। यद्यपि यह आवश्यक तो नहीं है कि पालि भाषा का सम्बन्ध किसी प्रदेश-विशेष के साथ जोड़ा जाए, क्योंकि स्वयं बौद्ध धर्म जिसकी यह धर्म-भाषा थी, किसी प्रदेश-विशेष के लिए सीमित नहीं था, फिर भी यह शुद्ध भाषा-वैज्ञानिक माँग है कि हम यह देखने का प्रयास करें कि पालि भाषा की प्रमुख प्रवृत्तियाँ भारत के किस प्रदेश का प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हैं, जिससे बाद में विकसित भाषाओं का सम्बन्ध-सूत्र खोजा जा सके। इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न को सुलझाने के लिए हमें दो महत्त्वपूर्ण बातों पर दृष्टि रखनी होगी कि—(१) बौद्ध धर्म जनभाषा के प्रयोग का समर्थक था (प्रारम्भ में), परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग करना स्वयं गौतम बुद्ध की भावनाओं के विरुद्ध पड़ता था।[2] (२) दूसरे, क्या बौद्ध धर्म में प्राच्य, प्रतीच्य, उदीच्य और दाक्षिणात्य, सभी लोग दीक्षित थे? ये सभी लोग भगवान् बुद्ध की अमृतमयी वाणी का रसपान उनकी भाषा में करते रहे होंगे। इसके लिए निश्चय ही उन्हें गौतम बुद्ध की मातृभाषा मागधी पढ़नी पड़ती होगी और स्वयं भगवान् तथागत ने भिन्न-भिन्न प्रदेशों में उनकी मातृ-भाषा में ही प्रवचन करने हेतु उन प्रादेशिक भाषाओं का अध्ययन किया होगा। ऐसी स्थिति में उपासकों के मन में निश्चय ही दो प्रकार की भावनाएँ काम करती रही होंगी। एक तो यह कि भगवान् बुद्ध की वाणी की अभिव्यक्ति वे अपनी मातृभाषा में करें। द्वितीय, भगवान् बुद्ध के कुछ मुख्य-मुख्य शब्दों को वे ज्यों के त्यों ग्रहण कर लें। अपनी बोली को भी पावन करने हेतु किसी भी धर्मगुरु की वाणी के प्रति उसके अनुयायियों की अमित-श्रद्धा होती है। ऐसी परिस्थिति में भगवान् तथागत के

---

[2] सकाय निरुत्तिया—भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ ७६।

उपदेश भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के पास उनकी भिन्न-भिन्न बोलियों में सुरक्षित रहे होंगे। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि गौतम बुद्ध के जीवन-काल में ही विशाल बौद्ध विहारों का निर्माण प्रारम्भ हो गया था। इनमें हज़ारों की संख्या में एक-एक बौद्ध विहार में भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी बौद्ध भिक्षु निवास करते थे। यह एक ऐतिहासिक तथ्य है। बौद्ध धर्म-ग्रन्थों से इस प्रकार का कोई भी उल्लेखनीय संकेत नहीं मिलता कि तीसरी संगति से पूर्व बौद्ध धर्म की कोई सामान्य सम्पर्क भाषा थी। अतः निश्चित है कि बुद्ध-उपदेश जो उस समय मौखिक रूप में ही सुरक्षित रखे जाते थे, मिश्रित भाषाओं में पृथक्-पृथक् रूप से ही सुरक्षित थे। एक भाषा में ही इन प्रवचनों को रखा जाए, यह बात साधारण रूप में तो तथागत के जीवनकाल में ही उठाई जा चुकी थी, पर उनकी मृत्यु के पश्चात् यह प्रश्न अत्यन्त गम्भीर रूप में उपासकों के समक्ष आया होगा। इसके दो कारण हो सकते हैं—एक यह कि बौद्ध धर्म का प्रचार एवं प्रसार भारत के बाहर करने के लिए एक ही भाषा का प्रयोग होना चाहिए। दूसरे, संस्कृत की लोकप्रियता अतितीव्र गति से बढ़ रही थी, उसकी टक्कर में कोई एक निश्चित भाषा परिनिष्ठित रूप धारण कर ही ठहर सकती थी। अभी तक सम्भवतः उदीच्यों के प्रति जो आक्रोश था, वह शान्त नहीं हुआ था। अतः बौद्ध धर्म की तीसरी संगति में यह प्रश्न गम्भीर रूप से उठाया गया कि अब समय आ गया है कि भगवान् बुद्ध के प्रवचनों को लिपिबद्ध किया जाए। ऐसे समय मे मैं अनुमान करता हूँ कि बौद्ध भिक्षुओं ने अपनी-अपनी भाषाओं को इस पुण्य कार्य के लिए प्रस्तुत किया होगा और समस्या आज की राष्ट्रभाषा-समस्या के समान गम्भीर हो गई होगी। मैं जहाँ तक विचार सका हूँ, वह यह है कि गौतम बुद्ध के प्रवचनों को मूल मागधी भाषा में सुरक्षित मानना उचित नही है। ऐसा मानने से दो कठिनाइयाँ आती हैं जिनका उचित समाधान नही मिलता। प्रथम तो यह कि जब मूल प्रवचन मागधी भाषा में सुरक्षित थे तो उन्हें मध्यदेशीय भाषा में अनुवाद करने की क्या आवश्यकता हो गई थी ? जहाँ तक जन-प्रियता का सम्बन्ध है, उस समय पूर्वी बोलियाँ मध्यदेश की बोली से अधिक लोक-प्रिय रही होंगी, क्योंकि मध्यदेश एवं उदीच्य में ब्राह्मणों का बोलबाला था जो बोलियों की अपेक्षा परिनिष्ठित संस्कृत को अधिक सम्मान देता था। अतः उस समय उन बोलियो का अधिक व्यापक या समृद्ध होने का प्रश्न उपस्थित नही होता। दूसरे, इसका कोई ठोस प्रमाण नही मिलता कि बुद्ध-वचन मागधी भाषा में ही व्यक्त किए गये थे और सुरक्षित थे। यह केवल मात्र अनुमान है, क्योंकि गौतम बुद्ध मागध थे, इसलिए उन्होंने मागधी में ही प्रवचन दिया होगा और उसी मे वे सुरक्षित रहे होंगे। यदि हम महात्मा

गाँधी का उदाहरण लें तो इस बात में कोई सार नहीं रह जाता; क्योंकि गाँधीजी गुजराती थे पर उनके प्रवचन अधिकांशतः हिन्दी में और आंग्ल भाषा में हैं। इसलिए यह मानना उचित प्रतीत नहीं होता कि पालि साहित्य अनूदित साहित्य है।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर पालि से क्या तात्पर्य लें। क्या बुद्ध-वचन मूलतः ही पालि में थे? उत्तर है—नही। फिर पालि में ये ग्रन्थ क्यों मिलते हैं तथा पालि किस प्रदेश की बोली है? आदि प्रश्न खड़े के खड़े रह जाते हैं। जैसा कि मैं पहले निवेदन कर चुका हूँ कि भगवान् बुद्ध ने अपनी प्रवृत्ति के अनुसार, भिन्न-भिन्न प्रादेशिक बोलियों में ही अपनी वाणी का उत्स प्रवाहित किया होगा और वे प्रवचन भिन्न-भिन्न विद्वानों के पास उनकी ही बोली में सुरक्षित रहे होंगे। इसके कारण है, एक तो वेदों को सुरक्षित रखने की यह प्रणाली पहले से ही प्रचलित थी, वेदी, द्विवेदी, त्रिवेदी आदि शब्द इसके प्रमाण है। अन्तर केवल इतना ही है कि वेद एक परिनिष्ठित भाषा में लिखे गए थे तथा उन्हें उसी भाषा में सुरक्षित रखना था, जबकि बौद्ध-प्रवचन भिन्न-भिन्न बोलियों में थे और उन्हीं में सुरक्षित रखने थे। स्वयं गौतम बुद्ध का आदेश इसका प्रमाण है, उन्होंने कहा है—समस्त जन उनके उपदेश को 'अपनी' मातृ-भाषा में ही ग्रहण करें। यहाँ 'अपनी' शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है। भिन्न-भिन्न बोलियों में इनका होना ही एक कारण है कि तीसरी संगति में उन्हें किसी एक सर्वसम्मत भाषा में ले आने का प्रश्न उपस्थित हुआ।

बौद्ध धर्म का ऐतिहासिक विश्लेषण यह स्पष्ट कर देगा कि बौद्ध भिक्षुओं पर विद्वत्ता की दृष्टि से मध्यदेश के निवासियों का प्रभुत्व था। बौद्ध भिक्षु प्रायः संस्कृत के पण्डित भी होते थे। जैसा कि मैंने पहले संकेत दिया है—भिन्न-भिन्न भाषा-भाषी भिक्षु एक ही स्थान पर बौद्ध विहारों में रहते थे। इन सब से हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच सकते है कि मध्यदेश की भाषा की प्रधानता के साथ विहारों में एक मिश्रित भाषा पनप रही थी, जिसकी ओर विद्वानों का ध्यान अभी तक सम्भवतः नही गया था। जब प्रादेशिक बोलियों के स्वार्थ ने उग्र रूप धारण किया होगा, उस समय निश्चय ही इस नवीन पनपती बौद्ध-विहारों की भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान अवश्य गया होगा और समस्त अन्तर-विरोधों से बचने के लिए इसी भाषा को धर्मग्रन्थों के सर्वथा उपयुक्त समझा गया होगा। पर इस नन्ही-मुन्नी, किन्तु तेज तर्राक बोली को नाम क्या दिया जाए, यह प्रश्न भी बौद्ध स्थविरों के समक्ष आया होगा, पर उन्होंने इस पर क्या निर्णय लिया, इसका कोई उल्लेख हमें नहीं मिलता। बाद में विद्वान् इस भाषा के लिए 'पालि' शब्द का प्रयोग धड़ल्ले

से करने लगे। इसका क्या कारण है ? मैं सोचता हूँ, जब बाद के विद्वानों को इसका कोई प्रादेशिक नाम (शुद्ध प्रादेशिकता न होने के कारण) न मिला होगा तो उन्होंने 'पालि' अर्थात् एक ही पंक्ति में आरूढ होकर 'शास्ता' के अनुशासनों का अनुगमन करने वालो की भाषा—नाम दे दिया होगा और इस प्रकार बौद्ध विहारों की इस मिश्र-भाषा के लिए 'पालि' शब्द लोकप्रसिद्ध हो गया होगा। 'पालि' का अर्थ पिटक आदि ले तो भी पिटकों की भाषा को पालि कहना अनुचित न होगा।

उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि पालि को किसी प्रदेश-विशेष के साथ सम्बद्ध करने के लिए दूर की कौड़ी लाने में कोई बुद्धिमत्ता नही है। पालि एक मिश्र-भाषा है, जिसमें प्रधानता मध्यदेश की बोलियों की प्रवृत्तियों की है और कुछ अंश अन्य प्रादेशिक बोलियों के है अवश्य, चाहे वे कम मात्रा में ही क्यों न हो। अतः मेरा विश्वास है कि पालि भाषा का उद्‌गम किसी एक बोली विशेष से नही हुआ है।

पालिभाषा की प्रवृत्तियाँ

ध्वनि तत्त्व :

स्वर—अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ओ तथा ह्रस्व एँ, ओँ

व्यञ्जन—'कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, य र, ल, व, स, ह' मिलते है। इनके अतिरिक्त वैदिक ध्वनियां 'ळ, ळ्ह' भी मिलती है।

प्रवृत्तियाँ—स्वरों में 'ऋ, ॠ, लृ, ॡ' स्वर पूर्णतः लुप्त हो गए। 'ऋ, ॠ' के स्थान पर प्रायः 'अ, इ या उ' मिलते है; यथा—ऋणम्>इणं, ऋषि>इसि, ऋतु>उतु, ऋषभ>उसभ, गृहम्>गहं, नृत्यम्>नच्चं, आदि।

'लृ, ॡ' के स्थान पर 'ल' हो गया। 'ऐ' के स्थान पर 'ए'; यथा—ऐरावण>एरावण, वैमानिक>वेमानिक तथा वैयाकरण>वेय्याकरण। कहीं-कहीं 'ए' के स्थान पर 'इ' और 'ई' भी उपलब्ध होता है। यथा—ग्रैवेय>गीवेयं, सैन्धवं>सिन्धव। 'औ' के स्थान पर 'ओ' और कहीं-कही 'उ' मिलते है; यथा—औदरिक>ओदरिक, दौवारिक>दोवारिक, (उ) मौक्तिकं>मुत्तिकं, औद्धत्य>उदच्च, आदि।

उपर्युक्त ध्वनियों के लोप के साथ-साथ नवीन ह्रस्व 'ए' और ह्रस्व 'ओ' ध्वनियों का उच्चारण पालि में प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि पालि वैयाकरणों ने इसका कोई सकेत नही दिया तथा न ही इस प्रकार का कोई लिपि-चिह्न पालि मे था, फिर भी बाद के आधुनिक भाषा-विज्ञो के अनु-सन्धानो ने यह सिद्ध कर दिया है कि पालि में उक्त दोनों ध्वनियाँ प्रकाश में आ गईं थी। बहुत वर्षों के पश्चात् हेमचन्द्र ने अपभ्रंश के प्रसङ्ग में फिर

इसका संकेत दिया है।[3] दो स्वरो के साथ-साथ आने पर एक स्वर के लोप हो जाने के उदाहरण मिलते हैं।

जहाँ तक व्यञ्जनों का सम्वन्ध है, प्राय: समस्त संस्कृत व्यञ्जन इसमें मिलते हैं। अनुनासिकों में 'ण' ध्वनि, पद के आदि में भी मिलती है और इस प्रकार 'न और म' की समकक्षी वन गई है। छान्दस 'ल़' और 'ल़्ह' ध्वनियाँ पालि में सुरक्षित हैं जव कि संस्कृत में ये लुप्त हो गई हैं। स्वर मध्यस्थ 'ड़' के स्थान पर 'ल़' और 'ढ़' के स्थान पर 'ल़्ह' ध्वनियाँ मिलती हैं; यथा—पोड़श>सोल़स, क्रीड़ाम्>कील़ं, (ढ>ल़्ह) दृढ़स्य>दल़्हस्स, आरूढ़> आरूल़्ह, आदि। कहीं-कहीं 'ल' के स्थान पर भी 'ल़' मिथ्या सादृश्य के आधार पर प्रयुक्त हुआ मिलता है; यथा—मणिगुलसदृशे>मणिगुल़सदिसानि।

'म्' सर्वत्र अनुस्वार हो गया है। 'पदान्त 'न्' 'म्' में वदल जाता है। ऊष्म ध्वनियों में 'श, प, स' के स्थान पर 'स' मिलता है। इस प्रकार संस्कृत 'श, प' का प्राय: लोप हो गया। कुछ पालि ग्रन्थों में 'श' भी मिलता है। कह नहीं सकते, यह लिपिकारों के प्रमाद का परिणाम है, अथवा यह ध्वनि भापा में थी। 'ह' ध्वनि का उच्चारण पालि में दो रूपों में मिलता है। जव यह स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होता है तव इसका उच्चारण स्वतन्त्र प्राण ध्वनि के रूप में होता है, किन्तु जव यह अन्तस्थों या अनुनासिकों से संयुक्त होकर आता है, तव इसका उच्चारण भिन्न रूप में होता है। पालि वैयाकरणों ने इसे ओरस या हृदय से उत्पन्न ध्वनि कहा है। विसर्ग ध्वनि का पूर्णतया लोप हो गया। डॉ. उदयनारायण तिवारी के अनुसार पदान्त क्, ट्, न्, प् तथा र् का प्राय: लोप हो गया है।[4] इसे यों भी कहा जा सकता है कि व्यञ्जनान्त प्रातिपदिक स्वरान्त हो गए। यह क्रिया दो प्रकार से सम्पन्न हुई है, या तो स्वर का आगम कर अथवा पदान्त व्यञ्जन का लोप कर। वलाघात के सम्वन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। कुछ विद्वानों के मत से पालि में वलाघात था और कुछ के मत से नहीं था।

रूप तत्त्व :

(१) कारक रूपों को निप्पन्न करने के लिए पालि भापा ने छान्दस और संस्कृत रूपों जैसी विविधता का परित्याग कर दिया। पालि भापा में मिथ्या सादृश्य के आधार पर अधिकतर अकारान्त पुंल्लिग प्रातिपदिक के रूपों और कुछ रूपों में जैसे अपादान और अधिकरण में सर्वनाम के रूपों को अपना लिया गया; यथा—बुद्धस्मा, बुद्धम्हा [अस्मात् के आधार पर], 'बुद्धम्हि,

---

[3] अपभ्रंश का व्याकरण—केशवराम काव्यशास्त्री द्वारा सम्पादित।

[4] हिन्दी भापा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ६८।

वुद्धस्मि [अस्मिन् के आधार पर] मुनिस्स, वुद्धस्स (चतुर्थी, षष्ठी) 'देवस्य' के आधार पर। इसी प्रकार दण्डिस्स, भिक्खुस्स, पितुस्स, गवस्स, आदि। इस प्रकार समस्त स्वरान्त प्रातिपदिकों के रूप कुछ भिन्नताओं को छोड़ कर समान रूप से सम्पन्न होने लगे। डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने इसे 'क्षय' का नियम कहा है—'रूप तत्त्व की दृष्टि से 'म. भा. आ.' का इतिहास एक क्रम-वर्धमान क्षय का ही इतिहास है।'[5]

(२) कारकों और लिङ्गों में छान्दस की भाँति पालि भाषा में पर्याप्त मात्रा मे व्यत्यय देखा जाता है; यथा—चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी का प्रयोग—ब्राह्मस्स (ब्राह्मणाय) वनं ददाति। तृतीया के स्थान पर पञ्चमी का प्रयोग, वल्कि यों कहना चाहिए कि ये दोनो मिलकर एकरूपा हो गईं। यथा—मुनिया—तृतीया एवं पञ्चमी। परन्तु अकारान्त शब्दों के रूपों में यह एक-रूपता नही पाई जाती। सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग पाया जाता है; यथा—एकं दिवसे—एकस्मिन् दिवसे।

(३) लिङ्ग के क्षेत्र में क्षय के चिह्न प्रत्यक्ष रूप में नही मिलते, किन्तु नपुंसक लिङ्ग के रूपों के स्थान पर पुल्लिङ्ग रूपो का प्रयोग देखने को मिलता है। डॉ० उदयनारायण तिवारी ने लिखा है—'इसी प्रकार नपुंसक लिङ्ग के रूप पुल्लिङ्ग के समान वनने लगे। यथा—'मे निरतो मनो'; होना चाहिए था 'मे निरत मनो'। इसी प्रकार 'तवो सुखो' में 'सुख' रूप होना चाहिए।'[6]

(४) वचनों में द्विवचन का लोप हो गया। पालि मे द्विवचन का काम वहुवचन रूपों से लिया जाने लगा। हाँ, कुछ शब्दों, यथा—द्वे, दुवे, उभे आदि में अभी भी द्विवचन के अवशेष मिलते है।

(५) व्यञ्जनान्त प्रातिपदिकों को समाप्त कर दिया गया। सभी प्राति-पदिक स्वरान्त हो गए। इनमे कही-कही अन्त्य व्यञ्जन का लोप हो गया; यथा—सुमेधस्>सुमेध, आपद्>आपा, कही-कहीं अन्त मे 'अ' ध्वनि का विशेषत: और 'आ' ध्वनि का गौण रूप में आगम करके स्वरान्त प्रातिपादिक वनाये गये। यथा—आपद्>आपद, सुमेधस्>सुमेधस, शरत्>शरद, (आ) विद्युत्>विज्जुता। इस प्रक्रिया में स्वरभक्ति के भी दर्शन होते है; यथा—वर्हिष्>वरिहिस।

धातु रूप—(१) धातुओं का विभाजन छान्दस एवं संस्कृत की तरह गणो में किया गया है, किन्तु इन गणों की संख्या दस से घटकर सात रह गई। डॉ. सरनामसिंह के अनुसार पालि में केवल (१) भ्वादिगण, (२) रुधा-

---

[5] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[6] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ८१।

दिगण, (३) दिवादिगण, (४) स्वादिगण, (५) क्रयादिगण, (६) तनादिगण, (७) चुरादिगण ही उपलव्ध होते हैं।[7]

(२) यद्यपि धातुओं का प्रयोग दो पदों में ही किया गया है, किन्तु आत्मनेपद के प्रयोग अत्यल्प मात्रा में मिलते हैं। अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ पर आत्मनेपदी धातुओं का परस्मैपद में प्रयोग किया गया है और परस्मैपद की धातुओं को आत्मनेपद में प्रयुक्त किया गया है।[8] कहने का तात्पर्य यह है कि पालि भाषा में पद-सम्बन्धी अव्यवस्था ही दृष्टिगत होती है।

(३) पालि में लकारों की संख्या दस से घटकर आठ रह गई। पालि में लकारों के नाम छान्दस या संस्कृत के आधार पर न होकर कुछ भिन्न प्रकार से हैं; यथा—(१) वत्तमाना, (२) पंचमी, (३) सत्तमी, (४) परोक्खा, (५) हीयत्तनी, (६) अज्जतनी, (७) भविस्सन्ति, (८) कालत्तिपन्ति।

(४) धातुओं के रूप तीन पुरुषों और दो वचनों में मिलते हैं। इस प्रकार इन रूपों की संख्या नौ से घटकर केवल छः रह गई।

(५) पालि में सन्नन्त, यङन्त, यङ्लुगन्त तथा णिजन्त रूपों के प्रयोग भी हुए हैं।

(६) पालि में कृदन्त रूप भी उपलव्ध होते हैं। पूर्वकालिक क्रिया के रूपों में छान्दस का अनुकरण किया गया है, क्योंकि 'ल्यप् और क्त्वा' का प्रयोग नियम-विहीन अपनी इच्छा के अनुकूल किया गया है। निमित्तार्थक प्रत्ययों में तुमन् के साथ-साथ 'तवै का प्रयोग भी उपलव्ध होता है। छान्दस के 'त्वाय' के स्थान पर त्वान मिलता है, जिसे संस्कृत में छोड़ दिया गया था; यथा—गत्वान, दत्वान आदि।

(७) नामधातु के रूप भी पालि में उपलव्ध होते है; यथा—अत्तनो पत्तं इच्छति=पत्तीयति, दलहं करोति=दलयति, पव्वतायति आदि।

(८) उपसर्गो और निपातों के प्रयोग भी पालि में उपलव्ध होते हैं। प, पटि, पति, परा, वि, स, आदि अनेक उपसर्ग पालि में प्रयुक्त हुए हैं। निपातों में च, न, व, वा, मा, हि आदि प्रयुक्त हुए हैं।

कोष—देशी शव्दों का प्रयोग वहुतायत से किया जाने लगा। इसके अतिरिक्त तत्सम एवं तद्भव शव्द भी पालि की निधि हैं। अनार्य भाषाओं के शव्द भी पालि में मिलते हैं।

साहित्य—पालि में भगवान् वुद्ध के वचनों का संग्रह तिपिटक (त्रिपिटक) के नाम से प्रसिद्ध है। इनमें सुत्त पिटक, विनय पिटक तथा अभिधम्म पिटक

---

[7] पालि साहित्य और समीक्षा, पृष्ठ ८२-८३।

[8] उदाहरण आगे पालि और छान्दस शीर्षक में दिए हैं।

आते है। इनके पश्चात् इन पिटकों पर लिखी गई टीकाओ का साहित्य आता है, जिन्हें अनुपालि या अनुपिटक कहते हैं। इसके अतिरिक्त इन पिटकों के पृथक् अंग आते हैं; यथा—विनय-पिटक मे तीन प्रकार के ग्रन्य हैं—सुत्त विभग, खंधक, परिवार पाठ। सुत्त पिटक के पाँच निकाय है—दीघ निकाय, मज्झिम निकाय, संयुत्त निकाय, अगुत्तर निकाय तथा खुद्दक निकाय। खुद्दक निकाय का 'धम्मपद' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग है। जातक-साहित्य भी पालि भाषा की महत्त्वपूर्ण निधि है। अभिधम्म पिटक में धम्म संगणी, विभंग, कथा वत्थु, पुग्गल पंचति, धातु कहा, यमक, पट्ठानप्यकरण आदि सात ग्रन्थ आते है, जिनमें बौद्ध धर्म के दार्शनिक पक्ष का विवेचन मिलता है। अनुपिटक का अधिकांश भाग सिहली विद्वानों ने लिखा है। इन ग्रन्थों मे भी संवाद या कथा रूप मे धर्म की दार्शनिक विवेचना की गई है अथवा कोई शिक्षा या उपदेश दिया गया है।

इन सब के अतिरिक्त पालि में छन्दः शास्त्र, व्याकरण, तथा कोप ग्रन्थ भी लिखे गए है। 'कच्चान व्याकरण' पालि का प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण व्याकरण है।

अशोक के शिलालेखों की भाषा

अशोक के शिलालेख भारत के प्रत्येक भाग मे उपलब्ध होते हैं। विद्वानो का मत है कि अशोक के शिलालेखो की सामग्री मूलतः मागधी भाषा मे निबद्ध की गई है और पुनः जिस स्थान पर उस लेख को भेजना होता था, उसमे उसे अनूदित कर दिया जाता था। अतः अनेक मुख्य शब्द उनमें ज्यों के त्यो रख दिए गये हैं। यदि इन प्रभावो को या प्रादेशिक रूपान्तर को हटा कर देखे तो लगता है कि अशोक के शिलालेखों की भाषा भी मागधी की अपेक्षा पालि के अधिक समीप है। ध्वन्यात्मक अन्तर को तथा दिशाओं को ध्यान में रख कर अशोक के शिलालेखों को तीन वर्गो मे विभाजित किया जा सकता है। शाहबाज गढ़ी और मानसेरा वाले लेख उत्तर पश्चिमी भाषा के रूप को व्यक्त करते है। गिरनार का शिलालेख दक्षिण-पश्चिम की जन-भाषा मे लिखे गए प्रतीत होते हैं। धोली, जौगा, रामपुरवा, सारनाथ के शिलालेखों की भाषा प्राच्य भाषा के अधिक समीप जान पड़ती है। यह तो निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि किसी भी स्थान के शिलालेखों की भाषा किसी निश्चित भाषा के तत्त्वों से परिपूर्ण नही है। कुछ एक तत्त्व दूसरी भाषा के भी उपलब्ध हो ही जाते हैं। इसीलिए केवल कुछ तत्त्वों की प्रधानता एवं स्थान-विशेपों के आधार पर ही यह विभाजन किया गया है। डॉ० भोला-शंकर व्यास ने इनमें चार विभाषाओ की प्रवृत्तियों का अवलोकन किया है—'इन लेखो में प्राकृत की चार वैभाषिक प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती है—उत्तर-

पश्चिमी प्राकृत (या उदीच्य प्राकृत), पश्चिमी प्राकृत, मध्य-पूर्वी प्राकृत तथा पूर्वी प्राकृत।'[७]

यदि इन सभी शिलालेखों की भाषाओं का सम्मिलित रूप में अवलोकन कर उनकी प्रवृत्तियों का विवेचन करें, तो अगले पृष्ठों में विवेचन की जाने वाली प्राकृतों की सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जायेंगी, परन्तु पालि की तुलना में शब्द रूपों की क्रम-वर्धमान क्षय-प्रवृत्ति अधिक मात्रा में विकास के चिह्नों से संवलित है। प्रातिपदिकों की संख्या भी बढ़ी हुई है। आत्मनेपद के प्रयोग विरल ही मिलते हैं। शेष पालि की विशेषताएँ ही अधिकतर पायी जाती हैं।

जैसा कि विवेचन से स्पष्ट है—प्राकृत वैयाकरणों ने प्राकृत भाषाओं का उद्भव संस्कृत से माना है, जब कि पाश्चात्य विद्वानों का मत इसके विपरीत है। विचारणीय बातें इसमें ये हैं कि उन प्राकृत वैयाकरणों ने कहीं पर भी पालि को इसमें समाविष्ट नहीं किया है, तो क्या पालि का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है? क्या पालि का परवर्ती मध्यदेशीय प्राकृत-शौरसेनी से कोई सम्बन्ध है? यदि है तो शौरसेनी और पालि के बीच संस्कृत कैसे आ खड़ी हुई? उपर्युक्त सभी प्रश्नों पर स्वतन्त्र रूप से विचार करना ही अपेक्षित है। यहाँ पर हम केवल पालि और वैदिक संस्कृत अथवा छान्दस का परस्पर क्या सम्बन्ध है तथा पालि संस्कृत के अधिक समीप है अथवा छान्दस के; इस विषय पर ही विचार करेंगे।

यदि हम वेदों की भाषा का विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि वेदों में प्रयोगों की अत्यधिक स्वतन्त्रता थी। एक ही शब्द का अनेक रूपों में प्रयोग मिलता है। एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले अनेक प्रत्ययों का विधान पाठक को हतप्रभ कर देता है। सम्भवतः इन्हीं आधारों पर भाषा-विज्ञ यह अनुमान लगाते हैं कि वेदों का निर्माण जनसाधारण की भाषा में हुआ है। कारण स्पष्ट है—जिस प्रकार जनसाधारण व्याकरण के नियमों की परवाह किए बिना भाषा का प्रयोग करता चला जाता है, उसी प्रकार वेदों में भी किसी व्याकरण के निश्चित नियमों का बन्धन दृष्टिगोचर नहीं होता। अर्थज्ञान करवा देना मात्र शायद ऋषियों को अभीष्ट था। यहाँ पर यह प्रश्न अवश्य उठता है कि शिक्षा, व्याकरण और प्रातिशाख्य आदि उस समय क्या थे? 'कौषीतकी ब्राह्मण' में व्रात्यों के अशुद्ध उच्चारण का उल्लेख क्या सिद्ध करता है? इन प्रश्नों पर विचार-विमर्श गम्भीरता से अभीष्ट है। अतः अब तो हमें केवल इतना ही देखना है कि ऐसे कौनसे प्रयोग हैं जो संस्कृत में तो हैं नहीं, किन्तु पालि में उपलब्ध होते हैं, जिससे वह संस्कृत की पुत्री न

---

[७] हिन्दी साहित्य का बृहत् इतिहास, खण्ड २, अध्याय २, पृष्ठ २७३।

बन कर उसकी छोटी या बड़ी बहन का स्थान ग्रहण करने की अधिकारिणी हो जाती है।

महाभाष्यकार पतञ्जलि ने छान्दस के व्यत्ययों के सम्बन्ध में लिखा है—'व्यत्ययो बहुलम् । ३/१/८५ योग-विभागः कर्तव्यः। छन्दसि विषये सर्वे विधयो भवन्तीति। सुपां व्यत्ययः। तिङां व्यत्ययः। वर्ण व्यत्ययः। लिङ्ग व्यत्ययः। पुरुष व्यत्ययः। काल व्यत्ययः। आत्मनेपद व्यत्ययः। परस्मैपद व्यत्ययः इति।'

उपर्युक्त उद्धरण से तो यही प्रतीत होता है कि छान्दस में कोई नियम नहीं था। ऐसी कोई वस्तु नहीं, जिसमें उलट फेर न हुआ हो। इसके साथ जब संस्कृत का मिलान करते हैं तो ज्ञात होता है कि छान्दस में जितनी स्वछन्दता थी, संस्कृत में उतना ही अंकुश। सम्भवतः पाणिनि ने इसी स्वछन्दता के नियमन हेतु कठोर परिश्रम से लोक विश्रुत अष्टाध्यायी का प्रणयन किया होगा और जो कुछ कमियाँ रह भी गई होंगी, उनकी पूर्ति महाभाष्यकार ने कर डाली होगी।

महाभाष्य और 'सिद्धान्त कौमुदी' में कुछ व्यत्ययों के उदाहरण दिए गये हैं, जिनके आधार पर हम देखते हैं कि कितने प्रयोग संस्कृत में मिलते हैं तथा कितने पालि में और कितने केवल छान्दस तक ही सीमित रह गए हैं। इनमें सर्वप्रथम 'नाम व्यत्यय' आता है। 'नाम व्यत्यय' से तात्पर्य है शब्दों की अनेक रूपता अर्थात् इसके अन्तर्गत एक ही शब्द के किसी विभक्तिविशेष के वचन विशेष में एक से अधिक रूप बनते हैं। इन रूपों में से संस्कृत ने कौन-से रूपों को अपनाया और पालि ने कौन-से, यह दर्शनीय है। प्रथमा बहुवचन में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के 'देवाः और देवासः' दो रूपों का प्रयोग वेद में मिलता है—

देवासः—ये महो रजसो विदुर्विश्वे देवासो अद्रुहः। मरुद्भिरग्न आ गहि।

देवाः—अद्या देवा उदिता सूर्यस्य निरंहस पिपृता निरवद्यात्।

(ऋ० सू० सं०, ३ व ३२)

संस्कृत में इसके स्थान पर केवल 'देवाः' शब्द का ही प्रयोग होता है; परन्तु पालि में दोनों रूपों का विधान किया गया है—'प्रथमा के बहुवचन में कभी-कभी आसे प्रत्यय भी देखा जाता है और यह वैदिक रूप 'देवासः' की छाया पर ज्ञात होता है। देवासे, धम्मासे, बुद्धासे'।[10]

इसी प्रकार छान्दस में अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के तृतीया बहुवचन में दो रूप उपलब्ध होते हैं: (१) देवैः, (२) देवेभिः। इनमें से संस्कृत ने केवल 'देवैः' रूप चुना, जबकि पालि में देवेभि और देवेहि रूप मिलते हैं—

---

[10] पालि महाव्याकरण, पृष्ठ २५।

(१) पदेभिः—य इदं दीर्घं प्रयतं सधस्थं एको विममे त्रिभिरित्पदेभिः।
(ऋ० संग्रह, पृष्ठ ४८)
(२) अर्कैः—ऋतावरी दिवो अर्करबोध्या रेवती रोदसी चित्रमस्थात्।
(ऋ० संग्रह, पृष्ठ ८०)।

पालि—
(१) कम्मेहि—सेहि कम्मेहि दुम्मेधो अग्गिदड्ढो व तप्पति।
(धम्मपद, पृष्ठ ६२)

'भिः' प्रत्यय का विधान तृतीया बहुवचन में पालि वैयाकरणों ने किया है, किन्तु साहित्य में इसके प्रयोग सामान्यतया प्राप्त नहीं होते। मोग्गलान ने पालि महाव्याकरण में 'स्माहि, स्मिन्नं महाभिम्हि—२/६६ सूत्र दिया है, जिसके अनुसार तृतीया में 'भि' भी विकल्प से हो जाता है।

संस्कृत में 'गो' शब्द की षष्ठी के बहुवचन का 'गवाम्' रूप बनता है, जबकि छान्दस में 'गोनाम्' रूप भी उपलब्ध होता है। पालि में इसके तीन रूप मिलते हैं—गवं, गुन्नं, गोनं।[11] यहाँ पर पुनः पालि के रूपों में छान्दस रूपों की छाया उसे वैदिक भाषा के समीप ले जाकर बिठा देती है।

गोनाम्—शतं कक्षीवां असुरस्य गोनां दिविश्रवोऽजामाततान।
(ऋ० १/१२६/२)

गवाम्—गवामप व्रजं वृधि कृणुष्व राधो अद्रिवः। (ऋ० १.१०.७)

इसी प्रकार वेदों में 'पति' शब्द के तृतीया एकवचन में 'पतिना और पत्या' दो रूप मिलते हैं, जबकि संस्कृत में केवल 'पत्या' रूप ही बनता है। 'पतिना' केवल अन्य शब्द के साथ समस्त होने पर ही बनता है; यथा—भूपतिना, श्रीपतिना।

पतिना—क्षेत्रस्य पतिना वयं हितेनेव जयामसि। (ऋ० ४.५७.१)

पत्या—ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टाँ त्वा सह पत्या दधामि।
(ऋ० १०.८५.२२)

पालि में पति शब्द के लिए तृतीया एकवचन में संस्कृत के अनुसार पत्या' को स्वीकार न कर 'पतिना' को ही ग्रहण किया है।

संस्कृत में 'इष्' (इच्छ्) धातु केवल परस्मैपदी है जबकि छान्दस में यह उभयपदी धातु के रूप में प्रयुक्त हुई है। इसी प्रकार पालि में 'लभ्' धातु का प्रयोग दोनों पदों में उपलब्ध होता है। इस प्रकार महाभाष्यकार के 'तिङां व्यत्ययः' को पालि में स्वीकार कर लिया गया है—

---

[11] गुन्नं च नं ना. २/७२ मोग्गल्लान व्याकरण।

(१) इच्छसे अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि युधेदापि त्वमिच्छसे । (ऋ० ८.२१.२)

(२) इच्छन्ति—अधि सानौ नि जिघ्नते वज्रेण शतपर्वणा । मन्दान इन्द्रो: अन्धस: सखिभ्यो गातुमिच्छन्त्यर्चन्न नु स्वराज्यम् ।
(ऋग्वेद, १.८०.६)

पालि—

(१) लब्भति—समुद्द देवता तुम्हं येव लब्भति । (सीला निसंस जातकम्)

(२) लब्भते—अत्तनो सुखमेसानो पेच्चसो न लब्भते सुखम् ।
(ध. प. द. व. ३)

इसी प्रकार वेद में सार्वधातुक और आर्धधातुक दोनों नियमों से ही प्रत्यय जोड़े जाते है । अत: लोट् मे वर्धन्तु और वर्धयन्तु' (वृध्) दोनों ही रूप बन जाते हैं । संस्कृत में इस प्रकार के प्रयोगों का परित्याग कर उन्हें एक नियम के अधीन बाँध दिया गया है । अत: संस्कृत मे केवल 'वर्धन्ताम्' रूप ही निष्पन्न होता है—

(१) वर्धन्तु—तुभ्यं वर्धन्तु त्व सोम पेयाय धृष्णो ।
(ऋग्वेद ३.५२.८)

(२) वर्धयन्तु—पृणन्तस्ते कुक्षी वर्धयन्त्वित्या सुत: पौर इन्द्रभाव: ।
(ऋ० २.११.११)

इसी प्रकार वेदों में विकरण व्यत्यय भी हुआ है; यथा 'भिद्' का भेदति, 'मृ' का मरति और हन् का हनति रूप भी मिलते है तथा भिनत्ति, भिन्ते, भिन्दति, मारयति, हन्ति आदि रूप भी मिलते हैं ।

उपरिकथित दोनों रूपों में वचनों का तथा कारकों का व्यत्यय भी मिलता है । वेदों में अनेक स्थानों पर बहुवचन शब्दों के साथ एकवचन क्रियायें प्रयुक्त की गई है, जबकि संस्कृत मे ऐसा कदापि सम्भव नही है, किन्तु पालि में ऐसे प्रयोग मिलते है ।

छान्दस—चपालं ये अश्वयूपाय तक्षति । (तक्षन्ति के स्थान पर तक्षति का प्रयोग)

पालि—न ससस्स तिला अत्थि न मुग्गा नापि तण्डुला ।
(पा. जा ससजातकम्)

इसी प्रकार कारकों मे भी सप्तमी के स्थान पर प्रथमा का प्रयोग तथा सप्तमी के स्थान पर षष्ठी, चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी, द्वितीया के स्थान पर षष्ठी आदि के व्यत्यय वेदों में उपलब्ध होते है, जबकि संस्कृत में इस प्रकार के व्यत्ययों को रोक दिया गया है, परन्तु पालि में ये अबाध-गति से प्रयुक्त हुए है ।

(२) कापोतकानि अट्ठीनि तानि दिस्वान (दृष्ट्वा) का रति।

(ध. प. ज. व., ४)[12]

लगभग १८ निमित्तार्थक प्रत्ययों का प्रयोग वेद में मिलता है जिनमें से केवल 'तुमुन्' प्रत्यय का ही प्रयोग संस्कृत में किया गया है, शेष छोड़ दिए गए हैं। पालि में लगभग दो तो स्पष्टतः प्रयुक्त हुए है—तुमुन् और तवे।

वेद—(१) आ च नो वर्हिः सद ताविता च नः स्पार्हाणि दातवे वसु।

(ऋ० ७.५६.६)

(२) स आ गमदिन्द्रो यो वसूनां चिकेतद्दातुं दामनो रयीणाम्।

(ऋ० इन्द्रसूक्त)

पालि—(१) परिफन्दति दं चित्तं मारधेय्यं पहातवे। (प्रहातुम्)।

(ध. प. चि. व., २)

(२) न सक्का पुञ्ञं संखातुं इमेत्तमपि केनचि.।

(ध. प. बुद्धवग्गो, १८)

निपातों के कतिपय परिवर्तनों में भी पालि और छान्दस में पर्याप्त साम्य दिखाई देता है: छान्दस में 'निपातस्य च' सूत्र से यह बताया गया है कि निपातों में प्रायः अन्तिम स्वर दीर्घ हो जाया करता है; पालि मे विकल्प से निपात का अन्तिम स्वर दीर्घ मिलता है—

(१) वेद—सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः।

(ऋ. सू. सं., ६०)

(२) पालि—अपा बाधतं च फासु विहालतं च। (अ शि. ले. भब्रू)

अन्त में यही कहा जा सकता है कि छान्दस के अनेक प्रयोग जो संस्कृत में या तो छोड़ दिए गए अथवा लुप्त हो गए, वे पालि में पूर्णतः सुरक्षित हैं। ये सुरक्षित प्रयोग, सरलता से, पालि और छान्दस का सम्बन्ध प्रस्थापित कर देते है। महाभाष्यकार ने व्यत्यय के प्रमाण स्वरूप जो मन्त्र उद्धृत किया है उसके समस्त प्रयोग पालि में प्रचलित है—

ऋजवः सन्तु पन्थाः (पन्थानः); परमे व्योमन् (व्योमनि); लोहिते चर्मन् (चर्मणि); आर्द्रे चर्मन् (चर्मणि); धीती (धीत्या); मती (मत्या); या सुरथा रथी-तमा दिवि स्पृशा अश्विना (यौ सुरथौ रथीतमौ दिविस्पृशौ अश्विनौ); नताद् ब्राह्मणं (नतं ब्राह्मणम्); यादेव (यमेव); विद्यतात्त्वा (तंत्वा); युष्मे (युष्मासु); अस्मे (अस्मभ्यम्); उरुया (उरुणा); धृष्णुया (धृष्णुना); नाभा (नाभौ); आदि।

---

12 एवं धम्मानि **सुत्वान** विप्पसीदन्ति पण्डिता। (ध. प. पण्डित वग्गो, ७)। **छेत्वान** (छित्त्वा) मारस्य पपुप्फकानि। (धम्मपद पुप्फ वर्ग, ३)।

पंचम अध्याय

साहित्यिक प्राकृत भाषाएँ

पालि के पश्चात् साहित्यिक प्राकृतों का प्रादुर्भाव—प्राकृत नाम क्यों—प्राकृतों के भेदों पर प्राचीन वैयाकरणों एवं काव्य शास्त्रियों के भिन्न-भिन्न विचार—प्राकृत भाषाओं की सामान्य ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक प्रवृत्तियाँ—मुख्यतः पाँच प्राकृतों की स्वीकृति—(१) शौरसेनी प्राकृत—ध्वनितत्त्व एवं रूप-तत्त्व, (२) मागधी प्राकृत—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(३) अर्धमागधी—ध्वनितत्त्व तथा रूपतत्त्व—(४) महाराष्ट्री—ध्वनितत्त्व और रूपतत्त्व—(५) पैशाची प्राकृत—ध्वनि तत्त्व और रूप तत्त्व।

पालि एवं अशोकी शिलालेखों की भाषा जब साहित्य एवं राजकीय कार्यों के लिए प्रयुक्त की जा रही थी उस समय भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की बोलियाँ धर्म-गुरुओं एवं साहित्यकारों के सहयोग से विकास की ओर अग्रसर थीं। ये ही बोलियाँ विकसित होकर साहित्यिक प्राकृतों के नाम से आगे चलकर प्रसिद्ध हुईं।

जैसा कि पहले स्पष्ट किया जा चुका है, प्राकृत वैयाकरणों ने मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं की प्रकृति संस्कृत बताई है। इसीलिए इस काल की भाषाओं को प्राकृत नाम से अभिहित किया गया है, क्योंकि ये भाषाएँ किसी न किसी प्रकृति का आधार लेकर विकसित हुई हैं 'यत् प्रकृत्या जातं तत् प्राकृतम्' सिद्धान्त के आधार पर ही यह नामकरण संस्कार हुआ ज्ञात होता है। इन भाषाओं के लिए यह संज्ञा प्राकृत वैयाकरणों की ही देन है। छान्दस एवं संस्कृत-ग्रन्थों में इन भाषाओं को देशी भाषाओं एवं अपभ्रंश भाषाओं के नाम से ही अधिकांशतः अभिहित किया गया है। यदि उत्तरकालीन किसी संस्कृत ग्रन्थ में इन भाषाओं के लिए 'प्राकृत' शब्द का प्रयोग हुआ भी है तो वह प्राकृत भाषा-ग्रन्थों का प्रभाव कहा जा सकता है।

'मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाएँ' शीर्षक के अन्तर्गत सामान्य रूप से इन भाषाओं का अध्ययन करते समय हम बतला चुके हैं कि साहित्यिक प्राकृतों के पूर्ण रूप से अस्तित्व में आ जाने तक अनेक देशी जन-बोलियों का प्रचलन भारतवर्ष में हो चुका था। भिन्न-भिन्न विद्वानों ने इनकी संख्या देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्न बताई है। अब तक प्राप्त संकेतों के आधार पर कहा जा सकता है कि इनकी संख्या अठारह तक पहुँच चुकी थी और विद्वानों का उनके स्वरूप से परिचय था। उस समय आधुनिक भाषावैज्ञानिक पद्धति का अभाव होने के कारण विद्वानों ने इन बोलियों के नाम का उल्लेख तो कर दिया, किन्तु उनके स्वरूप का विवेचन करने का कष्ट नहीं उठाया। कारण स्पष्ट है कि ये बोलियाँ इस रूप में समुपस्थित न होंगी और न ही वैयाकरणों को इनके लिए शास्त्र-निर्माण की आवश्यकता अनुभव हुई होगी तथा लिखित साहित्य का सम्भवतः अभाव होने के कारण काव्यशास्त्रियों को इन बोलियों के लिए किसी प्रकार के साहित्यिक नियमों के निबन्धन की आवश्यकता नहीं हुई होगी। अतः इनके स्वरूप का विवेचन उस समय सम्भव न हो सका होगा।

प्राकृत भाषा के सर्वप्रथम वैयाकरण 'वररुचि' ने अपने व्याकरण ग्रन्थ प्राकृत-प्रकाश में चार प्राकृत भाषाओं का शास्त्रीय-विवेचन प्रस्तुत किया है—

(१) महाराष्ट्री, (२) पैशाची, (३) मागधी, (४) शौरसेनी। उक्त ग्रन्थ के नौ परिच्छेदों में महाराष्ट्री का, दसवें परिच्छेद में पैशाची का, ग्यारहवें में मागधी का और बारहवें में शौरसेनी भाषा का व्याकरण प्रस्तुत किया गया है। इस प्रकार के विवेचन से महाराष्ट्री प्राकृत का सर्वोपरि होना स्वयं सिद्ध हो जाता है। हेमचन्द्र के अतिरिक्त अन्य वैयाकरणों ने वररुचि की ही पद्धति का अनुसरण किया है तथा प्राकृतों की यही संख्या और यही नाम मानकर उनका व्याकरण एवं तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। हेमचन्द्र ने उक्त चार प्राकृतों के अतिरिक्त अन्य तीन प्राकृतों का व्याकरण भी अपने ग्रन्थ 'हेम शब्दानुशासन' में प्रस्तुत किया है। इस प्रकार सात प्राकृत भाषाओं का अस्तित्व हमारे सामने उपस्थित होता है; यथा—(१) महाराष्ट्री अथवा प्राकृत, (२) शौरसेनी, (३) पैशाची, (४) चूलिका पैशाची, (५) मागधी, (६) आर्ष या अर्धमागधी, (७) अपभ्रंश। हेमचन्द्र ने जैन होने के कारण अर्धमागधी को, अधिक महत्त्वपूर्ण भाषा सिद्ध करने हेतु, आर्ष संज्ञा से अभिहित किया है।

इनके अतिरिक्त नामोल्लेख के रूप में अन्य अनेक प्राकृतें उपलब्ध होती हैं जिनका विवरण एवं समाधान डॉ. भोलानाथ तिवारी ने अपने 'भाषा विज्ञान' ग्रन्थ में इस प्रकार दिया है—"अन्य प्राकृत व्याकरणों एवं इतर स्रोतों से कुछ और प्राकृत भाषाओं के नाम भी मिलते हैं; जैसे वाल्हीकी, शाकारी, टक्की, शाबरी, चाण्डाली, आभीरिका, अवन्ती, दाक्षिणात्या, भूतभाषा तथा गौड़ी आदि। इनमें प्रथम पाँच तो मागधी के ही भौगोलिक या जातीय उपभेद हैं। आभीरिका शौरसेनी का जातीय रूप थी और अवन्ती उज्जैन के पास की कदाचित् महाराष्ट्री से प्रभावित शौरसेनी थी। दाक्षिणात्या भी शौरसेनी का ही एक रूप है। हेमचन्द्र की चूलिका पैशाची को ही दण्डी ने भूतभाषा कहा है (गलती से पैशाची का अर्थ पिशाच या भूत समझकर)। कुछ लोगों ने लिखा है कि हेमचन्द्र ने पैशाची को ही 'चूलिका-पैशाची' कहा है; किन्तु वस्तुतः बात ऐसी नहीं है। हेमचन्द्र ने ये दोनों नाम अलग-अलग दिए हैं। दूसरी पहली की ही एक उपबोली है। गौड़ी का अर्थ है गौड़ देश की। इसका आशय यह है कि यह मागधी का ही नाम है।"[1]

इनके अतिरिक्त पश्चिमी प्राकृत, कैकेय प्राकृत, टक्क या माद्री प्राकृत, नागर प्राकृत या खस प्राकृत आदि की कल्पना भी कतिपय आधुनिक भारतीय विद्वान् एवं पाश्चात्य भाषा-विज्ञ करते है, परन्तु इस प्रकार की कल्पना कदापि समीचीन नहीं कही जा सकती। मेरे विचार में छान्दस के परिनिष्ठित स्वरूप

---

[1] भाषा-विज्ञान, पृष्ठ ११७।

धारण करने तक यह बहुत सम्भव है कि समस्त उत्तर भारत में सप्त-सिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक अनेक जन-बोलियाँ न्यूनाधिक अन्तर के साथ विकसित हो चली हों और वैयाकरणों को उनका ज्ञान भी रहा हो, परन्तु इन बोलियों का—केवल साहित्यिक रूपों को छोड़कर—केवल नामोल्लेख मात्र उपलब्ध होता है। अतः इन पर किसी भी प्रकार का कोई निर्णय देना ख़तरे से खाली नहीं है। इसलिए हमें भी केवल उनके पुनरालेखन मात्र से ही सन्तुष्ट होना पड़ा। प्रस्तुत ग्रन्थ में हम उन्हीं प्राकृत भाषाओं पर विचार-विमर्श करने का प्रयत्न करेंगे, जिन प्राकृतों का साहित्य उपलब्ध होता है अथवा जिनके साहित्य का अथवा व्याकरणिक विशेषताओं का वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है। अधोलिखित प्राकृत भाषाएँ इन मान्यताओं के अन्तर्गत आती हैं—(१) शौरसेनी, (२) मागधी, (३) अर्धमागधी, (४) महाराष्ट्री, तथा (५) पैशाची।

अब हम सर्वप्रथम उन सामान्य विशेषताओं का अवलोकन करने का यत्न करेंगे जो उस समय की प्रचलित समस्त भाषाओं में उपलब्ध होती हैं। तत्पश्चात् उन भाषाओं की पृथक्-पृथक् विवेचना प्रस्तुत कर उनकी अपनी मौलिक प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन करायेंगे।

ध्वनितत्त्व—(१) मध्यकाल तक आते-आते व्यञ्जन ध्वनियों में दो स्वरों के मध्य आने वाली सघोष स्पर्श व्यञ्जन ध्वनियों का उच्चारण शिथिल हो गया तथा उनका उच्चारण ऊष्म ध्वनिवत् होने लगा। धीरे-धीरे शिथिलता को प्राप्त ये ध्वनियाँ लुप्त होने लगीं। यह प्रक्रिया कुछ इसी प्रकार सम्पन्न हुई जैसे किसी पदार्थ को रगड़-रगड़ कर घिसना प्रारम्भ कर दें और अन्त में घिसते-घिसते पदार्थ की वह अवस्था आ जाय कि उसका उस रूप में अस्तित्व ही समाप्त हो जाय है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मध्य-कालीन आर्य भाषाओं में स्वर-मध्यग अल्पप्राण अघोष एवं सघोष ध्वनि का लोप हो जाता है—

शची>सई, रजकः>रअओ, नयनम्>णअणं, शुक>सुग>सुअ, हृत्>हिद>हिअ (हि. हिया), अपर>अवर>अउर (और), सागर>साअर (सायर), रिपु>रिउ।

(२) स्वरों के मध्य में जब अघोष तथा सघोष महाप्राण ध्वनियाँ आती हैं तो प्रायः उसके स्थान पर 'ह' का आदेश कर दिया जाता है। अपभ्रंश भाषा में यह प्रवृत्ति विशेष रूप से लक्षित की गई है। अपभ्रंश एवं शौरसेनी प्राकृत में सघोष अल्पप्राण के लोप के पश्चात् 'य्' श्रुति का आगम भी विशेष रूप से लक्षित किया गया है, जिसके अवशेष अब भी ब्रजभाषा एवं राजस्थानी में खोजे जा सकते हैं—

मुखम्>मुहं, मेखला>मेहला, मेघः>मेहो, माघः>माहो, नाथः>नाहो, मिथुनं>मिहुणं, साधुः>साहु, राधा>राहा, सभा> सहा, नभं>णहं ।

'य' श्रुति के उदाहरण[2]—नगरम्>नयरं, मृगांकः>मयंको, रसातलं> रसायलं, मदनः>मयणो, प्रजापतिः>पयावइ ।

(३) 'ऋ' ध्वनि लिखित रूप में तो नहीं मिलती है किन्तु उसका उच्चारण 'रि' की तरह होने लगा था । अधिकतर 'ऋ' का विकास 'अ इ, उ, और ए' के रूप में उपलब्ध होता है—

ऋणम्>रिणं, ऋजुः>रिज्जु, ऋषभः>रिसहो, ऋषिः>रिसि, एतादृशम्>एआरिसं, तादृशः>तारिसो, सदृशः>सरिसो, यादृशः>एरिसो, कीदृशः>केरिसो, घृतम्>घअं, तृणम्>तणं, कृतं>कअं, मृतः>मओ, कृपा>किवा, दृष्टम्>दिट्ठं, कृशः>किसो, वृषिः>विसी, ऋतु>उदु, प्रावृष्> पाउसो, पृष्ठम्>पुट्ठं, मातृ>माऊ, गृहम्>गेहं ।

(४) 'न' ध्वनि का विकास 'ण' में होने लगा था—

नाराचः>णाराओ, नगरम्>णअरं, निशाचरः>णिसाअरो ।

रूप तत्त्व—(१) व्यञ्जनान्त शब्दों का प्रायः लोप हो गया । व्यञ्जनान्त शब्दों के अन्त्य 'हल्' व्यञ्जन का या तो लोप कर उसे स्वरान्त बना लिया गया या उसके साथ 'अ' का आगम कर उसे अजन्त बनाया गया है—

राजन्>राआ, आत्मन्>अप्पा ।

(२) शब्द रूपों में क्षय की प्रवृत्ति का प्रारम्भ जो अप्रत्यक्ष रूप में छान्दस से ही प्रारम्भ हो गया था, इस काल तक आते-आते इस के चिह्न स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगे । पुल्लिङ्ग, कर्ता, बहुवचन और कर्म, बहुवचन के रूप समान होने लगे—

सव्वे—	सव्वे,	गिरिणो—	गिरिणो,	देवा—	देवा
(कर्ता)	(कर्म)	(कर्ता)	(कर्म)	(कर्ता)	(कर्म)

चतुर्थी के रूप लगभग समाप्त से हो गए और उसका काम षष्ठी से लिया जाने लगा ।

(३) **लिङ्ग**—लिङ्ग के स्थान पर किसी प्रकार के क्षय के चिह्न दृष्टिगत नहीं होते । मध्यकाल में संस्कृत की तरह तीनों ही लिङ्गों का प्रयोग प्राप्त होता है । हाँ, लिङ्ग व्यत्यय के उदाहरण अवश्य मिलने लगते है, जिनके लिए अपभ्रंश के अध्ययन में हेमचन्द्र को 'लिङ्गमतन्त्रम्'[3] सूत्र की रचना करनी पड़ी ।

---

[2] समस्त उदाहरण हेम व्याकरण से उद्धृत है ।

[3] हेमचन्द्र शब्दानुशासन, ८/४/४४५वाँ सूत्र ।

(४) संज्ञा शब्दों के साथ सार्वनामिक विभक्ति-प्रत्ययों का प्रयोग होने लगा; यथा—'लोके' के स्थान पर 'लोकम्हि', देवे>देवेम्मि, गुरोः>गुरुत्तो, गुरुभ्यः>गुरुसुंतो।

(५) कारक और क्रियाओं का सम्बन्ध व्यक्त करने के लिए संज्ञा शब्द के साथ कारकाव्यय एवं कृदन्त क्रियाओं का प्रयोग भी इस काल में प्रारम्भ हो गया। यही वह प्रवृत्ति है जिसने आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के अनुसर्गों अथवा परसर्गों को जन्म दिया। यद्यपि इस प्रवृत्ति के संकेत उत्तरकालीन संस्कृत से मिलने प्रारम्भ हो गए थे, किन्तु प्राकृतों में इस प्रवृत्ति का विकास विशेष रूप से हुआ और अपभ्रंश में तो ऐसे प्रयोग धड़ल्ले के साथ होने लगे—रामस्स कए दत्तं, रामस्स केरक घरं।

(६) आत्मनेपदों के प्रयोग क्रमशः घटते जा रहे थे, धातुओं का प्रयोग प्रायः परस्मैपद में ही होने लगा।

(७) 'लङ्, लिट् तथा लुङ्' के प्रयोग बन्द हो गए। 'लेट्' लकार का प्रयोग बहुत पहले ही (संस्कृत से ही) बन्द हो चुका था। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं के काल-रूपों एवं भाव-रूपों का विवेचन करते समय डॉ० चाटुर्ज्या लिखते हैं—'आ.भा.आ. के अधिकांश सूक्ष्म काल तथा रूप धीरे-धीरे नष्ट हो गए और अन्त में द्वितीय म.भा.आ. अवस्था में केवल कर्तरि वर्तमान, एक कर्मणि वर्तमान, एक भविष्यत् (निर्देशक रूप में), एक अनुज्ञार्थ तथा एक विधिलिङ् वर्तमान रूप प्रचलित रहे; साथ ही कुछ विभक्ति साधित भूत रूप भी बचे रहे; यथा—भूतकाल का निर्देश साधारणतया' त-इत' ('या-न') साधित कर्मणि कृदन्त या निष्ठा द्वारा होने लगा। 'लङ्, लुङ्, लिट्' के स्थान पर म.भा.आ. में भूतकाल भावे या कर्मणि कृदन्त 'गत' लगा कर बनाया जाने लगा।[4]

(८) मिथ्या सादृश्य के आधार पर सुबन्त और तिङन्त रूप कम होकर भाषा को सरल बनाने में सहायक सिद्ध हो रहे थे।

सम्मिलित रूप से साहित्यिक प्राकृतों की भाषात्मक सामान्य प्रवृत्तियों के विश्लेषण के पश्चात् अब उपर्युक्त भाषाओं की उन विशेषताओं का अवलोकन करने का प्रयत्न करेंगे, जिनके कारण ये भाषाएँ एक ही स्रोत से निसृत होने पर भी अपना भिन्न अस्तित्व बनाए हुए हैं—

शौरसेनी—मध्यदेश में बोली जाने वाली भाषा का नाम शौरसेनी है। इसका यह नाम शूरसेन प्रदेश के आधार पर पड़ा। आधुनिक मथुरा प्रदेश ही उस समय शूरसेन प्रदेश कहलाता था।

---

[4] भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०७।

इस पर उदीच्य बोली का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में लक्षित होता है, परन्तु साथ ही मागधी भाषा की कतिपय विशेषताएँ अपने में संजोए हुए है। शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग संस्कृत नाटकों में नाटककारों ने हीन पात्रों और नारी पात्रों के मुख से करवाया है। कर्पूरमञ्जरी नाटक का और अश्वघोष के नाटकों का गद्य अधिकतर शौरसेनी में ही उपलब्ध होता है। अश्वघोष के प्राय: तीन नाटक बताए जाते हैं जिनमें से दो के नामादि का—खण्डित होने के कारण—पता नहीं चलता। एक प्रकरण रूपक संपूर्ण उपलब्ध है जिसका नाम शारिपुत्र-प्रकरण है। इन नाटकों की खोज लूडर्स महोदय ने की थी। गौतम और उनके शिष्यों को छोड़ कर शेष पात्र प्राकृत भाषा का ही प्रयोग करते है। डॉ. बलदेव उपाध्याय उसे महाराष्ट्री की संज्ञा देते हैं,[5] किन्तु प्रसिद्ध भाषा-विज्ञ डॉ. बाबूराम सक्सेना ने उसे शौरसेनी प्राकृत कहा है।[6] शौरसेनी और महाराष्ट्री में पर्याप्त मात्रा में साम्य होते हुए भी कतिपय ऐसी विशेषताएँ हैं जो इनको पृथक्-पृथक् भाषाएँ स्वीकार करने पर बल देती है। विद्वानों का मत है कि शौरसेनी का उद्भव पालि भाषा से हुआ है। 'शौरसेनी का ही विकसित रूप महाराष्ट्री है'—इस बात का समर्थन आजकल भाषा मर्मज्ञ विशेष रूप से कर रहे हैं।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी में प्राय: वे सभी ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं जो पालि में हैं। स्वरों में 'ऐ', 'औ', 'ऋ' ध्वनियाँ नहीं हैं। व्यञ्जनों में 'स, श, ष' तीनों के स्थान पर केवल 'स' मिलता है। 'न और य' के स्थान पर प्राय: 'ण' और 'ज' मिलते हैं; यथा—

ईदृशम्>ईदिसं, एष:>एसो, यज्ञसेन:>जण्णसेणो, पृतना>पिदणा, भानव:>भाणओ, अभिमन्यु:>अहिमण्णू, अब्रह्मण्यम्>अव्वह्मज्जं, यथा>जधा, यादृशं>जादिसं।

(२) शौरसेनी भाषा के अनादि में वर्तमान असंयुक्त 'त' और 'थ' के क्रमश: 'द' और 'ध' हो जाते हैं; यथा—

गच्छति>गच्छदि, आगत:>आगदो, यथा>जधा, कथय>कधेहि, एतस्मात्>एदाहि, कौतूहलम>कोदूहलं।

(३) जहाँ 'त' या 'थ' आदि में वर्तमान हों वहाँ पर यह परिवर्तन नहीं देखा जाता; यथा—

तथा>तधा, तस्य>तस्स, तस्मिन्>तत्थ, तादृशम्>तादिसं।

(४) 'त' जब अन्य व्यञ्जन के साथ मिला हुआ होता है, तब भी इसे

---

[5] संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ५०६।

[6] सामान्य भाषा-विज्ञान, पृ० २६५।

'द' का आदेश नहीं होता। 'थ' को भी संयुक्त होने पर 'ध' आदेश नहीं होता; यथा—

शकुन्तले>सउन्तले, आर्यपुत्र>अज्जउत्त, त्वया>तए, उत्थितः>उत्थिदो, स्थूलम्>थूलं, उद्+स्था>उत्थ।

(५) 'थ' को सर्वथा 'ध' का आदेश नहीं होता, कहीं-कहीं 'थ' का 'थ' ही रहता है और कहीं-कहीं 'थ' को 'ह' आदेश भी देखा जाता है; यथा—

नाथः>णाधो/णाहो, कथम्>कहं/कधं, राजपथः>राजपहो, दशरथः>दसरहो।

(६) डॉ० उदयनारायण तिवारी के अनुसार संस्कृत 'द, ध' ध्वनियों की शौरसेनी में पूर्ण सुरक्षा पाई जाती है,[7] पर यह सर्वत्र दृष्टिगत नहीं होता, अनेक स्थानों पर इनमें विकार देखा जाता है; यथा—

वधूः>वहू, युधिष्ठिरः>जुहुट्ठिरो, नदी>नई, दुहिता>धूदा, रुध>रोव, वदरम्>वअरं।

(७) 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी 'क्ख' मिलता है; यथा—

इक्षु>इक्खु, कुक्षि>कुक्खि, वृक्षः>रुक्खो।

(८) शौरसेनी में कहीं-कही 'ज्ञ' के स्थान पर 'ण' भी मिलता है; यथा—सर्वज्ञः>सव्वण्णो, इंगितज्ञः>इंगिअणो, विज्ञः>विण्णो, 'ज्ञ' को विकल्प से 'ञ्ज' भी होता है। यथा—क्रमशः ब्रह्मज्ञः>ब्रह्मञ्जो, विज्ञ>विञ्जो।

(९) संयुक्त व्यञ्जनों में से एक का तिरोभाव कर पूर्ववर्ती स्वर को दीर्घ करने की प्रवृत्ति शौरसेनी में अधिक नहीं मिलती।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) शौरसेनी में अदन्त शब्दों पर 'ङसि' के स्थान पर (पंचमी एक वचन में) 'आदो' और आदु' आदेश न होकर केवल 'दो' आदेश होता है; यथा—देवादो।

(२) शौरसेनी में स्त्रीलिंग में 'जस्' (प्रथमा बहुवचन) को 'उत' आदेश नहीं होता; यथा—प्राकृत—मालाओ, शौरसेनी—माला।

(३) शौरसेनी में नपुंसकलिङ्ग में जस् और शस् (प्रथमा और द्वितीया बहुवचन) के स्थान पर केवल 'णि' आदेश होता है और पूर्व स्वर का दीर्घ हो जाता है; यथा—वणाणि, धणाणि, आदि।

(४) शौरसेनी में केवल परस्मैपद के प्रयोग ही अधिक मात्रा में पाए जाते हैं। आत्मनेपद के प्रयोग नहीं के बराबर हैं।

(५) शौरसेनी में 'तिङ्' प्रत्ययों के आने पर 'भू' धातु 'भो' में परिवर्तित हो जाती है; यथा—भोदि, भोमि।

---

[7] हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ११५।

(६) शौरसेनी में विधि के रूपों में मागधी और अर्धमागधी की तरह 'एज्ज' न लगाकर संस्कृत के आधार को ही ग्रहण किया गया है; यथा—वर्तेत>वट्टे।

(७) संस्कृत के कर्मवाच्य के सूचक 'य' प्रत्यय के स्थान पर शौरसेनी में 'इअ' आदेश होता है; यथा—पृच्छ्यते>पुच्छीअदि, गम्यते>गमीअदि।

(८) शौरसेनी में धातु और तिङ् के मध्य में कहीं-कहीं 'ए' और 'आ' होते हैं। यथा—कथयति>कधेदि, शेते>सुआदि।

(९) शौरसेनी में 'कृ' 'गम्' धातुओं के साथ 'क्त' प्रत्यय को 'अडुअ' आदेश होता है; यथा—कडुअ, गडुअ। इसके अतिरिक्त करिय, करिदूण गच्छिय, गच्छिदूण रूप भी मिलते हैं।

मागधी :

यह भाषा छान्दस से विकसित प्राच्या बोली का साहित्यिक एवं परिष्कृत रूप है जिसे भगवान् बुद्ध ने अपने प्रवचनों की अभिव्यञ्जना का माध्यम चुना था। वर्तमान अवध से लेकर बंगाल तक का प्रदेश इस भाषा के अन्तर्गत आता था। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार प्राच्या उपभाषा सम्भवतः आधुनिक अवध, पूर्वी उत्तर प्रदेश तथा शायद बिहार प्रदेश की भाषा थी।[8]

मागधी प्राकृत के साहित्यिक रूप में आने तक आर्यों का यह वर्ग निश्चित रूप से आधुनिक बंगाल तक पहुँच चुका होगा। मागधी का ऐसा साहित्य अब तक उपलब्ध न हो सका है जो पूरे का पूरा मागधी भाषा में लिखा गया हो। संस्कृत नाटकों में हीन पात्रों के मुख से इस भाषा का प्रयोग करवाया गया है। विद्वानों का मत है कि ध्वनि-विकार की दृष्टि से मागधी तत्कालीन भाषाओं की अग्रणी रही है।

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) पालि में प्राप्त प्रायः सभी स्वर मागधी में उपलब्ध होते हैं। व्यञ्जनों के क्षेत्र में पालि का अनुसरण न कर स्वतन्त्र पथ का अनुगमन किया गया है। ऊष्म ध्वनियों में पालि में 'श, ष, स' तीनों के स्थान पर 'स' का प्रयोग मिलता है, वहाँ मागधी में उक्त तीनों ध्वनियों के स्थान पर केवल 'श' ही मिलता है। यथा—

हंसः>हंशे, सारसः>शालशे, पुरुषः>पुलिशे।

(२) हेमचन्द्र के अनुसार 'स, ष' को असंयुक्त अवस्था में ही 'श' आदेश होता है, संयुक्त रहने पर 'स्' को 'स' और 'ष्' को 'स्' आदेश हो जाता है;[9] यथा—

---

[8] 'भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी' के अनुसार।

[9] आचार्य मधुसूदन प्रसाद मिश्र कृत, प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ १९५।

हस्ती>हस्ती, बृहस्पतिः>बुहस्पदी, कष्टम्>कस्टं, विष्णुम्>विस्नुं, निष्फलम्>निस्फलं, ऊष्मा>उस्मा।

(३) मागधी में 'र' के स्थान पर 'ल' मिलता है; यथा—

नरः>नले, करः>कले, मस्करी>मस्कली, वासरः>वासले, राजा>लाजा, समर>शमल, आदि।

(४) मागधी में 'स्थ और र्थ' के स्थान पर 'स्त' आदेश होता है; यथा—

अर्थवती>अस्तवदी, सार्थवाहः>शस्तवाहे, उपस्थितः>उवस्तिदे, सुस्थितः>शुस्तिदे।

(५) 'ज, द्य, और य' के स्थान पर मागधी में 'य' का आदेश होता है; यथा—

जानाति>याणादि, जनपदः>यणपदे, गर्ज्जति>गय्यदि, मद्यम>मय्यं, अद्य>अय्य, याति>यादि।

(६) 'क्ष' के स्थान पर शौरसेनी में जहाँ 'क्ख या ख' मिलते हैं वहाँ मागधी में 'स्क' का आदेश होता है, यथा—

पक्षः>पस्के, प्रेक्षते>पेस्कदि, आचक्षते>आचस्कदि।

(७) मागधी में 'त' के स्थान पर 'द' का आदेश होता है; यथा—

गच्छति>गच्छदि, अर्थवती>अस्तवदी, आगतः>आगदे।

(८) द्वित्व 'ट' और 'प' से युक्त ठ (ष्ट) के स्थान पर मागधी में 'स्ट' का आदेश होता है; यथा—

पट्टः>पस्टे, भट्टारिका>भस्टालिका, भट्टिनी>भस्टणी, सुष्ठु>शुस्टु, कोष्ठागारम्>कोस्टागालं।

(९) मागधी में अनादि में वर्तमान 'छ' के स्थान पर 'श्च' का आदेश होता है; यथा—

गच्छ-गच्छ>गश्च-गश्च, उच्छलति>उश्चलदि, पिच्छिलः>पिश्चिले।

(१०) 'न्य, ण्य, ज्ञ, 'ञ्ज' संयुक्ताक्षरों के स्थान पर मागधी में 'ञ्ञ' ध्वनि उपलब्ध होती है; यथा—

अभिमन्यु>अहिमञ्ञु, कन्या>कञ्ञा, अब्रह्मण्यम्>अवम्हञ्ञं, पुण्याहम्>पुञ्ञाहं, अवज्ञा>अवञ्ञा, सर्वज्ञः>शव्वञ्ञे, पञ्जरः>पञ्जले।

(६) समीकरण की प्रवृत्ति जो सामान्य रूप से सभी प्राकृतों में उपलब्ध होती है, वहाँ मागधी में यदि ऊष्म ध्वनि पूर्ववर्ती हो तो समीकरण नहीं होता; यथा—हस्त>हस्त, शुष्क>शुस्क।

(१२) 'द्य, र्ज, र्य' के स्थान पर प्रायः 'य्य' ध्वनि पाई जाती है; यथा—अद्य>अय्य, आर्य>अय्य, कार्य>कय्य, अर्जुन>अय्युण।

रूप-तत्त्व :

(१) शौरसेनी में जहाँ कर्ता कारक के प्रत्यय 'अः' के स्थान पर 'ओ' होता है वहाँ मागधी में 'ए' मिलता है; यथा—

सः>से, कः>के, देवः>देवे, वृत्तः>वुत्ते, मेषः>मेशे, भदन्तः>भन्ते ।

(२) अकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वररुचि[10] के मत में विकल्प से 'सु' प्रत्यय के आने पर 'अ' को 'इ' और प्रत्यय का लुक् होता है; यथा—

एशि लाआ<एष राजा, एशि पुलिशे<एषः पुरुषः ।

(३) 'क्त' प्रत्ययान्त शब्दों में प्रथमा विभक्ति के एकवचन में 'अः' को 'उ' भी होता है;[11] यथा—

हशिदु<हसितः, चलिदु<चलितः, खादिदु<खादितः ।

(४) षष्ठी में 'स्य' के स्थान पर 'अह' का प्रयोग होता है; यथा—चारुदत्तस्य>चालुदत्ताह, रामस्य>लामाह, फलस्य>फलाह ।

(५) मागधी में षष्ठी के बहुवचन 'आम्' को भी विकल्प से 'आह' आदेश होता है; यथा—

शअणाह<स्वजनानाम्, तुम्हाहं>युस्माकम् अम्हाहं>अस्माकम् ।

(६) सप्तमी में 'इ' के स्थान पर 'अहि' उपलब्ध होता है; यथा—प्रवहणे>पवहणाहि ।

(७) मागधी में 'अहम् और वयम्' के स्थान पर 'हगे' आदेश होता है; यथा—हगे शक्कावदालन्तिस्तणिवाशी धीवले । (प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ १९८) ।

(८) मागधी में 'स्था' धातु के 'तिष्ठ' के स्थान पर 'चिष्ठ' आदेश होता है; यथा—चिष्ठदि, चिष्ठदे । कुछ विद्वानों के मतानुसार 'चिट्ठ' भी आदेश होता है; यथा—चिट्ठदि, आदि ।

(९) 'गम्लृ, मृङ्, डुकृञ्' धातुओं में 'क्त' प्रत्यय को 'डे' आदेश होता है; यथा—गडे<गतः, मडे<मृतः, कडे<कृतः ।

(१०) मागधी में 'क्त्वा' प्रत्यय को 'दाणि' आदेश होता है :—
शहिदाणि गडे>सोढ्वा गतः, करिदाणि आअडे>कृत्वा आगतः ।

अर्धमागधी :

यह भाषा शूरसेन प्रदेश (आधुनिक मथुरा) के पूर्व में और मगध (आधुनिक दक्षिण विहार) के पश्चिम में बोली जाती थी । इन्हें आजकल कौशल एवं वनारस प्रदेश के नाम से अभिहित करते हैं । आधुनिक विद्वान् इसे पुरानी कौशली की पूर्वजा और प्राकृत वैयाकरण, मगध के पश्चिम में बोली

---

[10] 'अत इदेतौ लुक् च' ११/१० (वररुचि-प्राकृतप्रकाश) ।

[11] क्तान्तादुश्च ११/११ (वही) ।

जाने के कारण, इसे 'पश्चिमी प्राच्या' भी कहते हैं। महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध की मातृभाषा होने के कारण बौद्धों और जैनों की साहित्यिक भाषा बनी। बाद में बौद्धों द्वारा मागधी और पुनः पालि को धार्मिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर जैन धर्म की एक मात्र निधि बन गई। जैनों ने इसे छान्दस से भी प्राचीन भाषा बताया है तथा वे न केवल इसे भारत की भाषाओं का, अपितु विश्व की समस्त भाषाओं का उद्गम स्थल बताते हैं। हेमचन्द्र तथा अन्य जैन विद्वान् इसे 'आर्ष' भी कहते हैं।

भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अर्धमागधी में मागधी और महाराष्ट्री दोनों भाषाओं के तत्त्व देखने में आते हैं। कुछ प्राकृत वैयाकरण इसे शौरसेनी और मागधी का मिश्रित रूप कहते हैं।

डॉ. मनमोहन घोष के महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान के पश्चात् दोनों वर्गों के विद्वान् सही उतरते हैं। डॉ. घोष के अनुसार शौरसेनी का विकसित रूप ही महाराष्ट्री है, न कि महाराष्ट्र प्रदेश की कोई भिन्न प्राकृत। आपके अनुसार शौरसेनी प्राकृत का पोषण एवं विकास महाराष्ट्र प्रदेश में महाराष्ट्री के नाम से इसी प्रकार हुआ है, जिस प्रकार खड़ी बोली हिन्दी का दक्खनी हिन्दी के नाम से दक्षिण में।

प्राकृत वैयाकरणों एवं विद्वानों ने महाराष्ट्री का प्रभाव लक्षित करते हुए कहा है—"रसौ लशौ मागध्याम् इत्यादि यन्मागधभाषा-लक्षणं तेन परिपूर्णा प्राकृत (महाराष्ट्री) बहुला अर्धमागधी इत्युच्यते" (औपपातिक-सूत्रवृत्तौ)।

'भगवती-सूत्र' में अर्धमागधी का लक्षण इस प्रकार बतलाया गया है—"मागधभाषा-लक्षणं किञ्चित् किञ्चिच्च प्राकृतभाषालक्षणं यस्यामस्ति सा अर्धमागध्याः इति व्युत्पत्त्या अर्धमागधी।' (भगवती सूत्रवृत्तौ)

क्रमदीश्वर ने प्राकृत के स्थान पर स्पष्ट ही महाराष्ट्री शब्द का प्रयोग करते हुए लिखा है—महाराष्ट्री मिश्रार्धमागधी।

(संक्षिप्तसारे, पृष्ठ ३८, सूत्र ९७)

मार्कण्डेय महाराष्ट्री के स्थान पर शौरसेनी का प्रभाव बताते हुए लिखते हैं—"शौरसेन्या अदूरत्वाद् इयमेवार्धमागधी"। (प्रा० सर्वस्व, पृष्ठ १०३)

मलयगिरि ने केवल मागधी का प्रभाव मानते हुए स्वतन्त्र रूप से अर्धमागधी का विवेचन किया है। यथा—"अतः सौ पुंसि इति मागधिक-भाषा लक्षणावत् सर्वमपि हि प्रवचनमर्धमागधिक-भाषात्मकम् अर्धमागधी भाषया तीर्थंकृतां देशना-प्रवृत्तेः। (नन्दी सूत्रवृत्तौ)

उपर्युक्त उद्धरणों से प्रतीत होता है कि कुछ विद्वान् मागधी का अधिक

प्रभाव मानते हैं और कुछ महाराष्ट्री अथवा शौरसेनी का। प्रभावों की न्यूनाधिकता को प्रश्रय न देते हुए हम कह सकते हैं कि अर्धमागधी ने मागधी और मध्यदेशीय भाषाओं से कुछ ग्रहण कर तथा जैनाचार्यों की उच्चतम प्रतिभाओं की सेवावृत्ति को लेकर अपने समय की सर्वोन्नत साहित्यिक भाषा बनने का गौरव प्राप्त किया है। समस्त जैन धार्मिक-साहित्य अर्धमागधी भाषा में लिखा गया है। शौरसेनी भाषा के प्रकाश में (साहित्यिक) आने से पूर्व ही इसमें पर्याप्त मात्रा में धार्मिक ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। अर्धमागधी में उपरिकथित दोनों भाषाओं की विशेषताओं के साथ-साथ अपनी भी मौलिक विशेषताएँ हैं जो निम्न प्रकार से हैं—

ध्वनि तत्त्व—(१) स्वर और व्यञ्जनों की दृष्टि से यहाँ मागधी और शौरसेनी के मार्ग का ही अनुसरण किया है। अन्तर केवल इतना है कि ऊष्म ध्वनियों में से मागधी के शकार के स्थान पर शौरसेनी के सकार के प्रति अपनी अभिरुचि प्रकट की है—

संस्कृत	**मागधी**	**अर्धमागधी**
श्रावकः	शावके	सावके
वेशः	वेशे	वेसे
शृंगारः	शिंगारे	सिंगारे

(२) अर्धमागधी में मागधी की तरह 'र' का 'ल' में परिवर्तन नहीं होता—कला>कला, दारक>दारय।

(३) ऋकारान्त धातुओं के अन्त में आये 'क्त' प्रत्यय के 'त' के स्थान पर 'ड' का आदेश होता है—

मृतः>मड, कृतः>कड।

(४) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष अल्पप्राण स्पर्श के लोप हो जाने पर उसके स्थान पर 'य' श्रुति का आगम होता है—सागरः>साअर>सायर, कृतः>कअ>कय, गतः>गअ>गय, विशारदः>विशारअ>विसारिय।

(५) कहीं-कहीं स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण घोष ध्वनि, अल्पप्राण सघोष ध्वनि में परिवर्तित हो जाती है; यथा—लोकस्मिन् (लोके)>लोगंसि।

(६) 'क' के स्थान पर 'ग' का आगम होता है—

श्रावकः>सावगे, अशोकः>असोगे, अहकं>हगे।

(७) 'दन्त्य ध्वनियों को मूर्धन्यादेश' की प्रवृत्ति अर्धमागधी की विशेषताओं में एक मानी जाती है—

मृतः>मडे, कृतः>कडे।

पुनः यह भाषा खड़ी बोली हिन्दी की तरह अपनी जन्मभूमि मे लौट आई तथा जिस प्रकार आज हिन्दी को स्वतन्त्र भारत की राष्ट्रभाषा बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, ठीक उसी प्रकार शौरसेनी के इस विकसित रूप को भी तत्कालीन समग्र भारत की साहित्यिक भाषा बनने का गौरवमय पद प्राप्त हुआ। इसीलिए इसका नामकरण संस्कार अन्य प्राकृतों की भाँति किसी प्रदेश विशेष के नाम पर न कर समस्त भारत के सूचक 'राष्ट्र' शब्द के साथ महत् विशेषण पद का प्रयोग कर, 'महाराष्ट्री' के नाम से किया गया। कतिपय विद्वानों का यह मत भी है कि डॉ. मनमोहन घोष ने जिस आधार पर महाराष्ट्री को शौरसेनी का पश्चकालीन विकसित रूप कहा है, वह शौरसेनी की तुलना मे उसकी अगली सीढ़ी की सूचना मात्र है। अतः इससे यह भी अनुमान लगाया जा सकता है कि यह भाषा भी अन्य प्राकृतो की भाँति स्वतन्त्र भाषा रही हो, परन्तु किन्ही कारणों से इसका विकास द्रुतगति से होता रहा हो और यह विकास अन्य प्राकृतों की अवस्थाओं से कुछ त्वरित गति से गुजर कर आया हो।[12] इसी आधार को मानते हुये डॉ. चाटुर्ज्या ने भी स्वीकार किया है कि 'उपर्युक्त दृष्टि से महाराष्ट्री प्राकृत एक प्रकार से शौरसेनी प्राकृत (जिसमे एकक-स्थित स्वर मध्यस्थ स्पर्श केवल सघोष रूप मे विद्यमान है) तथा शौरसेनी अपभ्रंश के बीच की ही एक अवस्था का नाम है।[13]

मध्यकाल मे महाराष्ट्री प्राकृत का अन्य तत्कालीन प्राकृतो की तुलना में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। प्राकृत वैयाकरणों ने महाराष्ट्री को ही आदर्श भाषा मान कर अन्य प्राकृत भाषाओं की विवेचना प्रस्तुत की है, क्योंकि उन भाषाओं का विश्लेषण प्रस्तुत कर अन्त मे लिख दिया गया है, 'शेषं महाराष्ट्रीवत्'। सत्य तो यह है कि उस समय के काव्य-शास्त्रज्ञो और वैयाकरणो ने प्राकृत शब्द का प्रयोग ही महाराष्ट्री भाषा के लिए किया है तथा अन्य भाषाओं का शौरसेनी, मागधी आदि नामों से उल्लेख किया गया है। इस भाषा की एक यह भी विशेषता है कि जब अन्य प्राकृत भाषाओं का प्रयोग केवल संस्कृत नाटकों मे ही मिलता है और वह भी निम्न या हीन वर्ग के और स्त्री पात्रों के मुख से करवाया गया है, वहाँ महाराष्ट्री का प्रयोग अनेक स्थानों पर उच्चवर्गीय पात्र भी करते है। सस्कृत नाटको मे गद्य के लिए शौरसेनी प्राकृत और पद्य के लिए महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग हुआ है।

---

[12] अधिक विस्तार के लिए देखे डॉ० मनमोहन घोष—Journal of The Department of letters, कलकत्ता विश्वविद्यालय अंक 23, 1933, पृष्ठ 1–24 का उद्धरण—भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १०४।

[13] वही, पृष्ठ १०४।

दूसरी विशेषता यह है कि अन्य प्राकृत भाषाओं में स्वतन्त्र साहित्य का अभाव है, वहाँ महाराष्ट्री में अपना स्वतन्त्र साहित्य भी है। 'रावण वहो' अथवा 'दहमुँह वहो' और 'गउड वहो' जैसे प्रबन्ध काव्य तथा 'गाथा सतसई' जैसे सरस मुक्तकों की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत ही है।

संस्कृत को महाराष्ट्री की प्रकृति मान कर वैयाकरणों ने इसकी निम्न-लिखित विशेषताएँ निर्धारित की हैं—

ध्वन्यात्मक विशेषताएं—(१) शौरसेनी प्राकृत में पाई जाने वाली प्रायः समस्त स्वर और व्यञ्जन ध्वनियाँ इस भाषा में भी प्राप्त होती हैं।

(२) स्वर मध्यस्थ, अनादिभूत तथा असंयुक्त 'क, त, प, च, ग, द, व तथा य' का लोप महाराष्ट्री भाषा में पाया जाता है—

लोक:>लोओ, मुकुलम्>मउलो, नकुल:>णउलो, नौका>णौआ, शची>सई, कचग्रह:>कअग्गहो, वचनम्>वअणं, सूची>सूई, वितानम्>विआणं, रसातलम्>रसा-अलं, कृतम्>किअं, रिपु:>रिऊ, सुपुरुष:>सुउरिसो, कपि:>कई, विपुलं>विउलं, नग:>णओ, नगरम्>णअरम्, मृगांक:>मअंको, सागर:>साअर, यदि>जइ, नदी>नई, गदा>गआ, मदन:>मअणो, दयालु:>दआलू, नयनम्>णअणं, वियोग:>विओओ, वायुना>वाउओ, दिवस:>दिअहो, लावण्यम्>लाअण्णं, विबोध:>विओहो, जीव:>जीओ।

(३) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ महाप्राण ध्वनियों—'ख, थ, फ, घ, ध, भ' के स्थान पर 'ह' का आदेश होता है; यथा—

मख:>महो, मुखम्>मुहं, मेखला>मेहला, नाथ:>नाहो, गाथा>गाहा, मिथुनम्>मिहुणं, मुक्ताफलम्>मुत्ताहलं, शेफालिका>सेहालिआ, शफरी>सहरी, मेघ:>मेहो, जघनम्>जहणं, माघ:>माहो, साधु:>साहू, राधा>राहा, वधिर>वहिरो, सभा>साहा, आभरणम्>आहरणं, शोभनम्>सोहणं।

(४) महाराष्ट्री प्राकृत में स्वर मध्यस्थ संस्कृत 'ट, ठ, ड' के स्थान पर क्रमशः 'ड, ढ, ल' आदेश होते हैं; यथा—

नट:>णडो, भट:>भडो, घट:>घडो, मठ:>मढो, शठ:>सढो, कुठार:>कुढारो, गरुड:>गरुलो, तडाग:>तलाओ, क्रीडति>कीलइ।

(५) अनुस्वार से पर होने पर और कभी-कभी अनुस्वार के अभाव में भी 'ह' को 'घ' आदेश होता है; यथा—

सिंह:>सिंघो, संहार:>संघारो, दाह:>दाघो।

(६) 'प, ब' के स्थान पर महाराष्ट्री में 'व' देखा जाता है—

शपथ:>सवहो, शाप:>सावो, अलाबू>अलावू, शबल:>सवलो।

(७) महाराष्ट्री में ऋकार के स्थान पर क्रमशः 'अ, इ, उ' तीनों ही मिलते है; यथा—

घृतम्>घअं, तृणम्>तणं, वृषभः>वसहो, कृपा>किवा, दृष्टम्>दिट्ठं, सृष्टिः>सिट्ठी, ऋतुः>उदू, ऋषभः>उसहो, पृष्ठम्>पुट्ठं।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) महाराष्ट्री प्राकृत मे तीन लिङ्ग तथा दो वचन उपलब्ध होते हैं। कारको मे चतुर्थी को छोड़ कर सभी कारकों का प्रयोग उपलब्ध होता है। चतुर्थी के स्थान पर षष्ठी विभक्ति का प्रयोग देखने में आता है।

(२) प्रथमा विभक्ति के एकवचन मे मागधी मे 'ए' अपभ्रंश मे 'उ' का जहाँ पर आदेश होता है वहाँ पर महाराष्ट्री में 'ओ' उपलब्ध होता है; यथा—

देवो, हरिअंदो, नभो आदि।

(३) अपादान एकवचन में 'अहि' विभक्ति प्रत्यय का विकास महाराष्ट्री की अपनी मौलिक विशेषता है; यथा—

दूरात्>दुराहि, देवात्>देवाहि, भर्तुः>भत्ताराहि। (हेमचन्द्रानुसार)

(४) अधिकरण कारक के एकवचन के रूप 'म्मि' अथवा 'ए' विभक्ति प्रत्यय से निष्पन्न होते है; यथा—

देवे>देवेम्मि, गिरौ>गिरिम्मि, गुरौ>गुरुम्मि, लोकस्मिन्>लोअम्मि/लोए, भर्तरि>भत्तारम्मि/भत्तारे।

(५) 'आत्मन्' का विकास शौरसेनी में जहाँ 'अत्ता' के रूप में होता है वहाँ महाराष्ट्री में 'अप्पा' के रूप में हुआ है।

(६) महाराष्ट्री में गणभेद की व्यवस्था नही की जाती। अदन्त धातुओं को छोड़ कर शेष धातुओं के लिए 'आत्मनेपदी और परस्मैपदी' का भेद नही माना जाता।

(७) 'कृ' धातु रूपों पर सीधा छान्दस का प्रभाव लक्षित होता है; यथा—

कृणोति>कुणई। संस्कृत 'करोति'।

(८) कर्मवाच्य में जहाँ शौरसेनी में 'ए' मिलता है, वहाँ महाराष्ट्री में 'इज्ज' मिलता है; यथा—

पृच्छ्यते>पुच्छिज्जइ, गम्यते>गमिज्जइ।

(९) पूर्वकालिक क्रिया का रूप 'क्त्वा' के स्थान पर 'तूण' (ऊण) आदेश होता है; यथा—

पृष्ट्वा>पुच्छिऊण, कृत्वा>काऊण, गृहीत्वा>घेतूण।

(१०) 'इदमर्थ' में प्रयुक्त प्रत्ययों के स्थान पर महाराष्ट्री में 'केर' शब्द का प्रयोग मिलता है; यथा—

युष्मदीयः>तुम्हकेरो, अस्मदीयः>एम्हकेरो।

पैशाची :

पैशाची किस प्रदेश विशेष में बोली जाती थी, विद्वन्-मण्डली अभी तक किसी पुष्ट निर्णय पर नहीं पहुँच पाई है। प्राचीन संस्कृत साहित्य में पिशाच-प्रदेश के नाम से अनेक स्थानों का उल्लेख उपलब्ध होता है; यथा—

पाण्ड्य केकय-वाह्लीक, सिह नेपाल कुन्तलाः।
सुदेष्ण-बोट गन्धार-हैव-कन्नोजनास्तथा।
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद् गुणो भवेत्॥[14]

उपर्युक्त श्लोक में वर्णित प्रदेशों में कई नाम ऐसे भी हैं जिनकी पहचान अब तक नहीं हो सकी।[15]

हार्नले इसे दक्षिण में द्रविड़ परिवारों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा बताते हैं। ग्रियर्सन इसे कश्मीर प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा का पुराना रूप मानते हैं। राजशेखर ने 'काव्य-मीमांसा' में एक पुराना श्लोक उद्वृत किया है, जिसमें उस समय किस प्रदेश में कौनसी भाषा बोली जाती थी, का उल्लेख है। उक्त श्लोक में मरु-भूमि, टक्क (दक्षिण-पश्चिम पंजाब) और भादानक के प्रदेश पैशाची भाषा-भाषी कहे गए हैं। प्राचीन आचार्यों ने पैशाची के लिए 'भूतभाषा' शब्द का (सम्भवतः पिशाच के मिथ्या सादृश्य के कारण) प्रयोग भी किया है। प्राकृत वैयाकरणों ने पिशाची के अनेक भेदों का उल्लेख किया है। डॉ. ग्रियर्सन ने राम शर्मा का उल्लेख करते हुए अपने 'भाषा-सर्वेक्षण' ग्रन्थ में इसके सात भेद दिए हैं। हेमचन्द्र ने केवल 'चूलिका पैशाची' का ही उल्लेख किया है। मार्कण्डेय ने तीन भेद किए हैं। इस प्रकार विभिन्न वैयाकरणों ने भिन्न-भिन्न प्रकार से इसके भेद किए हैं। इसका कारण सम्भवतः यही हो सकता है कि यह भाषा मूल रूप में तो एक ही रही होगी, पर इसका प्रभाव समीपस्थ अन्य बोलियों पर गम्भीर रूप से पड़ा है और इसी आधार पर प्राकृत वैयाकरणों ने उन प्रान्तों के नाम पर उसे पैशाची का भेद मान लिया। यह अनुमान तभी तक किया जा सकता है जब तक इस भाषा का कोई लिखित साहित्य उपलब्ध नहीं हो जाता। अब तक यह भी सम्भावना की जा सकती है कि यह अपने समय की एक प्रभावशाली साहित्यिक भाषा

---

14 हिन्दी भाषा और साहित्य, पृष्ठ १८।

15 वही, पृष्ठ १८।

रही हो और इसकी अनेक विभाषाएँ भी हों। यह सब निश्चित रूप से तभी कहा जा सकता है जबकि इसका कोई किसी प्रकार का साहित्य भी उपलब्ध हो सके। विद्वानों का अनुमान है कि संस्कृत में अनूदित 'गुणाढ्य' की 'बृहत् कथा' मूलतः पैशाची भाषा में ही लिखी गई थी जो किन्हीं कारणों से काल-कवलित हो गई लगती है। प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार इसकी निम्नलिखित प्रमुख विशेषताएँ हैं—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) दो स्वरों के मध्य आने वाले सघोष स्पर्श व्यञ्जनों को अघोष स्पर्श व्यञ्जनों का आदेश हो जाता है; यथा—

गगनम्>गकनं, मेघः>मेखो, वारिदः>वारितो, राजा>राचा, निर्झरः>णिच्छरो, वडिशम्>वटिसं, माधवः>माथवो, सरभसम्>सरफसं, दामोदरः>तामोतरो।

(२) पैशाची में संयुक्त व्यञ्जनों को सस्वर कर देने की प्रवृत्ति देखने को मिलती है। हिन्दी में इस प्रवृत्ति को 'स्वर भक्ति' के नाम से व्यवहृत करते हैं; यथा—

स्नानम्>सनानं, स्नेहः>सनेहो, कष्टं>कसटं, भार्या>भारिया, हृदयकम्>हितपकं, क्रियते>कीरते।

(३) पैशाची में 'ल' के स्थान पर 'ळ' आदेश की बात प्राकृत व्याकरण में कही गई है; यथा—

सलिलम्>सळिळं, कमलम्>कमळं।[16]

(४) पैशाची में 'श, ष' के स्थान पर कहीं 'स' और कहीं-कहीं 'श' भी उपलब्ध होता है; यथा—

शोभते>सोभति, शशि>ससि, दशवदनः>दसवत्तनो, विषमः विसमो, विषाणः>विसानो, कष्टम्>कसटं। वडिशम्>वटिशम्।

(५) पैशाची में कहीं-कहीं 'र' के स्थान पर 'ल' भी मिलता है। बहुत सम्भव है कि यह प्रभाव इस पर मागधी का रहा हो; यथा—

रुद्रम्>लुद्रं, तरुणी>तलुनी, कुमारः>कुमालो।

(६) पैशाची में 'ण' के स्थान पर 'न' का आदेश होता है; यथा—

गुणगणः>गुनगुनो, गुणेन>गुनेन।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) पैशाची में पंचमी एकवचन के 'ङसि' के स्थान पर 'आतो' और 'आतु' का आदेश अकारान्त शब्दों के साथ होता है; यथा—तुमातो, तुमातु (त्वत्), ममातो, ममातु (मत्)।

---

16 प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ २००।

(२) पैशाची में 'तेन' तथा 'अनेन' दोनों के स्थान पर केवल 'नेन' उपलब्ध होता है। स्त्रीलिङ्ग में 'नाए' मिलता है।

(३) पैशाची में कर्मवाक्य में 'इय्य' का आदेश किया जाता है; यथा—

रम्यते>रमिय्यते, पठ्यते>पठिय्यते।

(४) पैशाची में 'क्त्वा' के स्थान पर 'तूनं' का आदेश किया जाता है; यथा—

गत्वा>गन्तूनं, हसित्वा>हसितूनं, चलित्वा>चलितूनं।

(५) पैशाची में भविष्यत् काल में 'स्सि' का आदेश न होकर 'एय्य' का आदेश होता है; यथा—

भविष्यति>हुवेय्य, पठिष्यति>पठेय्य।

षष्ठ अध्याय

अपभ्रंश भाषा

अपभ्रंश का समय—अपभ्रंश से तात्पर्य—अपभ्रंश और देशी शब्द—क्या अपभ्रंश देश्य भाषा थी—अपभ्रंश का इतिहास—अपभ्रंश के अनेक भेदोपभेद—अपभ्रंश साहित्यिक भाषा के रूप में एक अथवा अनेक बोलियों के अवशेष मिलते हैं—अपभ्रंश के चार भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के तीन भेद और उनका निराकरण, अपभ्रंश के दो भेद और उनका निराकरण—एक शुद्ध साहित्यिक अपभ्रंश की पुष्टि ।

अपभ्रंश का समय

अपभ्रंश शब्द का प्रयोग दो अर्थों में उपलब्ध होता है—एक तो संस्कृत से विकृत तद्भव शब्दावली के लिए, द्वितीय एक भाषा-विशेष के अर्थ में। जहाँ तक तद्भव रूपों के लिए इसके प्रयोग का सम्बन्ध है, सर्वप्रथम महाभाष्यकार पतञ्जलि ने इसका प्रयोग किया है—भूयांसोऽपशब्दा: अल्पीयांस: शब्दा इति। एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा:। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्यादयो बहवोपभ्रंशा:।[1] विद्वानों ने पतञ्जलि का समय ई० पूर्व दूसरी शताब्दी माना है। यदि पतञ्जलि को प्रमाण मानें तो उन्होंने एक संग्रहकार 'व्याडि' का उल्लेख किया है जिसने अपभ्रंश की प्रकृति संस्कृत को माना है[2]—पर उसका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नही है—अपभ्रंश का इस अर्थ में प्रयोग और भी पहले ले जाया जा सकता है। यहाँ पर यह स्पष्ट करना वाञ्छनीय होगा कि जिस भाषा-विशेष का समय हम निश्चित करना चाहते हैं, उससे इन प्रयोगों का कोई सम्बन्ध नहीं है।

अपभ्रंश भाषा का सांकेतिक अर्थ में प्रयोग सर्वप्रथम तृतीय शताब्दी में भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में किया है। भरत मुनि ने जिस 'उकार बहुला' भाषा का उल्लेख किया है वह अपभ्रंश भाषा ही है, पर भरत मुनि ने इसे अपभ्रंश न कहकर 'उकार बहुला' भाषा कहकर ही काम निकाल लिया है।[3] हाँ, विभ्रष्ट शब्द का प्रयोग अवश्य ही लक्षणीय है।[4] इससे स्पष्ट है कि भरत मुनि के समय में अपभ्रंश भाषा प्रकाश में आ चुकी थी, पर उसका नामकरण संस्कार अब तक नही हो पाया था। इसे हीन एवं जंगली लोगों की ही भाषा कहा जाता था, पर नाटको में उसके प्रयोग का अधिकार अवश्य सुरक्षित हो गया था।[5] भरत मुनि का उकार बहुला भाषा से किस भाषा का तात्पर्य था, यदि इसका सूक्ष्म विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि आभीरादि लोगों की भाषा को ही वे इस लक्षण से लक्षित

---

1 महाभाष्य—१-१-१

2 शब्दप्रकृतिरपभ्रंश: इति संग्रहकार:। (वाक्यपदीयम्—काण्ड १, कारिका १४८)।

3 हिमवत्सिंधु-सौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिता:। (ये जना: समुपाश्रिता:)।
उकार बहुलां तेषु नित्यं भाषा प्रयोजयेत्। (भरत नाट्यशास्त्र १७/६२)।

4 समानशब्दं विभ्रष्टं देशीगतमथापि च। (भरत नाट्यशास्त्र १०/३)।

5 भरत नाट्यशास्त्र १७।५०।

करते हैं, क्योंकि विभाषाओं की गणना करते समय इन्होंने आभीरी की भी गणना की है—

"शकाराभीर-चाण्डाल-शवर-द्रमिलान्ध्रजाः ।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः ।।"[6]

अब यदि हम उन विद्वानों के विचारों का विश्लेषण करें, जिन्होंने स्पष्ट रूप से अपभ्रंश भाषा का उल्लेख किया है, तो विदित होगा कि वह कोई अन्य भाषा नहीं है, बल्कि भरत मुनि द्वारा उल्लिखित उकार बहुला भाषा ही है। अपभ्रंश शब्द का भाषा विशेष के लिए स्पष्ट उल्लेख सर्वप्रथम वैयाकरणों में चण्ड ने[7] तथा काव्यशास्त्रियों में भामह[8] ने किया है। इनका समय विद्वानों ने छठी शताब्दी ई० माना है। अतः स्पष्ट है कि छठी शताब्दी में अपभ्रंश का प्रयोग एक भाषा विशेष के लिए प्रारम्भ हो गया था। चण्ड ने उसके 'रेफ' सम्बद्ध लक्षण को बताते हुए उल्लेख किया है और भामह ने भाषाओं की गणना करते समय संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् उसका उल्लेख किया है। इन दोनों ही महानुभावों ने विस्तार से कुछ नहीं कहा, केवल संकेत मात्र ही दिया है।

सातवीं शताब्दी में दण्डी ने अपभ्रंश का उल्लेख करते हुए दो विशेषणों का प्रयोग किया है—(१) आभीरादि गिरः और (२) 'संस्कृतादन्यत्'। इनका यदि विश्लेषण करें तो अचानक ही दण्डी से चार सौ वर्ष पूर्व उत्पन्न भरत मुनि की स्मृति आ जाती है जिन्होंने इनकी भाषा का उल्लेख किया है और अप्रत्यक्ष रूप से नाटकों में उसके प्रयोग का संकेत भी। दण्डी का सम्पूर्ण पद इस प्रकार है[9]—

'आभीरादि-गिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः ।
शास्त्रेषु संस्कृतादन्यदपभ्रंश तयोदितम् ।।'

उक्त पद में दण्डी की 'आभीरादि गिरः' भरत मुनि की 'शकाराभीर' आदि विभाषाओं से भिन्न कुछ नहीं है। नाट्यशास्त्र के भाष्यकार अभिनव गुप्तपाद 'प्राकृतों से अपभ्रष्ट रूप को विभाषा कहते हैं'[10] ऐसा बताकर स्पष्ट कर देते हैं कि भरत मुनि का विभाषाओं से तात्पर्य अपभ्रंश और उसकी

---

[6] भरत नाट्यशास्त्र, १७।५०।

[7] (क) न लोपोऽपभ्रंशेऽधोरेफस्य (प्रा. ल., ३.३७) (ख) संस्कृतं-प्राकृतं चैवापभ्रंशोऽथ पिशाचिकी।

[8] संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा। (काव्यालंकार, १/१६)

[9] श्री दण्डी कृत काव्यादर्श १/३६।

[10] भाषा संस्कृतापभ्रंशो भाषापभ्रंशस्तु विभाषा, १७/४९-५० की विवृत्ति।

बोलियों से ही था। द्वितीय 'नाटके स्मृता:' पद इस बात का स्पष्ट द्योतक है कि नाटकों में इन बोलियों का प्रयोग शास्त्र सम्मत माना जाने लगा था। अभिनव गुप्तपाद ने विवृति में इसे और अधिक स्पष्ट किया है—

"भाषा संस्कृतापभ्रंश:, भाषापभ्रंशस्तु विभाषा, सा तत्तद्देश एव गह्वर-वासिनां प्राकृतवासिनां च एता एव नाट्ये तु।"[11]

ऐसी स्थिति में डॉ. नामवरसिंह का यह कहना "भाषा के अर्थ में अपभ्रंश का प्रयोग छठी शताब्दी में मिलता है, अतः अपभ्रंश भाषा का प्रारम्भ छठी शताब्दी से माना जाना चाहिए"—मान्य नहीं है।[12] हाँ, इतना अवश्य स्वीकार किया जा सकता है कि भरत मुनि के समय तक अपभ्रंश की बोलियों में से किसी एक बोली ने परिनिष्ठित एवं साहित्यिक रूप धारण न किया हो। अनेक बोलियाँ अपने उत्थान में समानान्तर रूप से आरूढ़ रही हों, पर अपभ्रंश बोलियों का प्रयोग निश्चय ही इस समय तक नाटकों में प्रारम्भ हो गया था। यह दूसरी बात है कि इस प्रकार का उस समय का कोई नाटक अब तक उपलब्ध न हुआ हो। यह निश्चित है कि अप्रत्यक्ष रूप में भरत ने अपभ्रंश का ही प्रयोग किया है।

अपभ्रंश भाषा का लिखित रूप सर्वप्रथम हमें कालिदास के विक्रमोर्वशीय नाटक के चतुर्थ अंक में मिलता है। यद्यपि भरत मुनि ने भी कुछ पद अपने नाट्यशास्त्र में उद्धृत किए हैं, पर विद्वान् उसके सही रूप पर उलझे हुए हैं, तो भी कालिदास के पदों पर शंका करना शोभनीय नहीं है। कालिदास के पदों को प्रक्षिप्त कहकर टालने का प्रयत्न किया जाता है। जो लोग इन्हें ई० पूर्व प्रथम शताब्दी में रखते हैं, उनके अनुसार तब तक अपभ्रंश भाषा अस्तित्व में ही नही आई थी। अतः विक्रमोर्वशीय में कालिदास लिखित अपभ्रंश पद्यों की भाषा का ऐतिहासिक दृष्टि से कोई महत्त्व नहीं है। यदि कालिदास को गुप्तकाल में मानें जो चतुर्थ शती ई० में पड़ता है तो इन पद्यों की तथ्यता सिद्ध हो जाती है, क्योकि इन पद्यों में प्राकृतों का अत्यधिक प्रभाव अपभ्रंश की आरम्भिक अवस्था का द्योतन कराता है। यद्यपि इन पद्यों की सार्थकता कालिदास के काल की निश्चयात्मकता के साथ सम्बद्ध है तो भी अन्य साक्ष्य यह सिद्ध करने के लिए काफ़ी प्रबल हैं कि अपभ्रंश भाषा ई० की तीसरी शती में अस्तित्व में आ चुकी थी और उसका काव्य-ग्रन्थों में प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। ई० की छठी और सातवीं शताब्दी तक अपभ्रंश एक महत्त्वपूर्ण एवं समृद्ध भाषा के रूप में उपस्थित हो चुकी थी। विद्वान् उस

---

[11] वही, भरत नाट्यशास्त्र, १७/४९-५०।

[12] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २३।

पर अधिकार प्राप्त करने में अपना गौरव समझने लगे थे। राजा धरसेन द्वितीय का ताम्रपत्र इसका प्रमाण है जिसमें उसने अपने पिता गुहसेन को संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं की प्रबन्धात्मकता में निपुण कहा है।[13] इसी शताब्दी में चण्ड को अपभ्रंश की व्याकरणात्मक विशेषता पर कुछ लिखना पड़ा। उस समय से लेकर ई० की बारहवी शताब्दी तक अपभ्रंश भारत की एकमात्र साहित्यिक भाषा के रूप मे विद्वज्जनों के गले का हार बनी रही। अनेक प्राकृत वैयाकरणों ने इसका व्याकरण लिखकर नियमबद्ध किया। इनमें हेमचन्द्र का लिखा हुआ व्याकरण सबसे अधिक लोकप्रिय हुआ तथा उसमें बारहवीं शताब्दी तक की अपभ्रंश भाषा की सभी प्रवृत्तियों को समाविष्ट किया गया है। इसमें कोई दो राय नही है कि हेमचन्द्र जब अपभ्रंश का व्याकरण लिख रहे थे उस समय अपभ्रंश पूर्ण परिनिष्ठित शिष्टों की भाषा[14] का स्थान ग्रहण कर चुकी थी और अपने चरमोत्कर्ष पर थी।

इसी काल के आस-पास विद्वानों एवं कलाकारों का ध्यान बोलियों की ओर आकर्षित होता हुआ सा लगता है तथा अनेक ग्राम्य प्रयोग भाषा में प्रवेश पाने लगते है।

अपभ्रंश साहित्य का भ्रम

जहाँ तक अपभ्रंश भाषा का सम्बन्ध है, उसका कोई भी प्रणालीबद्ध भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन हमें उपलब्ध नही है। परिनिष्ठित अपभ्रंश का साहित्य तो मिलता है, पर उसकी बोलियों के किसी प्रकार के भी विश्वस्त प्रमाण उपलब्ध नही होते। अतः प्राप्त साहित्य के आधार पर ही, जहाँ कही उसमे जनपदीय बोलियो का पुट आ गया है, उससे ही हमें उसकी बोलियों का अनुमान लगाना पड़ता है, जिसकी प्रामाणिकता को कभी भी असन्दिग्ध नही कहा जा सकता। यही कारण है कि विद्वान् लोग आज तक किसी सर्वमान्य निर्णय पर नहीं पहुँच सके हैं कि साहित्यिक अपभ्रंश कितने रूपो मे प्रचलित थी और उसकी कितनी बोलियाँ उस समय अस्तित्व मे थी। अतः कुछ विद्वान् केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रंश को ही स्वीकार करते है और बोलियों का अथवा विभाषाओं का अस्तित्त्व स्वीकार करने को तैयार नही है। कुछ विद्वान् परिनिष्ठित अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक खोजे जा सके है, उन्ही की भाषा को यत्किञ्चित् क्षेत्रीय प्रभाव के कारण कोई चार में; कोई तीन मे तथा कोई दो रूपों में विभाजित कर अपने कर्तव्य की इतिश्री समझ लेते हैं; और कुछ

---

[13] संस्कृत-प्राकृतापभ्रंश—भाषात्रय-प्रतिबद्ध; प्रबन्ध रचना—निपुणान्तःकरणः (हि. वि. अ. यो., पृष्ठ २३ से उद्धृत)।

[14] शेषं शिष्टप्रयोगात् (पुरुषोत्तम, १७/६१)।

विद्वान् वर्तमान समय तक प्राप्त ग्रन्थों की भाषा को कृत्रिम अथवा विद्वज्जन निर्मित भाषा कह कर उस पर सन्देह का आवरण डाल, विषय को अधिक दुरूह बना देते हैं। यह मत वैभिन्य केवल आधुनिक भाषा शास्त्रियों में ही हो, ऐसी बात नहीं है। संस्कृत काव्य-शास्त्रियों एवं साहित्यकारों तथा प्राकृत वैयाकरणों में भी जिन्होंने प्राकृत भाषा के साथ-साथ अपभ्रंश पर भी अपने विचार प्रकट किए हैं, यह मत-भिन्नता उपलब्ध होती है।

'देशी' शब्द का प्रचलन

इस मत-वैभिन्य का सबसे बड़ा कारण, जो मैं समझता हूँ, वह पूर्व-परम्परा से चला आता हुआ संस्कृत काव्य-शास्त्रियों एवं वैयाकरणों द्वारा प्रयुक्त 'देशी' शब्द है। पतञ्जलि के अनुयायियों ने इसका प्रयोग केवल उन शब्दों के लिए किया है जिनका उद्‌गम संस्कृत से नहीं हुआ तथा जिन्हें संस्कृत व्याकरण के नियमों के द्वारा सिद्ध न किया जा सके तथा जो न तत्सम हैं और न तद्भव। इससे स्पष्ट होता है कि ये वे शब्द थे जो आर्यभाषाओं से उद्‌गत न होकर साहचर्य के कारण अनार्य भाषाओं से प्राकृतादि भाषाओं में आ गए थे। डॉ. तगारे ने विद्वानों का उद्धरण देते हुए इस सम्बन्ध में लिखा है—

As Pischel points out the term Desi, Desya Desimata, Desiprasidh denote heterogeneous element. (Pischel Grammatika §9.) It is used for a class Pk vocabulary as distinct from Tss and Tbhs in Bharat 17.3. In 6th century A. D. Canda uses the words Desiprasidh for a class of non-Sanskrit words and not for a dialect. (Historical Grammar of Apbhransh, page 5.)

कुछ समय पश्चात् काव्य-शास्त्रियों एवं प्राकृत वैयाकरणों द्वारा इसका प्रयोग इतने धड़ल्ले एवं स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा कि यह अपनी एकार्थत्व शक्ति खो बैठा। कहीं इसका प्रयोग उपरिकथित शब्द विशेष के लिए हुआ तो कहीं इसका प्रयोग देश में प्रचलित समस्त आर्य एवं अनार्य बोलियों के लिए और कहीं इसका प्रयोग केवल आर्य भाषाओं से उद्‌गत बोलियों के लिए हुआ है। मार्कण्डेय द्वारा अपभ्रंश को देशी भाषा मानकर उसके भेदों का परिगणन करते समय उनमें द्राविड़ी को भी शामिल करना यह प्रकट करता है कि वह संस्कृत प्राकृतेतर भरत खण्ड में बोली जाने वाली सभी बोलियों एवं भाषाओं को देशी भाषा मानकर चलता है।[15] भरत का

---

[15] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग—डॉ० नामवरसिंह, पृ० ५०।

संस्कृतेतर प्राकृत अपभ्रंशादि भाषाओं को देश भाषा मानना तथा शावरी एवं द्राविड़ी को भी देश भाषा कहकर उनका अपभ्रंश से अन्तर स्पष्ट करना यही सूचित करता है कि यह भी संस्कृतेतर सभी बोलियों और भाषा विभाषाओं (आर्य अनार्य) को जो उस समय प्रचलित थीं, समान दर्जा देता है।[16]

कट्टरतावादी विद्वान् शिष्ट जन प्रयुक्त साहित्य की भाषा को वाणी और जनसाधारण द्वारा व्यवहृत भाषा को लोक भाषा के नाम से अभिहित करते थे। पाणिनि और पतञ्जलि ने संस्कृत को लोक-भाषा कहा है।[17] इसके पश्चात् हुये भरतादि विद्वानों ने प्राकृत को भाषा (लोक) कहा है।[18] तत्पश्चात् के विद्वानों ने अपभ्रंश को भाषा (लोक) के नाम से अभिहित किया।[19] यहां तक आते-आते 'लोक' शब्द का स्थान 'देशी या देश' शब्द ने ले लिया और इस प्रकार प्राकृत एवं अपभ्रंश तथा इसके बाद अपभ्रंश की बोलियों के लिए देशी भाषा अथवा देश भाषा का प्रयोग किया जाने लगा।[20] अतः इससे

---

16 अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि देशभाषाविकल्पनम्, (भरत नाटयशास्त्र, १७।२३)। शौरसेनं समाश्रित्य भाषा कार्या तु नाटके।
(अथवाच्छन्दतः कार्या देशभाषा प्रयोक्तृभिः। नाना देशसमुक्तं हि काव्यं भवति नाटके) आभीरोक्तिः शावरी स्यात् द्राविड़ी द्राविड़ादिषु (भरत नाटयशास्त्र, १७।२४–४६, ४७–५५)

17 केषां शब्दानाम् ? लौकिकानाम् वैदिकानाम् च। तत्र लौकिकास्तावद्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती ब्राह्मण इति। वैदिकाः खल्वपि-शं नो देवीरभिष्टये। आगे लिखते हैं—तेऽसुराः। इत्यादि······(महाभाष्य १।१।१)।

18 एतदेव विपर्यस्तं गुण-संस्कार-विवर्जितम्। विज्ञेयं प्राकृतं पाठ्यं नानावस्थान्तरात्मकम्॥ त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः। समान-शब्दं विभ्रष्टं देशी गतमथापि च॥ मागध्यवन्तिजा प्राच्या शौर-सेन्यर्धमागधी। वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषा प्रकीर्त्तिताः॥
(भरत नाट्यशास्त्र, १७।२३-४९)
भरत नाट्यशास्त्र के व्याख्याता अभिनव गुप्तपाद ने भाषा का लक्षण इस प्रकार दिया है—भाषा संस्कृतापभ्रंशस्तु विभाषा सा तत्तद्देश एव गह्वर-वासिनां प्राकृतवासिनां च एता एव नाट्ये तु। (भरत नाट्यशास्त्र, १७-२-४९)

19 प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाच-भाषाश्च शूरसेनी च। षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देश-विशेषादपभ्रंशः॥ (काव्यालंकार, २।१२)

20 नात्यन्तं संस्कृतेनैव नात्यन्तं देशभाषया। कथा गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत्। (वात. का. सू., १४।५०)
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश-विशेषादपभ्रंशः। (काव्यालंकार २।१२) [इन दोनों में क्रमशः प्रान्तापभ्रंश को देशभाषा कहा गया है।]

स्पष्ट है कि 'देशी' शब्द के अर्थ के इस अन्तर्मिश्रण ने इन सभी समस्याओं को जन्म दिया। क्योंकि कट्टरतावादी विद्वान् देशी शब्दों एवं उनके प्रयोगों को बड़ी हीन दृष्टि से देखते थे, साथ ही इनके प्रयोक्ताओं को भी।[21]

अपभ्रंश की बोलियाँ

उपर्युक्त विवेचन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि उन विद्वानों के दो वर्ग थे। एक वह था जो केवल परिनिष्ठित विद्वज्जन-ग्राह्य भाषा को ही श्रद्धेय समझता था तथा तत्समय प्रचलित बोलियों को (मान्य भाषा के स्वरूप से विकृत रूप वाली अथवा अशुद्ध होने के कारण) उतनी ही हेय दृष्टि से देखता था जितनी हेय दृष्टि से विजातीय अनार्य भाषाओं को। अतएव बोलियों पर विचार-विमर्श करना वह हीनता समझता था। दूसरा वर्ग आधुनिक भाषा-शास्त्रियों के अधिक समीप था जो बोलियों को महत्ता देना चाहता था, किन्तु यह दूसरा वर्ग अपने कार्य के साथ न्याय इसलिए नहीं कर पाया कि एक तो भाषा-विज्ञान की वर्तमान पद्धति ने उस समय पूर्ण स्वरूप धारण नहीं किया था, जिस ओर श्री हरिवल्लभ भायाणी ने भी संकेत किया है।[22] दूसरे भाषा की शुद्धता के पक्षपातियों का भारत में सदा से बाहुल्य रहा है और वे शुद्धतावादियों का साम्मुख्य करने में असमर्थ रहे हैं। अतः वे बोलियों का संकेत मात्र तो प्रस्तुत कर सके हैं किन्तु उनका पूर्ण विवेचन नहीं। रुद्रट ने नवीं शताब्दी में अपभ्रंश की अनेक बोलियों की सूचना दी है जो देश-विशेष के कारण अनेक रूपों वाली थीं; यथा—

प्राकृत-संस्कृत-मागध-पिशाच-भाषाश्च शूरसेनी च।
षष्ठोऽत्र भूरि भेदो देश-विशेषादपभ्रंशः। (काव्यालंकार, २।१२)

किन्तु ठीक इसके बाद ग्यारहवीं शताब्दी में 'नमि' साधु ने अपनी कट्टरता-वादी प्रवृत्ति के कारण उसका निराकरण करने के लिए साहित्य में प्रयुक्त अपभ्रंश भाषा को ही प्रमाण मानकर रुद्रट द्वारा संकेतित बोलियों को निर्मूल

---

[21] तेऽसुराः। तेऽसुरा हेलयो हेलय (हेऽरयो हेऽरयः) इति कुर्वन्तः पराबभूवु-स्तस्मात् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै मलेच्छो ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेदिध्ये व्याकरणम्। (महाभाष्य १।१।१) हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृता (भरत नाट्यशास्त्र, १७।५०)

[22] हेमचन्द्र गुजरात ना हता पण ते मणे रचेला अपभ्रंश व्याकरण ने गुर्जर अपभ्रंश साथे प्रत्यक्ष पणे कशी लेवा देवा नथी। केम के पूर्वाचार्यों अने पूर्व प्रणाली अनुसरीने ते मणे बहुमान्य साहित्य प्रयुक्त धोरण सरना अपभ्रंश नु व्याकरण रचे लुं छे। बोलचाल की भाषा नु चलण आधुनिक छे। (वाक्व्यापार भारतीय विद्या भवन १९५४, पृष्ठ १७०, सूर-पूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य—डॉ. शिवप्रतापसिंह, पृष्ठ ४६ से उद्धृत)।

ठहराने का सफल किन्तु अयथार्थ प्रयास किया और इससे उसको एक सन्तोष का अनुभव हुआ जो यह कहने से व्यंजित होता है कि इस प्रकार भूरि भेदों का निरसन हो जाता है। फिर भी वह उसे तीन से नीचे नही ले जा सका—

स चान्यैरुपनागराभीर-ग्राम्यत्वभेदेन त्रिधोक्तस्तन्निरासार्थमुक्तं भूरिभेद इति। (काव्यालं० सूत्र वृ० नमि सा०, २।१२)।

मार्कण्डेय ने अपने 'प्राकृत सर्वस्व' मे भी इसके तीन भेद किए है किन्तु नमि साधु से भिन्न; यथा—

नागरो व्राचडश्चोपनागरश्चेति त्रयः।[23]

किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार किया है कि सूक्ष्म अन्तर से विद्वान् इसके अनेक भेद मानते है; यथा :[24]—अपभ्रंशः परे सूक्ष्म भेदत्वान्न पृथङ् मता। इन्होंने उन भेदों की संख्या २७ दी है। यथा :—

(१) व्राचड, (२) लाट, (३) वैदर्भ, (४) उपनागर, (५) नागर, (६) वार्बर, (७) अवन्त्य, (८) मागध, (९) पाञ्चाल, (१०) टक्क (११) मालव, (१२) कैकेय, (१३) गौड, (१४) औढ्री, (१५) वैवपश्चात्य, (१६) पाण्ड्य, (१७) कौन्तल, (१८) सैहल, (१९) कालिङ्ग, (२०) प्राच्य, (२१) कार्णाट, (२२) काञ्चय, (२३) द्राविड, (२४) गौर्जर, (२५) आभीर, (२६) मध्यदेशीय, (२७) वैताल।[25] मार्कण्डेय से पूर्व आठवी शताब्दी मे उद्योतनाचार्य अपनी 'कुवलयमाल कहा' मे अपभ्रंश की बोलियो पर प्रकाश डाल चुके थे। उनके अनुसार अपभ्रंश के अठारह भेद है; यथा—(१) गोल्ल, (२) मध्यदेशीय, (३) मागध, (४) अन्तर्वेदी, (५) कीर, (६) टक्क, (७) सिध, (८) मरू, (९) गुर्जर, (१०) लाट, (११) मालव, (१२) कार्णाटक, (१३) तायिक, (१४) कोसल, (१५) महाराष्ट्र, (१६) आन्ध्र, (१७) खस, (१८) वब्बरादिक।[26] छठी शताब्दी तक आते-आते काव्य-शास्त्रियों द्वारा अपभ्रंश काव्य-भाषा के पद पर आसीन करा दी जा चुकी थी, चाहे उसने परिनिष्ठित स्वरूप धारण न किया हो। अतः इसके उपरान्त

---

[23] प्राकृत सर्वस्व-७।

[24] वही-७।

[25] हिन्दी भाषा के विकास में अपभ्रश का योग, पृष्ठ ५०।

[26] ही देवी प्रसाद सम्भवायामत्र कथायान् प्रसंगतोऽष्टादश देशी भाषाणा मध्याद् गौल्ल, मध्यदेश, मागधान्तर्वेदी, कीर, टक्क, सिन्ध, मरू, गुर्जर, लाट, मालव, कर्णाट, तोयिक, कोसल, महाराष्ट्रान्ध्र-भवानां षोडशदेश्याना वणिजं नपुर्वर्ण वेशप्रकृति पूर्वभाषाश्च रूपं प्रदर्शितमित्थमवलोक्यते। (अपभ्रंश काव्यत्रयी; भूमिका, पृष्ठ ९१)

विद्वानों द्वारा देशी भाषाओं के नाम से उल्लिखित भाषाएं या तो अपभ्रंश की बोलियाँ रही होंगी अथवा उसकी भगिनी विभाषाएं। ये बोलियाँ अपभ्रंश से उद्गता ही थीं, इस प्रकार का संकेत श्री लालचर गांधी ने दिया है। यथाः—परिचेतव्यः खलु प्राक् कुवलय-मालकहाकर्तृ—समयादिसम्बन्धो यतोऽवसीयतेऽपभ्रंश-देशीभाषादीनां विशिष्टस्वरूपं······इत्यादि।[27]

अपभ्रंश की देशानुसार अनेकता का संकेत विष्णुधर्मोत्तर पुराण, वाग्भटालंकारादि ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है; यथा—

देशेषु देशेषु पृथग् विभिन्नं न शक्यते लक्षणतस्तु वक्तुम्।
लोकेषु यत् स्याद् अपभ्रष्टसञ्ज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्॥
देश-भाषा विशेषेण तस्यान्तं नैव विद्यते।[28]
अपभ्रंशस्तु यच्छुद्धं तत्तद्देशेषु भाषितम्।[29]

किन्तु हेमचन्द्र तक आते-आते अपभ्रंश ने पूर्ण परिनिष्ठित स्वरूप धारण कर लिया था[30] और इसे शिष्टों की भाषा भी स्वीकार कर लिया गया था।[31] परिणाम स्वरूप कट्टरतावाद के अनुयायी हेमचन्द्र और उनके समकालीन वैयाकरणों ने लिखित साहित्य की परिनिष्ठित अपभ्रंश को ही अपना आधार बनाकर इसके लिए आवश्यक नियमों की स्थापना कर दी और मज़ेदार बात यह है कि उनमें अपभ्रंश की तत्समय प्रचलित बोलियों, यहाँ तक कि विभाषाओं तक का भी संकेत नहीं दिया। केवल इन वैयाकरणों को आधार मानकर यह निष्कर्ष निकालना कदापि समीचीन न होगा कि उस समय समग्र भारत में विचारों के आदान-प्रदान की केवल एक ही सार्वजनिक भाषा थी जिसका नियमन हेमचन्द्रादि वैयाकरणों ने किया है, बल्कि यह कहना चाहिए कि उस समय अपभ्रंश की अनेक बोलियां प्रचलित थीं, पर तत्कालीन वैयाकरण संस्कृत व्याकरण प्रणाली के अनुयायी होने के कारण बोलियों पर लेखनी चलाना पूर्ववत् अपनी हीनता समझते थे। अतः उनका लिखित साहित्य उपलब्ध न होने पर भी नव्य आर्यभाषाओं का विकास उनके अस्तित्व की सिद्धि डंके की चोट कर रहा है कि वर्तमान भारतीय भाषाओं का विकास

---

[27] अपभ्रंश काव्यत्रयी-भूमिका, पृष्ठ ८२।

[28] विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३।७।३।

[29] वाग्भटालंकार, २।३।

[30] And finally Hemachandra, the great Pk grammarian unanimously agrees in regarding the Apbhransh as literary dialect equal in status to Sanskrit and Prakrit.
(H. G. AP. Page 3)

शेषम् शिष्ट-प्रयोगात् (पुरुषोत्तम, १७।६१)।

किसी एक अपभ्रंश से न होकर उसकी विभिन्न वोलियों के ही विकसित स्वरूप हैं।

जहाँ प्राचीन विद्वानों में केवल एक भाषा की स्वीकृति और वोलियों के निरसन के प्रति संघर्ष था वहाँ आधुनिक भाषा-शास्त्रियों में कुछ भिन्न विचारों के कारण मतभेद पाया जाता है। इसका मूल कारण यह है कि आधुनिक काल के भाषाशास्त्रियों ने इस समय विद्यमान ग्रन्थों में सुरक्षित भाषा के आधार पर अपभ्रंश भाषा को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। दुर्भाग्य यह रहा है कि ऐसा करते समय भाषा की प्रकृति और प्रत्यय पर इतना ध्यान नहीं रखा गया जितना रचना के स्थान विशेष पर और उसके स्थानीय प्रभावों के कतिपय उद्धरण चुनकर भाषा को विभाजित कर डाला; यह उचित नहीं है। यहाँ पर यह स्पष्ट कर देना समीचीन होगा कि अपभ्रंश की वोलियों की गवेषणा के मैं विरुद्ध नही हूँ, क्योंकि मैं तो स्वीकार करता हूँ कि अपभ्रंश की अनेक वोलियां अस्तित्व में थीं। मेरा मतभेद परनिष्ठित अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों से है। मेरी समझ में एक ही परिनिष्ठित अपभ्रंश है, उसका रचयिता चाहे दक्षिण में या उत्तर में और चाहे पूर्व या पश्चिम में बैठकर अपनी कला की साधना करता रहा हो, उसकी भाषा में कोई अन्तर नहीं है।

'सनत् कुमार चरिउ' की भूमिका में डॉ. याकोवी ने इसे चार भागों—उत्तरी, दक्षिणी, पूर्वी और पश्चिमी में विभाजित किया है। डॉ. याकोवी के वर्गीकरण को भाषा-वैज्ञानिक सुदृढ़ भित्ति के अभाव से ग्रस्त वताकर डॉ. तगारे ने इसे तीन ही—पश्चिमी, दक्षिणी तथा पूर्वी भागों में विभाजित किया है और इस प्रकार उत्तरी अपभ्रंश के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया।[32]

डॉ. ग्रियर्सन ने अवश्य ही भारत की आधुनिक भाषाओं का विकास

---

[32] Here in Jacobi gives his regional division of Apbhransh literature into Eastern, Western, Southern and Northern groups. He seems to believe that Eastern Apbhransh works follow that rules of eastern Pk grammarians. A comparison between the dialects of D. K. K. and D. K. S. and that Apbhransh of Pu. Rt. and Mk disapproves the theory. The only work in Northern Ap. is a 15th century poetic composition. As will be seen later on the §8 the regional classification of Ap. literature followed in this work is different and more natural. §8 Apbhransh literature is regionally classified in three main divisions according to the place of composition of the particular work. They are roughly as follows—Western, Southern and Eastern. (H. G. Ap., Page 13, 15)

दिखाते हुए अपने 'भाषा सर्वेक्षण' में अपभ्रंश की बोलियों का विवरण दिया है; यथा—व्राचड़, दाक्षिणात्य (इसकी अनेक विभाषाएँ रही होंगी) औढ़, औत्कल, मागध, गौड़, अर्धमागधी प्राकृत से विकसित अपभ्रंश, (सम्भवतः मध्यदेशीय—ले०) नागर शौरसेनी, टक्क, उपनागर, आवन्त्य, गौर्जर आदि।[33] कितने ही स्थानों पर डॉ. ग्रियर्सन यह कहकर सन्तोष कर लेते हैं कि यहाँ पर भी कोई जनपदीय अपभ्रंश रही होगी, पर उसका नाम अज्ञात है।[34] यद्यपि डॉ. तगारे ने उपर्युक्त विचारधारा का खण्डन किया है तथापि भाषाओं के विकास का इतिहास दिखाने के लिए इस कल्पना को (ग्रन्थों एवं उद्धरणों के अभाव में कल्पना) स्वीकार करना पड़ेगा। क्योंकि यह तो वर्तमान प्रचलित बोलियों के ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक तत्वों पर दृष्टिपात करने से स्वतः सिद्ध है कि इनका विकास न केवल एक परिनिष्ठित अपभ्रंश से, बल्कि डॉ. तगारे द्वारा प्रस्थापित तीन अपभ्रंशों से भी सम्भव नहीं है।[35] नभाआ की भाषाओं का विकास कुछेक को छोड़कर जैसे राजस्थानी और गुजराती (इस पर भी विद्वानों में कुछ मात्रा में मत-भिन्नता हो सकती है) सबका विकास पृथक्-पृथक् स्रोतों से हुआ है, चाहे इसका अलगाव अत्यल्प रहा हो। डॉ. चाटुर्ज्या के भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी तथा राजस्थानी भाषा आदि ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि वे अपभ्रंश की अनेक बोलियों को स्वीकार करते हैं।

अपभ्रंश साहित्य के आधार पर भाषा-भेदों की स्थापना

आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिये अपभ्रंश भाषा का अध्ययन परमावश्यक है, किन्तु अपभ्रंश का अध्ययन जिस रूप में (कुछ क्षेत्रों में) किया जाना चाहिए था, किया न जा सका। विद्वान् लोग अपभ्रंश के सूक्ष्म विश्लेषण के स्थान पर उसके भेदोपभेदों के चक्कर में पड़ गए। मज़ेदार बात यह है कि वे किसी सीमा तक सही होते हुए भी, अपनी बात को उस रूप में नहीं रख सके, जिस रूप में रखा जाना चाहिए था। परिणामस्वरूप एक अच्छा ख़ासा विवाद उपस्थित हो गया। उदाहरण के लिए विद्वानों ने यह स्वीकार किया कि अपभ्रंश अनेक रूपों में प्रचलित थी अथवा यह कहिए कि एक समय ऐसा था जब अपभ्रंश की अनेक उपभाषाएँ तथा बोलियाँ

---

[33] भारत का भाषा सर्वेक्षण—डॉ. ग्रियर्सन, अनु० हेमचन्द्र, पृष्ठ २४७।

[34] वही, पृष्ठ २४६–२४८।

[35] We do not subscribe to Grierson's theory of postulating one Ap. per every NIA languages. This hypothesis is unsupported by the evidence discovered so for. (H. G. Ap by Dr. Tagare, page 16)

प्रचलित थीं, यहाँ तक तो ठीक है; पर विवाद उस समय उपस्थित हुआ जब विद्वानों ने प्राप्त साहित्यिक अपभ्रंश के ग्रंथों की भाषा को रचयिताओं की शैली अथवा उनके निवासस्थान के आधार पर ही बिना किसी भाषावैज्ञानिक अंतर के अनेक भेदों में विभाजित करने का यत्न किया और इतना ही नही, उनके अंतर-सूचक नियमों की भी स्थापना कर दी गई जो पूर्णतः निराधार है। अच्छा यह होता कि विद्वान् लोग भारत की आधुनिक आर्यभाषाओं के आधार पर अपभ्रंश की उन बोलियों का स्वरूप जानने का प्रयत्न करते, इसके विपरीत कि वे साहित्यिक अपभ्रंश में भिन्न-भिन्न क्षेत्रों की भाषा का दर्शन कर रहे है जो केवल साहित्यिक अपभ्रंश में सम्भव नही है।

'सनत्कुमारचरिउ' की भूमिका में डॉ. याकोवी ने अपभ्रंश (परिनिष्ठित साहित्यिक) को पूर्वी, पश्चिमी, दक्षिणी तथा उत्तरी, इन चार भागो में विभाजित किया है, जिसके उत्तरी भेद का विरोध डॉ. तगारे ने सशक्त शब्दों मे कर अपभ्रंश के तीन भेद निश्चित किए है।[36] कुछ विद्वान् अपभ्रंश की बोलियों को भी स्वीकार करने को तैयार नही है जिनमें डॉ. तगारे का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।[37] ज्यूल ब्लाक और उनके अनुयायियों की धारणा तो बिलकुल ही भिन्न है। वे अपभ्रंश को जनभाषा मानने को ही उद्यत नही है।

उपर्युक्त संकेत देने का तात्पर्य केवल यह है कि विद्वानों द्वारा लिखित उपलब्ध साहित्य के आधार पर निश्चित किए गए मतों का और जनपदों मे उस समय बोली जाने वाली बोलियो के आधार पर निश्चित किए गए मतो का ऐसा अंतर्मिश्रण हुआ है कि दोनो ही मतो की सत्यता संदिग्ध हो गई है। वास्तविकता यह है कि अपभ्रंश का जो साहित्य अब तक उपलब्ध हो सका है, उसके आधार पर बिना किसी हिचकिचाहट यह कहा जा सकता है कि इसकी भाषा शौरसेनी अपभ्रंश या नागर अपभ्रश अथवा आधुनिक शब्दावली में पश्चिमी अपभ्रंश है जो उस समय के साहित्यकारो एवं शिष्टजनों की भाषा थी तथा तत्समय प्रचलित अनेक बोलियों में से इसने प्रतिभाशाली व्यक्तियों के सहयोग से परिनिष्ठित भाषा का स्वरूप धारण कर लिया था। इस प्रकार इसमे विपुल साहित्य की सर्जना हुई और यही कारण है कि शौरसेनी अपभ्रंश का स्वरूप तो सुरक्षित रह सका और यह अपनी अन्य बोलियाँ से सम्बन्धित नई भाषाओ को जन्म देकर स्वय कालकवलित हो गई और साथ ही आगे आने वाले भाषाशास्त्रियो के लिये इस समस्या की उत्पादिका सिद्ध

---

[36] हिस्टोरिकल ग्रामर आफ़ अपभ्रंश, पृष्ठ १३–१५।

[37] वही, पृष्ठ १६।

हुई कि अमुक आधुनिक भाषा का जन्म कहाँ से, कैसे तथा कौन-सी अपभ्रंश बोली से हुआ। संभवतः इसी विचार को दृष्टिगत रखते हुए ज्यूल ब्लाक ने लिखा है—[३८]

"आवर नालेज आफ् इन्डस (इंडियन) लैंग्वेजेज, एट लीस्ट इन देअर मोस्ट एन्शियंट स्टेजेस्, इज़ वेस्ट ओन्ली, आर नीअरली सो, आन लिटरेरी लैंग्वेजेज आफ् ह्विच वी नो नाइदर द लोकल बेसिस, नार द डिग्री आफ् कनेक्शन विद द वर्नाक्यूलर्स, दे डु नाट गिव एक्सप्रेशन टु द थाट एण्ड फीलिंग्स आफ् द पीपुल, एट द मोस्ट, दे गिव एन आईडिअल पिक्चर आफ् द कल्चर आफ् ए स्माल कम्यूनिटी, दे मे डिफ़र इन कैरेक्टर, सम हाईली रिलीजस एण्ड एरिस्टोक्रेटिक, सम पापुलर बट रिलिजस टू, द मेजॉरिटी आर मेनली अडाप्टेड फ़ार प्योर्ली लिटरेरी यूसेजस, द लिंग्विस्ट हैज़ टु बी केअरफुल इन गिविंग देअर एविडेंस इट्स प्रापर वेल्यू, बिफ़ोर ट्राईंग टु कॉन्स्ट्रक्ट द डिटेल्स आफ् द हिस्टरी आफ् इंडोएर्यन।"

अपभ्रंश भाषा का आधुनिकतम एवं अधिक स्वाभाविक वर्गीकरण डॉ. तगारे का माना जाता है, अतः उस पर किंचित् दृष्टिपात कर लेना प्रासंगिक ही होगा। आपने उसे तीन वर्गों में विभाजित किया है। डॉ. नामवर सिंह ने इनमें से दक्षिणी अपभ्रंश का विरोध बड़े ही सशक्त शब्दों में किया है। यथा—

'उपर्युक्त विशेषताओं की छानबीन करने से पता चलता है कि ये स्थानगत उतनी नहीं हैं जितनी शैलीगत। डॉ. तगारे ने पुष्पदंत और कनकामर की भाषा में जिन्हें दक्षिण अपभ्रंश की अपनी विशेषताएँ कहा है, वे वस्तुतः बहुत कुछ प्राकृत प्रभाव हैं। विविध वैकल्पिक रूपों में से प्राचीन और नवीन रूपों को अलगाव करके किसी निर्णय पर पहुँचना अधिक लाभदायक होता लेकिन डॉ. तगारे ने यहाँ इस विवेक का परिचय नहीं दिया। पुष्पदंत की भाषा को मराठी की जननी प्रमाणित करने के आवेश में डॉ. तगारे की दृष्टि से यह तथ्य ओझल हो गया कि पश्चिमी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'भविसयत्त कहा' और दक्षिणी अपभ्रंश नाम से अभिहित 'महापुराण' की भाषा में कोई मौलिक अंतर नहीं है। दोनों ही की रचना परिनिष्ठित अपभ्रंश में हुई है, थोड़ा बहुत जो अंतर है वह भी केवल शैली-संबंधी है और रचयिता-भेद से इतना सा भेद आ जाना स्वाभाविक सी है।

---

३८ ज्यूल ब्लाक—लॉ लेक्चर्स फ़ार १९२९. सम् प्राब्लम्स आफ इंडोएर्यन फाइलोलाजी १९३० कोटेड फ्राम 'हिस्टारिकल ग्रामर आफ अपभ्रंश, डॉ. तगारे, पृष्ठ० १५।

निष्कर्ष यह निकला कि दक्षिणी अपभ्रंश नामक एक अलग भाषा की कल्पना निराधार और अवैज्ञानिक है।"[39]

इस स्थान पर यह बात ध्यान में रखने की है कि डॉ. नामवर सिंह का निर्णय पुष्ट विरोधी प्रमाणों के अभाव से ग्रस्त है। डॉ. तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के कुछ लक्षण बताए हैं जिनका वे परिनिष्ठित अपभ्रंश में अभाव मानते हैं किन्तु वस्तुस्थिति इससे सर्वथा भिन्न है। वे सभी लक्षण जो उन्होंने दक्षिणी अपभ्रंश के लिये निर्धारित किए हैं, परिनिष्ठित अपभ्रंश में बहुतायत से पाये जाते हैं तथा परिनिष्ठित या पश्चिमी अपभ्रंश के लक्षण उनके द्वारा स्वीकृत दक्षिणी अपभ्रंश के ग्रंथों में पाए जाते हैं। डॉ. तगारे ने दक्षिणी अपभ्रंश के निम्नलिखित लक्षण निश्चित किए हैं—

(१) दक्षिणी अपभ्रंश की ध्वनिसंबंधी विशेषता यह है कि संस्कृत 'ष' का विशेषत: 'छ' होता है, जबकि अन्य अपभ्रंशों में 'क्ख' या 'ख' होता है।

(२) अकारांत पुंलिङ्ग शब्द का तृतीया एकवचन में अधिकांशत: 'एण' प्रत्यय वाला रूप मिलता है, जबकि परिनिष्ठित रूप एकारान्त होता है।

(३) उत्तम पुरुष एकवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'मि' परक होती हैं जबकि परिनिष्ठित रूप 'उँ' परक होता है।

(४) अन्यपुरुष बहुवचन में सामान्य वर्तमान काल की क्रिया 'न्ति' परक होती है जबकि परिनिष्ठित रूप 'हिं' परक होता है।

(५) सामान्य भविष्यत् काल के क्रियापद अधिकांशत: 'स' परक होते हैं जबकि परिनिष्ठित रूप 'ह' परक होते हैं।

(६) पूर्वकालिक क्रियापद के लिये 'इ' प्रत्यय का प्रयोग नहीं के बराबर अथवा बहुत कम होता है, जबकि यह प्रत्यय परिनिष्ठित में सर्वाधिक प्रयुक्त होता है।

जहाँ तक प्रथम विशेषता का सम्बन्ध है, परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी 'ष' का 'छ' आदेश उपलब्ध होता है—

(१) **छक्खंड** (षट्खंड) वसुह मुह सायिसालु (धनपाल, भविसयत्त कहा, पृष्ठ ३)।

(२) असुलहँ **एच्छण** (एषण) जाहँ भलि ते णवि दूरु गणन्ति (सि० हे० श०, सू०, ३५३–१)[40]।

---

[39] हिंदी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ५८।

[40] छब्बरिसाइं (स्वयं, हरि० पु० ६२।३, छठइ (रामा० स्वयंभू २१।६), छड (कण्हपा० च० ६), छह (रामसिंह दो० पा० ११।६)।

द्वितीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'एण' वाले प्रयोग—

(१) प्रिय विरहेण व सुसइ कामणी। (स्वयंभू रामा० २६।५ का० वा०, पृष्ठ ३०)।

(२) वणि तणु रुह रहसेण समागय। (धनपाल भविस० १६।१७ का० वा०, पृष्ठ २६४)[41]।

दक्षिणी अपभ्रंश में 'एँ' वाले प्रयोग—(पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)—

(१) बलवंतें सह जुज्झइ। (पुष्पदंत णा० च०, पृष्ठ ७४-७५, का० वा० पृष्ठ २१२)।

(२) किय चमर ढुवाएँ सलिल सहाएँ गुणभरिया। (करकंडु चरिउ, कनकामर, पृष्ठ ६७)[42]।

तृतीय विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण, परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'मि' परक प्रयोग—

(१) अणु वि भणमि पुत्र परमत्थें। (धनपाल, भविस०, पृष्ठ २०, का० वा०, पृष्ठ २६८)।

(२) हउं किं वि न जाणमि मुक्खुमणे। (स्वयंभू रामा०, २३।१, का० पृष्ठ २४)[43]।

दक्षिणी अपभ्रंश में 'उँ' परक प्रयोग (पुष्पदंत और कनककामर के ग्रंथों में)।

(१) पर छड्डिय तुम्हहिं जीवमि एवहिं किं मरउँ। (कनका० क० च० पृष्ठ ६७, का० पृष्ठ ३३६)।

[41] वसेण, हिवेण, वासेण, पठेण, (स्वयंभू रा० ७१, १।२, ६५।५, २३।१, २०।१) केण, जेण, छंदेण (सरहपा० दो० १४, ७८, ६२) उजेण (योगिन्दु प० प० ६६) जयिरेण मइलेण, जलेण (रामसिंह पा० दो० १६, १६, १६३) विणट्ठेण वम्मेण (धनपा० भविस० २०—२३)।

[42] हत्थें, कहएँ, मुद्धइएँ. विज्जएँ, सिद्धएँ, बुद्धिएँ, बुद्धिएँ, दिट्ठिएँ, लट्ठिएँ, (पुष्प, आदि पु० ४०७, ज० च० ६।१३) गीयएँ, राएँ, करकंडें पयपुल्लयें (कनक का० करकंड च०; पृष्ठ ४, २३, २४, ६४, ६५)।

[43] कहमि, (सरहपा० दो० ६३) परिहरमि, करमि, जाणमि स्वयंभू रा० १।२, २३।१) जाणमि (नूमुकपा० च० ४६) पूछमि, मारमि (कंहपा० च० १०) करमि (रामसिंह पा० दो० १४४)।

(२) मा मरउँ वालु, मइं गिलउँ कालु। (पुप्पदंत उ० रा० ६४ का०, पृष्ठ २२२)।[44]

चतुर्थ विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'न्ति' परक प्रयोग—(१) णं णच्चंति मोर खल दुज्जण। (स्वयंभू रामा० २८।३ का० पृष्ठ २८)।

(२) जहिं पथिय तन्नु छायहिं भमन्ति। (धन० भविस० पृष्ठ २ का० धा० पृष्ठ २६२)।[45]

पंचम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'सइ' परक प्रयोग—(१) पइ विणु को कुवेर भंजेसइ। (स्वयंभू रा० ७६।७)।

(२) इंधन होसइ (रामसिंह पा० दो० २५३ का० पृष्ठ २४८)।[46]

दक्षिणी अपभ्रश में 'हि' परक प्रयोग (पुप्पदंत और कनककामर के ग्रंथों मे)—

(१) णं कीलहिं अवरुंडण पराइं (पुप्पद० ज० च० पृष्ठ ४० का० पृष्ठ १८६)।

(२) पुक्करहिं उव्धा कर करेवि। (कनक० क० च० पृष्ठ ५१ का० पृष्ठ ३३६)।[47]

छठी विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; दक्षिणी अपभ्रंश में 'इ' अंतवाले पूर्वकालिक क्रिया के प्रयोग उपलब्ध होते है—

(१) करि सर वहिरिय दिच्चक्कवाल। (पुप्पदंत णा० च० पृष्ठ ४ का० पृ० १७६)।

(२) तं पेखि जणु खिण्णु (कनकामर, क० च० ३।१८।३)।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निप्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते है कि दक्षिणी भाषा की जो विशेपताएँ डॉ. तगारे ने निश्चित की है वे सर्वथा आधारहीन हैं। ये विशेषताएँ अपभ्रंश के प्राय: सभी ग्रंथों में पर्याप्त मात्रा में खोजी जा सकती है, चाहे उनकी रचना उत्तर में हुई हो अथवा पूर्व, पश्चिम या दक्षिण में।

---

[44] सरउं, सोसिउं, आकरिसिउँ, (पु० उत्तरा० ६४-८९) सरउं (क० का० च०, पृष्ठ ६७)।

[45] परिचलन्ति पियन्ति, (स्वयंभू रा० १।४) होन्ति, भणन्ति (योगिन्दु २६३, ३२३ प० प०) गुप्पंति, भमति (रा० पा० दो० २१७) गमंति, करति (घनपा० भविस० २।३; १०।११)।

[46] वारेसइ, होसइ, पालेसइ, होसइ (स्वयंभू रा० ७६।९)।

[47] करहिं संचलहिं (क० का० क० च० ३५, २६, ४, ५)।

डॉ. तगारे द्वारा प्रस्तुत अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेदों की आलोचना करते हुए डॉ. नामवर सिंह ने लिखा है—'वस्तुतः भारतीय आर्यभाषा की पूर्ववर्ती परम्परा के अनुसार अपभ्रंश के भी केवल दो क्षेत्रीय भेद थे—पश्चिमी और पूर्वी, जिनमें पश्चिमी परिनिष्ठित थी तथा पूर्वी अपभ्रंश उसकी विभाषा मात्र थी। अपभ्रंश की इससे अधिक सत्ता मानने की इस समय कोई गुंजाइश नहीं है।[48]

उपर्युक्त उद्धरण से प्रकट होता है कि डॉ. नामवर सिंह अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखना चाहते हैं, पर डगमगाते कदमों के साथ, क्योंकि वे सरह, कण्हपा आदि के दोहाकोशों को तो परिनिष्ठित अपभ्रंश की रचना मानते हैं, किन्तु चर्यापदों की भाषा में उन्हें पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ दृष्टिगत होती है। यदि चर्यापदों की भाषा का सूक्ष्म अध्ययन किया जाय तो ज्ञात होगा कि डॉ. साहब ने जिन लक्षणों को इनके पूर्वीपन की विशेषताएँ कहा है वे समस्त लक्षण पर्याप्त मात्रा में सुदूर पश्चिम एवं दक्षिण के साहित्यकारों की रचनाओं में भी उपलब्ध होते हैं। अतः अपभ्रंश के पूर्वी भेद को बनाए रखने में इनका भी क्षेत्रीय मोह ही दृष्टिगत होता है। इससे अधिक कुछ नहीं। डॉ. नामवर सिंह ने डॉ. तगारे के द्वारा प्रस्थापित निम्न लक्षणों को पूर्वी अपभ्रंश की विशेषताएँ माना है—

(१) पूर्वी अपभ्रंश में कुछ संयुक्त ध्वनियों का परिवर्तन इस प्रकार होता है—

क्ष>क्ख, ख

त्व>त्त

द्व>दु

व>ब

ष, स>श

(२) संस्कृत 'श' सुरक्षित रहता है।

(३) आद्य महाप्राणत्व नहीं होता।

(४) निर्विभक्तिक संज्ञापद बहुत मिलते हैं।

(५) लिंग अतन्त्रता बहुत अधिक है।

(६) क्रियार्थक संज्ञा और पूर्वकालिक क्रिया का मिश्रण नहीं हुआ। पूर्वकालिक क्रिया प्रत्यय 'अइ' का प्रयोग क्रियार्थक संज्ञा के लिए भी हुआ है।

(७) परिनिष्ठित अपभ्रंश की क्रियार्थक संज्ञा के लिए प्रयुक्त 'अण' प्रत्यय का यहां पर अभाव है।

---

[48] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ ५६।

उपर्युक्त विशेषताओं के प्रतिरोध में अपने मत की पुष्टि के लिए यहाँ क्रमशः उदाहरण प्रस्तुत हैं—

प्रथम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाण; परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'क्ष' के स्थान पर क्ख, ख—

(१) णउ मरहुँण लक्खणु (लक्षण) छंदु सव्वु। (स्वयंभू रा० १।३ का० पृष्ठ २४)।

(२) जहि दक्खा (द्राक्षा) मंडपि दुहु मुयन्ति। (पुष्पदंत णा० च० पृष्ठ ६)[49]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'त्व' के स्थान पर 'त्त'—

(१) अवरेंहि मिकईहि कइत्तणउ (कवित्व)। (स्वयंभू हरिव० का० १ पृष्ठ २४)।

(२) ते वयणें रोपणियत्तणउ रो(पयित्व)। (पुष्पदंत आदि पु०, पृष्ठ ५६१)[50]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान पर 'दु' का प्रयोग—

(१) चउ दुवार (द्वार) चउ गोउर। (स्वयंभू रा० ४६।२ का० पृष्ठ २४)

(२) दु (द्व) ति 'पंच' सत्त मो मईं घराईं। (पुष्पदंत जसहर च० पृष्ठ ४ का० पृष्ठ १६२)[51]।

परिनिष्ठित अपभ्रंश में भी 'व' के स्थान पर 'व' का प्रयोग—

(१) गोला णइ दिट्ठ समुव्वहन्ति (समुद्वहन्ति)। (स्वयंभू० रा० ३१।३ का० पृष्ठ ३८)।

(२) पच्च वासिणीसेस लेवि (लेवि)। (पुष्पदंत आदि पु० २३०-२३१)[52]।

---

[49] रक्खसेण, पेक्खु, (स्वयंभू० रा० ६६।२, ७८।२०), जक्खिणी, खीर, (पुष्पदंत आदि पु०, पृष्ठ २४४, णा० च०, पृष्ठ ६), खत्तियउ, मोक्खु (योगिंदु, प० प्र० ६८, १८४), अक्खरडे, अखइ, मोक्खु, (रामसिंह पा० दो० ८६, ४२, १४५), कुरुखेत्ति, कामकंखिईं, पिक्खवि (धनपाल भविस० पृष्ठ ३, २१-२२, ५६-५७), सविलक्ख (अब्दुर्रहमान स० रा० २।२९)।

[50] मिच्छत (मिथ्यात्व), दयिवायत्तु (पुष्पदंत णाय कु० च० पृष्ठ ४, धनपा० भविस० पृ० १७), इदत्तणु (स्वयंभू० रा० ७८), दुएण, दुवारु (पुष्पदंत णा० च० १२, ज० च० २१)।

[51] दुपुत्तु (स्वयंभू० रा० ७४।११), दुवारु (धनपाल भविस० ७१)।

[52] तोवि (तदपि=तोवि>तोवि) आमो वासाल (आमोदासक्त) (स्वयंभू० रा० १०।३, ३१।३)।

पूर्वी अपभ्रंश में 'व' के स्थान पर 'व' भी पाया जाता है (चर्यापद)—

(१) आगम वेअ पुराणें पण्डिअ माण वहन्ति। (कण्हपा का० २ पृष्ठ १४६)।

(२) सो कइसे आगम वेएँ बरवाणी। (लुइपा चर्याप० २६)।

इसके अतिरिक्त इनके द्वारा प्रस्थापित परिनिष्ठित अपभ्रंश के ध्वनि-परिवर्तन के लक्षण भी तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथों में पाए जाते हैं; यथा—'क्ष' के स्थान पर च्छ, छ—

(१) मोरंगिपिच्छ (पक्ष) वरिहिण शवरी गीवत गुंजरी। (शवरपा चर्या० २८)।

(२) राग-दोष-मोहे लाइआ छार (क्षार)। (कण्हपा चर्यापद ११)।

पूर्वी अपभ्रंश में 'द्व' के स्थान पर 'व' (चर्यापदों में):

(१) चान्द सूरज वेणि (द्वौ) परवाफल। (गुंडरिया चर्या० ४)।

(२) वेणि (द्वौ) रहिअ तसु णिच्चलठाइ। (कण्हपा दो० १३)।

प्रथम विशेषता के अंतिम भाग अर्थात् 'ष, स' के स्थान पर 'श' तथा द्वितीय विशेषता संस्कृत 'श' की सुरक्षा तथाकथित पूर्वी अपभ्रंश के ग्रंथों में व्यवस्थित रूप में नहीं पाई जाती। यद्यपि दोहाकोशों और चर्यापदों की भाषा में 'श' ध्वनि का अस्तित्व पाया जाता है तथापि इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि यह उन ग्रंथों की भाषा की विशेषता है, क्योंकि इस नियम का पालन सर्वत्र नहीं किया गया है। जहाँ कहीं क्षेत्रीय प्रभाव है वहाँ 'श, ष, स' के स्थान पर 'स' पाया जाता है अन्यथा इन तीनों स्थान पर 'स' (परिनिष्ठित अपभ्रंश परंपरा के अनुसार) कर दिया गया है और कहीं-कहीं तो तीनों का ही अस्तित्व पाया जाता है। कुछ ऐसे भी उदाहरण इन ग्रंथों में पाए जाते हैं जहाँ पर 'श, स' के स्थान पर 'ष' भी पाया जाता है। अपने तथ्यों की पुष्टि के लिये नीचे उदाहरण प्रस्तुत है—

'श' के स्थान पर 'स'—

ऊँचा-ऊँचा पावत तहिं वसइ सवरी (शवरी) बाली-बाली।
मोरंगिपिच्छ वरहिण सवरी (शवरी) गिवत गुंजरी माली।
उमत सवरी (शवरी) पागल शवरो माकर गुलीगुहाड़ा।
एकेली सवरी (शवरी) ए वण हिंडइ कर्ण कुंडल वज्रधारी।
तिअ धाउ खाट पडिला सवरो (शवरो) महासुखे सेज (शय्या) छाइली।
सवरो (शवर) भुजंग णइरामणिदारी पेह्म राति पोहाइली।
सून (शून्य) निशमणि कण्ठे लइआ महसुहे राति पोहाइ।
उमग सवरो (शवर) गरुआ रोषे, एके-शर संधाने वन्वह विचइ परम-

भिते निते षियाला (शृगाल) षीहे (सिंह) षम (सम) जुझअ। (वही, ३३)।

'श' के स्थान पर 'ष'—

षियाला, पड़वेषी (प्रतिवेशी), (तंतिपाद च० प० ३३); षपहर (शशधर) (भूसुकपाद चर्यापद २७); षबराली (शबर) (शबरपाद चर्यापद ५०)।

तृतीय लक्षण के परिवेश में कतिपय शब्दों को छोड़कर यहाँ पर शब्द के आद्य महाप्राणत्व को कही भी परिवर्तित नहीं किया गया है। मैं प्रत्येक महाप्राण ध्वनि के, जो प्रायः शब्दों के आदि में प्रयुक्त होती आ रही है, एक-एक, दो-दो उदाहरण प्रस्तुत कर रहा हूँ, वैसे ऐसे शब्दों को हज़ारों की संख्या में वहाँ से चयन किया जा सकता है। उदाहरण क्रमशः प्रस्तुत हैं[54]—

खाण्टबि, खरे (सरहपाद च० प० ३८) खाइ (शबरपाद २८); खाले (भूसुकपाद ४६); छड़ि (सरहपा० ३२); छाइली (शबरपाद २८); छाड़-छाड़ (शा० ५०); छांदक (लूइपाद १); घमण (लूइपाद १) घंटा (कण्हपा० ११); घोरिअ, घुमइ (कण्हपा० ३६); घर (तंतिपा ४३); झाण (दारिक-पा० ३४); ठान (दारिकपा० ३४); ठावी (कंबलपाद ३०); ढेढण (तंतिपा० ३३); थिर (सरहपा० ३८); थाकिउ (भूसुकपा० २७); थाहे (शा० १५); धर (सरहपा० ३८); धनि (वीणापा० १७); धुणी (शांतिपा० २६); धाए (लुइपा० २६); फिटेलि, फुलिआ (शबरपाद ५०); फाल (गुंडरिपाद ४); भिति (लुइपाद १); भणइ, भाइला (सरहपाद ३८); भेला, भुजग (शबरपाद २८, ५०); भात (तंतिपा० १३); हाथेरे (सरहपा० ३२); हेली (शबरपाद ५०)।

जहाँ तक पूर्वी अपभ्रंश की चतुर्थ विशेषता का सम्बन्ध है, वह विशेष नहीं सामान्य है, क्योंकि हेमचन्द्र ने इसे परिनिष्ठित (इनके अनुसार पश्चिमी) अपभ्रंश की विशेषता लक्षित की है; यथा—लिङ्गमतन्त्रम् (८-४४५)—अपभ्रंशे लिङ्गम् अतन्त्रम् व्यभिचारि प्रायः भवति।[55] कम अधिक प्रयोगों की उपलब्धि के आधार पर किसी लक्षण को किसी भाषा की विशेषता कहना कदापि समीचीन नहीं कहा जा सकता।

यही स्थिति पंचम विशेषता की भी है, क्योंकि संस्कृत की पुत्रियों और विशेषकर अपभ्रंश भाषा की यह विशेषता रही है कि वह अधिक से अधिक वियोगात्मक होती गई और यही कारण है कि उसमें सबसे अधिक मात्रा में

---

[54] ये सभी उद्धरण केवल चर्यापदों से लिए गए हैं। दोहा कोशों का कोई उदाहरण नही दिया गया है।

[55] हेमचन्द्र : शब्दानुशासन ८/४४५।

परसर्गो का प्रयोग किया गया है। एक बात यहाँ पर स्पष्ट कर देना अयुक्ति-संगत न होगा कि उक्त विद्वानों से हमारा मतभेद इस बात पर नही है कि पूर्वी अपभ्रंश का अस्तित्व था अथवा नही, बल्कि मतभेद इस बात पर है कि सिद्धो की रचनाओं—चर्यापदों एवं दोहाकोषो की भाषा पूर्वी अपभ्रंश है अथवा परिनिष्ठित अपभ्रंश ? हमारी दृष्टि में परिनिष्ठित अपभ्रंश है। इनका यह लक्षण तो हमारे मत को और भी अधिक पुष्ट करता है क्योंकि पश्चिमी अपभ्रश से निसृत आधुनिक भारतीय भाषाएँ पूर्वी अपभ्रंश से उद्भूत असमी, बंगाली, उड़िया आदि भाषाओं से अधिक मात्रा मे निर्विभक्तिक है। अतः सिद्ध है कि पूर्वी अपभ्रंश-बोली अपेक्षाकृत कम निर्विभक्तिक रही होगी। यदि चर्यापदों मे निर्विभक्तिक प्रयोग अधिक है तो वे निश्चय ही परिनिष्ठित अपभ्रश के ही बोधक है।

जहाँ तक छठे लक्षण का सम्बन्ध है, लेखक ने लक्षण के उत्तरार्ध मे स्वयं स्वीकार किया है कि एक प्रत्यय का अंतर्मिश्रण हुआ है। अतः किसी रचना में एक प्रत्यय के अंतर्मिश्रण पर और किसी रचना मे दो प्रत्ययों के अंतर्मिश्रण पर दोनों की भिन्न-भिन्न भाषा की क्लिष्ट कल्पना को किसी भी प्रकार श्रेयस्कर एवं तर्कसंगत नही कहा जा सकता। फिर इस अंतर्मिश्रण के प्रारंभ की ओर हेमचन्द्र ने संकेत भी किया है; *यथा— व्यत्ययश्च* (८-४४७)—प्राकृतादि भाषा लक्षणानां व्यत्ययं च भवति।[56] किसी लेखक ने इसे स्वच्छन्दता से ग्रहण किया और कुछ प्राचीनता के पक्षपाती रहे। अतः इस आधार पर भी भाषा-भिन्नता को स्वीकार नही किया जा सकता।

सप्तम विशेषता के प्रतिरोधी प्रमाणः—दोहाकोषों और चर्यापदों में 'अण' प्रत्यय मोती की भाँति बिखरे पड़े है, आवश्यकता है चयनकर्ताओं की। इस विषय के कुछ उदाहरण प्रस्तुत कर देने से इस लक्षण की भी निराधारता सिद्ध हो जाती है।

पूर्वी अपभ्रंश मे 'अण' प्रत्यय—

(१) मोहोर विगोआ **कहण** न जाइ। (गुडरिपा० च० प० २०; का० धा०, पृष्ठ १४४)।

(२) घोलिअ **अवण गवण** विहुण। (कण्हपा० च० प० ३६; का० धा०, पृष्ठ १५२)।

जलण (सरहपा० दो० को० ४); जलण, गअण (कण्हपा० दो० को० १७); कहण (कुक्कुरिपा० चर्यापद २०); अवण, गवण (भूसुकपा० चर्यापद २१)।

---

[56] हेमचन्द्र : शब्दानुशासन ८/४४७।

उपर्युक्त आकलन एवं विचार-विमर्श के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर सरलता से पहुँच जाते हैं कि लेखकों के लेखनस्थान (निवास स्थान) के आधार पर उनकी कृतियों की भाषाओं को उन क्षेत्रों की भाषाओं के नाम से अभिहित नहीं किया जा सकता। ये लेखक चाहे पूर्व के निवासी रहे हों, चाहे इनकी जन्मभूमि पश्चिमी प्रदेश रही हो; चाहे उन्होंने उत्तरी क्षेत्र में बैठकर काव्य-सर्जन किया हो, चाहे दक्षिणी प्रदेश में बैठकर अपनी वाणी को साकार किया हो, इन सबके ग्रंथों की भाषा एक ही है और वह परिनिष्ठित अपभ्रंश है, जिसे ये विद्वान् पश्चिमी अपभ्रंश के नाम से अभिहित करते हैं। पूर्वी अपभ्रंश का विवेचन करते समय डॉ. घोषाल ने ठीक ही कहा है—

'इस प्रकार पूर्वी अपभ्रंश का अर्थ पूर्वी ग्रंथों की साहित्यिक भाषा है तो निश्चय ही पूर्वी अपभ्रंश नाम की कोई चीज नहीं है। लेकिन यदि पूर्वी अपभ्रंश का तात्पर्य मागधी अपभ्रंश से है, जो आधुनिक पूर्वी बोलियों का मूल स्रोत है, तो निश्चय ही उसका अस्तित्व था और वह एक जीवित सत्य की भाँति वास्तविक थी।'[57]

ये ही पंक्तियाँ दक्षिणी अपभ्रंश के लिए भी [केवल पूर्वी अपभ्रंश शब्द के स्थान पर दक्षिणी अपभ्रंश शब्द का प्रयोग कर] उद्धृत की जा सकती हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि उस समय की साहित्यिक भाषा केवल एक थी, अनेक नहीं।

---

[57] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृष्ठ २४।

सप्तम अध्याय

संक्रान्ति-काल की भाषा —अवहट्ट

अवहट्ट का प्रारम्भ—अवहट्ट के ग्रन्थ—अवहट्ट शब्द का भाषा के लिए प्रयोग का इतिहास—अवहंस, अवहत्थ, अवहट्ट आदि शब्दों की व्युत्पत्ति—सन्देशरासक का परिचय—ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—रूपात्मक विशेषताएँ—प्राकृतपैंगलम् की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—कीर्तिलता का परिचय—उक्ति-व्यक्ति प्रकरण का परिचय—वर्ण रत्नाकर का परिचय—तीनों की भाषाओं की विशेषताओं का सम्मिलित परिचय—अवहट्ठ की सामान्य विशेषताएँ—ध्वन्यात्मक तथा रूपात्मक—अवहट्ट और मिथिलापभ्रंश—अवहट्ट और पिङ्गल—मगही, ओड़िया, बंगला आदि—अवहट्ट और पुरानी हिन्दी—निष्कर्ष ।

पिछले पृष्ठों में हम इस बात पर अपने विचार प्रकट कर चुके हैं कि ५०० ई० से १००० ई० तक अपभ्रंश एक अखिल भारतीय साहित्यिक एवं सांस्कृतिक भाषा के पद पर प्रतिष्ठित रही। अद्यावधि उपलब्ध ग्रन्थों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यह भाषा मध्यदेशीय शौरसेनी भाषा का ही विकसित रूप है जिसमें यत्र-तत्र कुछ प्रान्तीय प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है; किन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि न. भा. आ. की समस्त भाषाओं का उद्गम एक इसी भाषा से हुआ है। वास्तविकता तो यह है कि साहित्यकार जब एक परिनिष्ठित भाषा का प्रयोग कला की साधना में कर रहे थे, उस समय भी भिन्न-भिन्न क्षेत्रों में जन साधारण अपने दैनिक व्यवहार एवं कार्यकलापों के लिए भिन्न-भिन्न बोलियों का प्रयोग कर रहा था। ये ही बोलियाँ आगे चल कर आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं की जन्मदात्री सिद्ध हुई।

जब उपरिकथित बोलियाँ विकसित होकर साहित्यिक भाषाएँ बनने का उपक्रम कर रही थीं, उस समय साहित्यकारों की परिनिष्ठित अपभ्रंश में एक विशेष परिवर्तन के लक्षण दृष्टिगत होने लगे थे। ऐसा लगता है कि कोई एक भाषा स्थानीय प्रभाव ग्रहण कर अपभ्रंश भाषा की भूमि पर अपना नवीन अस्तित्व उद्घाटित करने में तल्लीन थी। कुछ समय तक तो प्राचीन परम्परा के अनुसार इसे देशी भाषा कहा जाता रहा; किन्तु जब इसमें साहित्य का सर्जन बहुलता से होने लगा तो तत्कालीन कलाकारों एवं वैयाकरणों ने इसे 'अवहट्ट' की संज्ञा प्रदान की। यह भाषा वस्तुतः अपभ्रंश के अन्तिम छोर और नव्य भारतीय आर्यभाषाओं की प्रारम्भिक सीमा की सूचिका सिद्ध हुई अथवा यों कहिए कि इसने दोनों भाषाओं के बीच की कड़ी का काम दिया। उक्त भाषा का ज्ञान हमें निम्नलिखित ग्रन्थों के आधार पर होता है—

क्रम	रचना	लेखक व स्थान	रचना काल
(१)	सन्देश रासक	—श्री अब्दुलरहमान, मुल्तान	—बारहवीं सदी
(२)	प्राकृतपैंगलम्	—श्री पिङ्गल, वाराणसी	—चौदहवीं सदी
(३)	उक्ति-व्यक्ति प्रकरण	—श्री पण्डित दामोदर, काशी	—बारहवीं सदी
(४)	कीर्तिलता	—श्री विद्यापति, मिथिला	—चौदहवी सदी
(५)	वर्णरत्नाकर	—श्री ज्योतिरीश्वर, मिथिला	—चौदहवी सदी
(६)	चर्यापद	—विभिन्न सिद्ध एवं नाथ, पूर्वी प्रदेश	—चौदहवीं सदी
(७)	ज्ञानेश्वरी	—सन्त ज्ञानेश्वर, दक्षिण प्रदेश	—तेरहवीं सदी
(८)	पुरातन प्रबन्ध संग्रह	—सम्पादक मुनि जिनविजय	—बारहवीं सदी

अवहट्ठ भाषा के भाषा-वैज्ञानिक विवेचन से पूर्व यह देख लेना आवश्यक होगा कि उक्त शब्द का प्रयोग एक भाषा-विशेष के लिए कब और कैसे हुआ तथा यह शब्द क्या कभी किसी भाषा-विशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है ? यदि हाँ, तो वह कौनसी भाषा थी ? अवहट्ठ शब्द के प्रायोगिक इतिहास का अनुसन्धान करने पर ज्ञात होता है कि इसका सर्वप्रथम प्रयोग 'सन्देश रासक' नामक अपभ्रंश पुस्तिका में हुआ है जिसका रचनाकाल बारहवी सदी है—

अवहट्टय-सक्कय पाइयंमि पेसाइयंमि भासाय ।
लक्खण छन्दाहरणें सुकइत्तं भूसियं जेहिं ।। (स. रा. १.६)

उक्त पद में 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा से भिन्न किसी भाषा के लिए प्रयुक्त हुआ दृष्टिगत नही होता । यहाँ पर भिन्न-भिन्न भाषाओं—संस्कृत, प्राकृत, पैशाची—के प्रसंग मे 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग हुआ है । यदि हम इसे अपभ्रंश से भिन्न एक भाषा स्वीकार करे तो पद में अर्थदोष आ जायगा । कवि ने प्राय: प्राचीन समस्त परिनिष्ठित साहित्यिक भाषाओं को गिनाया है । ऐसी स्थिति में अपभ्रंश का परिगणन न करना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नही हो सकता । अत: स्पष्ट है कि उक्त पद में प्रयुक्त 'अवहट्ट' शब्द अपभ्रंश का ही द्योतक है ।

तत्पश्चात् 'प्राकृत पैंगलम्' के टीकाकार लक्ष्मीधर ने उक्त ग्रन्थ की भाषा के लिए 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग किया है—

"प्रथमं भाषाया: अवहट्ट (अपभ्रश) भाषायास्तरण्डस्तरणिरित्यर्थ: ।"

इसी प्रकार टीकाकार वंशीधर ने भी प्राकृतपैंगलम् की भाषा को अवहट्ठ बताया है—प्रथमो भाषा तरण्ड: । प्रथम आद्य: भाषा अवहट्ट भाषा, यया भाषया अय ग्रन्थो रचित: । सा अवहट्ट भाषा तस्या इत्यर्थ: । दोनो टीकाओं का समय क्रमश: १६५७ तथा १६६६ सं० है । इस समय तक ऐसा प्रतीत होता है कि 'अपभ्रश' भाषा 'अवहट्ठ' भाषा के नाम से ख्याति प्राप्त कर चुकी थी । टीकाकार लक्ष्मीधर ने कोष्ठक मे अपभ्रश शब्द देकर सम्भवत. इस बात की पुष्टि की है कि वह अपभ्रंश और अवहट्ठ को भिन्न भाषाएँ लेकर नही चलता । साथ ही अपभ्रश या अवहस (जो अधिक प्राचीन शब्द है), के स्थान पर अकस्मात् 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग निश्चय ही विचारणीय है । तथ्यों के अभाव में इस सम्बन्ध मे कुछ भी कहना उचित नही है ।

चौदहवी शताब्दी में ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने भी 'अवहट्ठ' शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के लिए किया है—पुनु कईसन भाट, संस्कृत, पराकृत, अवहट्ठ, पैशाची, शौरसेनी, मागधी छहु भाषा तत्त्वज्ञ, शकारी आभीरी, चाण्डाली सावली, द्राविली, औतकली विजातीया सातहु, उपभाषाक कुशलह । (व. र., पृ. ५५ ख) ।

चौदहवीं सदी में विद्यापति ने कीर्तिलता में 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग भाषा के अर्थ में किया है—

> सक्कअ वाणी बहुअ न भावइ ।
> पाउअ रस को मम न पावइ ॥
> देसिल वअना सब जन मिट्ठा ।
> तं तैंसन जंपिअ अवहट्ठा ॥ (की० ल० प्रथम पल्लव)

उक्त पद का भी जब हम सूक्ष्म विश्लेषण करते हैं तो लगता है कि विद्यापति भी 'अवहट्ट' से अपभ्रंश अर्थ ही ग्रहण करता था क्योंकि संस्कृत और प्राकृत के पश्चात् उसने अवहट्ट शब्द का प्रयोग किया है जो अपभ्रंश का ही सूचक है। द्वितीय, उसने देशी वाणी को सरस बताकर 'तं तैंसन' शब्द द्वारा यह बताया है कि वह वैसी ही अवहट्ट अर्थात् देश्य वचनों से युक्त, न कि परिनिष्ठित अपभ्रंश में लिखेगा। इससे स्पष्ट व्यञ्जित होता है कि विद्यापति का अवहट्ट से तात्पर्य अपभ्रंश से ही था; परन्तु उसके ग्रन्थ की भाषा अवहट्ट+देसिल वअना है। कीर्तिलता का भाषावैज्ञानिक विश्लेषण भी यह सिद्ध करता है कि उसमें देश्य-प्रयोगों का आधिक्य है, पर मूल भूमि अपभ्रंश की ही है।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह कहीं भी सिद्ध नहीं होता कि तत्कालीन लेखकों या टीकाकारों ने 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग अपभ्रंश भाषा से भिन्न किसी भाषा के लिए किया है, बल्कि यों कहना चाहिये कि उक्त शब्द का प्रयोग जहाँ कहीं भी हुआ है, वहाँ अपभ्रंश का ही वाचक बनकर आया है। मध्यकालीन भाषाओं के लिए संस्कृत के वैयाकरणों एवं काव्य-शास्त्रियों ने प्राकृत एवं अपभ्रंश शब्दों का प्रयोग किया है। प्राकृत भाषा के कवियो ने इनके तदभव रूप 'पाउअ तथा अवहंस' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। ठीक इसी प्रकार अपभ्रंश के कवियों ने अपभ्रंश के लिए 'अवहंस, अवब्भंश एवं अवहट्ठ शब्दों का प्रयोग किया है। इस दृष्टि से 'अवहट्ट' को अपभ्रंश' से भिन्न भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना किसी भी सीमा तक स्वीकार्य नही है। 'अवहट्ठ' को अपभ्रंश से भिन्न मानना उसी प्रकार तर्कसंगत नही है जिस प्रकार पाउअ को 'प्राकृत' भाषा से भिन्न भाषा के लिए प्रयुक्त शब्द मानना। हाँ, एक बात अवश्य विचारणीय है कि बारहवी शताब्दी से पूर्व के अपभ्रंश कवियों और लेखकों ने 'अवहट्ट' शब्द का प्रयोग क्यों नहीं किया और उक्त शताब्दी के पश्चात् यह शब्द क्यों इतना लोकप्रिय हो गया? विद्वानों का मत है कि 'अवहट्ट' शब्द संस्कृत 'अपभ्रष्ट' का तद्भव है। संस्कृत के एक-आध विद्वानों को छोड़कर भाषा विशेष के लिए किसी ने भी 'अपभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग

नही किया। विष्णुधर्मोत्तर पुराण में दो स्थानों पर इस शब्द का प्रयोग मिलता है।[1]

भरतमुनि ने एक स्थान पर नाट्यशास्त्र में 'विभ्रष्ट' शब्द का प्रयोग किया है।[2] यह प्रयोग अपभ्रष्ट के स्थान पर किया गया है, वह भी सामान्य अर्थ में न कि भाषा विशेष के अर्थ में। इसके अतिरिक्त प्रायः समस्त विद्वानों ने अपभ्रंश शब्द का ही प्रयोग अधिकतः किया है। प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों एवं वैयाकरणों ने इसके रूपान्तर 'अवहंस, अवब्भंश' आदि शब्दों का प्रयोग ही अधिकांश मात्रा में किया है।[3] प्राचीन अथवा पूर्ववर्ती अपभ्रंश के विद्वानों में स्वयम्भू ने रामायण में अवहत्थ शब्द का प्रयोग किया है जिसे डॉ. नामवर सिंह ने अपभ्रंश शब्द का विकसित रूप बतलाया है,[4] परन्तु अवहत्थ शब्द की व्युत्पत्ति अपभ्रष्ट से सिद्ध नहीं होती। हेमचन्द्र ने प्राकृत भाषा में संस्कृत 'ष्ट' के स्थान पर 'ट्ठ' का विधान किया है;[5] तदनुसार अपभ्रष्ट से 'अवहट्ठ' बन जाता है किन्तु अवहत्थ नहीं। साथ ही यह भी लक्षणीय है कि 'अवहत्थ' शब्द का प्रयोग 'पउमचरिउ' (रामायण) में अपहस्त के अर्थ में हुआ है, न कि अवहस्त के अर्थ में। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि अपभ्रंश के परवर्ती कवियों ने अपने पूर्ववर्ती कवियों द्वारा प्रयुक्त शब्दावली का प्रयोग क्यों नहीं किया तथा उसके स्थान पर अवहट्ठ शब्द उन्हें एकदम रुचिकर भी क्यों लगा ? मैं जहाँ तक समझता हूँ, भारतीय भाषाओं के नामकरण की पृष्ठभूमि में एक प्रवृत्ति सर्वत्र लक्षित होती है कि जिस भाषा का वे प्रयोग करते थे उसे भाषा कहते थे और जो जनसाधारण में प्रचलित बोली होती थी उसे हेय दृष्टि से देखते थे, किन्तु जब वह बोली कतिपय प्रतिभाओं का सम्बल प्राप्त कर ऊपर उठने का उपक्रम करती तो कट्टर वैयाकरणों को उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता था, पर वह भी कुछ हीन दृष्टि के साथ। अतः वे उसे 'देश्य' कहने लगते। जब वह देश्य भाषा समृद्धवती होने लगती तो उसकी परिनिष्ठित भाषा से भिन्न नाम देकर उसे शिष्ट भाषा का गौरवमय

---

1 अपभ्रंष्टं तृतीयञ्च तदनन्तं नराधिप। (वि० ध० पु० ३. ३)
लोकेषु यत् स्यादपभ्रष्ट-सञ्ज्ञं ज्ञेयं हि तद्देशविदोऽधिकारम्।
(वि० ध० पु० ३. ७)

2 समानशब्दम् विभ्रष्टं देशीगतमथापि च। (नाट्यशास्त्र ३।१०)

3 सक्कय पायउ पुण अवहंसउ। (कु० क० ५।१८), किं च अवब्भंसउ। (अपभ्रंश का० योग, पृ० १),
ता किं अवहंसं होहिइ। (अ० का० त्र० भूमिका, पृ० १७)

4 अवहत्थे वि० खल—यणु णिरवसेसु। पउमचरिउ १।१।४।

5 प्राकृत व्याकरण, पृष्ठ ६४, सूत्र ३.१८.।

पद प्रदान कर देते थे। यह प्रवृत्ति संस्कृत से लेकर आज तक भली प्रकार लक्षित की जा सकती है। कितने ही समय तक प्राकृतें देश्य भाषाएँ रहीं, तदुपरान्त अपभ्रंश को पर्याप्त समय तक देश भाषा कहा जाता रहा। स्वयम् आज की नागरी हिन्दी कितने दिनों तक 'भाखा' का भार वहन करती रही। कहने का तात्पर्य यह है कि देशी शब्दों की साहित्य में प्रधानता होते ही उसका नामकरण संस्कार प्रारम्भ हो जाता था। यही स्थिति 'अवहट्ठ' की भी हो सकती है। जब अपभ्रंश में देशी शब्दों की प्रधानता हुई, जैसा कि विद्यापति ने संकेत किया है, अपभ्रंश को अवहट्ठ कहना प्रारम्भ कर दिया होगा, पर भिन्न भाषा के रूप में नहीं।

यदि सूक्ष्मता से देखा जाए तो प्रतीत होगा कि पूर्वकालीन अपभ्रंश के कवियों ने अपनी भाषा को देश भाषा मानकर उसके लिए अवब्भंस तथा अवहँस शब्दों का प्रयोग किया है जो संस्कृत अपभ्रंश शब्द के विकसित रूप ही हैं, किन्तु उत्तरकालीन लेखकों ने यद्यपि अपभ्रंश के ही पर्याय के रूप में—अवहट्ट, अवहट्ठ, अवहट तथा अवहठ, शब्दों का प्रयोग किया है, किन्तु ये 'अपभ्रष्ट' शब्द के ही विकसित रूप हैं। अब विचारणीय केवल यही है कि इन्होंने पुरातन शब्द का परित्याग क्यों किया ? क्या वे विकास के इस चिह्न से अवगत थे ? यदि थे, तो फिर 'प्राकृत' के बाद इसका प्रयोग क्यों ? अवहंस के पश्चात् यदि अवहट्ठ का प्रयोग किया जाता तो ऐसा लगता कि सम्भवतः वे नवीन भाषा के सम्बन्ध में जानते होते। पर प्रयोग से ऐसा विदित नहीं होता। इस समस्या का समाधान अवश्यम्भावी है। अब तक अवहट्ठ भाषा की संज्ञा जिन ग्रन्थों की भाषा को दी गई है उनमें संनेहय रासय (सन्देश रासक), प्राकृतपैंगलम्, पुरातन प्रबन्ध संग्रह, उक्ति-व्यक्ति प्रकरणम्, वर्ण-रत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद तथा ज्ञानेश्वरी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इन ग्रन्थों का यदि भाषा की दृष्टि से अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि इनमें जहाँ कुछ सामान्य प्रवृत्तियाँ प्राप्त होती हैं वहाँ पर इन पर वहाँ की प्रान्तीय बोलियों का प्रभाव भी कम मात्रा में नहीं है। अतः इन सामान्य प्रवृत्तियों के आधार पर ही विद्वानों ने इन ग्रन्थों की भाषा का नामकरण संस्कार अवहट्ठ किया है। फिर भी इनकी भाषा पर पृथक्-पृथक् रूप से विचार करने की आवश्यकता है। सर्वप्रथम सन्देश रासक को लीजिये—

सन्देश रासक के रचयिता का नाम अब्दुल रहमान है। ये मुल्तान के निवासी थे। ग्रन्थ में एक विरहिणी नायिका के हृदय की मार्मिक अनुभूति की अभिव्यञ्जना की गई है। इसमें उस स्थिति में उत्पन्न होने वाले सभी हावों एवं भावों का बड़ा ही सुन्दर प्रस्फुटन हुआ है। नागरिक संस्कृति की तरह का वाक्चातुर्य न होकर ग्रामीण भावों की निश्छल अभिव्यक्ति दर्शनीय है।

इस ग्रन्थ का जहाँ काव्य की दृष्टि से महत्त्व है वहाँ भाषा की दृष्टि से भी यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। भाषा की दृष्टि से यह परवर्ती अपभ्रंश है और न. भा. आ. की मध्यदेशीय भाषाओं के प्रारम्भ की सूचक भी।

ध्वनितत्त्व—(१) दो स्वरों के मध्य में आने वाले 'म्' के स्थान पर 'व्' अथवा 'वँ' ध्वनि उपलब्ध होती है। यह प्रवृत्ति राजस्थानी भाषा में भी पाई जाती है; यथा—दमन>डवण, रमणीय>रवणिज्ज।

(२) जहाँ अपभ्रंश में निरनुनासिक ध्वनियों को सानुनासिक कर देने की प्रवृत्ति को अपभ्रंश मे विद्वानों ने चिह्नित किया है, वहाँ सन्देश रासक इसके परित्याग की प्रवृत्ति को सूचित करता है—

अधिकरण कारक में—'हिं' के स्थान पर 'हि'।

नपुसक लिङ्ग, कर्ता और कर्म में—अइं>अइ।

अन्य उदाहरण—

हउं>हउ, तुहुं>तुहु, मइं>मइ, किविं>किवि, काइं>काइ।

(३) 'इ' के स्थान पर 'य' के आदेश की प्रवृत्ति—

कविवर>कइवर>कयवर, वियोगी>विउइ>विउय, केतकी>केवइ> केवय।

(४) 'अ' के स्थान पर 'इ' कर देने की प्रवृत्ति—

गद्गद>गग्गर>गग्गिर, शशधर>ससहर>ससिहर।

(५) 'इ' के स्थान पर 'अ' कर दिया जाता है—

विरहिणी>विरहणी, धरित्री>धरत्ति, विविध>विवह।

(६) 'उ' के स्थान पर 'अ' पाया जाता है—

उत्तुङ्ग>उत्तंग, कुसुम>कुसम।

(७) 'उ' के स्थान पर 'व' भी मिलता है—

गोपुर>गोउर>गोवर।

(८) 'ए' के स्थान पर 'इ'—शय्या>सेज्जा>सिज्ज।

(९) 'औ' के स्थान पर 'उ'—यथा-मौक्तिक>मोत्तिअ>मुत्तिय।

(१०) समीपस्थ दो स्वरों की सन्धि कर देने की जो प्रवृत्ति नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में उपलब्ध होती है उसका प्रारम्भ सन्देश रासक में पर्याप्त मात्रा मे देखा जा सकता है—

स्वर्णकार>सुन्नआर>सुनार, अन्धकार>अन्धआर>अन्धार।

(११) 'स' को 'ह' का आदेश जो अधिकांश भारतीय आर्यभाषाओं मे पाया जाता है, विशेषकर राजस्थान की पश्चिमी शाखा, पंजाबी एवं सिन्धी में मिलता है, उसका प्रारम्भ भी सन्देश रासक में हो गया था—

सन्देश>संनेस>सन्नेह, दिवस>दियह, दश>दस>दह।

(१२) पदान्त दीर्घ स्वर को ह्रस्व कर देने की प्रवृत्ति—इस प्रवृत्ति की सूचना हेमचन्द्र ने भी अपभ्रंश के लिए दी है जहाँ ह्रस्व को दीर्घ और दीर्घ को ह्रस्व कर दिया जाता है; यथा—

ढोल्ला सामला धण चम्पावण्णी। णाइ सुवण्णरेह कसवट्टइ दिण्णी—उक्त उदाहरण में सामल, ढोल्ल ये दोनों दीर्घ कर दिये गये हैं तथा स्वर्णरेखा> सुवण्णरेह में पदान्त दीर्घ को ह्रस्व कर दिया गया है। पर यहाँ पर यह प्रवृत्ति विशेष सक्रिय है—

दोहा>दोहअ, गाथा>गाहा>गाहअ।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग स्वच्छन्दता से किए जाने लगे। यद्यपि इस प्रवृत्ति का प्रारम्भ संस्कृत से ही हो गया था पर अपभ्रंश तक केवल कतिपय कारक रूपों तक ही सीमित रहा। सन्देश रासक और प्राकृत पैङ्गलम् में प्राय: सभी कारकों के निर्विभक्तिक प्रयोग उपलब्ध हो जाते हैं; साथ ही विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग भी प्रचलन में था।

(२) परसर्गो की संख्या बढ़ने लगती है। कवि या लेखक सविभक्तिक प्रयोगों के स्थान पर परसर्ग-युक्त प्रातिपदिकों का प्रयोग अधिक रुचि के साथ करने लगे। सन्देश रासक में सत्थिहि, सम, सरिसु, हुँत्तउ, ठिउ, ट्ठियउ, रेसि, लग्गि, तणि, महि, आदि अनेक परसर्गों का प्रयोग किया गया है।

(३) सन्देश रासक तक आते-आते पूर्वकालिक क्रिया के प्रत्ययों के साथ 'कर' और 'करि' जैसे परसर्गों का प्रयोग भी देखने को मिलता है; यथा—दहेवि करि।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के साथ जब प्राकृतपैङ्गलम् की भापा प्रवृत्तियों की तुलना करते हैं तो थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ प्राय: ये सभी प्रवृत्तियाँ उपलब्ध हो जाती हैं; यथा—

(१) प्राकृतपैङ्गलम् में 'य' श्रुति का प्राय: अभाव ही पाया जाता है, इसका यह भी कारण हो सकता है कि लेखक ने प्राकृत शब्दों के प्रयोगों को विशेप महत्ता दी हो; जैसे—

सागर>साअर (१.१) (सन्देश रासक में 'सायर' प्रयुक्त हुआ है)। युगल>जुअल (१.८६) स. रा. जुअल।

(२) 'म्' के स्थान पर 'व्' 'वँ' का आदेश अत्यन्त कम मिलता है।

(३) सन्देश रासक की तुलना में प्राकृतपैङ्गलम् में द्वित्त्व का प्रयोग अधिकता से पाया जाता है जिसे शायद राजस्थान की डिंगल शैली में और पंजाबी ने अब तक अपना रखा है।

उदाहरण—दीपक>दीपक्क (१.१८१); चमक>जमक>जमक्का (१.१२०); नियम>णिअम>णिम>णिम्मं (१.१८९)।

रूप रचना में केर और केरि का प्रयोग विशेष रूप से उल्लेखनीय है तथा साथ ही भविष्यत्काल में 'ह' के साथ-साथ 'स्स' प्रत्यय का प्रयोग द्रष्टव्य है जिसे पश्चिमी राजस्थानी अब तक अपनाए हुए है—कइइ पीठि अम्हे जास्यूं आज (का० प्र० ४.१९८)

डॉ. नामवर सिंह ने उक्त दोनों ग्रन्थों को पश्चिमी प्रदेशों की भाषाओं का आरम्भिक रूप माना है। इसीलिए उन्होंने 'हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग' पुस्तक में परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश शीर्षक के अन्तर्गत इनका विवेचन किया है। किन्तु उक्त दोनों ग्रन्थ पश्चिम की बोलियों एवं भाषा के प्रारम्भिक रूप का प्रतिनिधित्व करने की क्षमता कहाँ तक रखते हैं, यह अभी भी अध्ययन एवं अनुसन्धान का विषय है। प्राकृतपैङ्गलम् मे कितने ही ऐसे प्रयोग हैं जो पूर्व की भाषाओं की याद दिलाते हैं।

उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, कीर्तिलता तथा वर्ण रत्नाकर की भाषाएँ न्यूनाधिक साम्य-वैषम्य के होते हुए भी पर्याप्त मात्रा में समान प्रवृत्तियो की द्योतक हैं। साथ ही अनेक स्थलों पर पूर्ववर्णित ग्रन्थों की भाषा से ये अपना अलगाव भी सिद्ध करते है, जैसा कि आगे चलकर इनके भाषावैज्ञानिक विवेचन से स्पष्ट होगा। 'उक्ति-व्यक्ति प्रकरण' ग्रन्थ की रचना दामोदर पण्डित ने काशीकन्नौज के नरेश गोविन्दचन्द्र के पुत्रों को लोक भाषा सिखाने हेतु की थी। डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी का इसका भाषावैज्ञानिक विवेचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। इनके आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि उक्त ग्रन्थ की भाषा पूर्वी हिन्दी के पुराने रूप का अच्छा प्रतिनिधित्व कर सकती है। 'कीर्तिलता' प्रसिद्ध मैथिल कवि विद्यापति की रचना है। इसकी भाषा को स्वयं कवि ने 'अवहट्ठ' कहा है। यद्यपि यह अब तक सिद्ध नही हो पाया है कि कवि का अवहट्ठ से क्या तात्पर्य था। ग्रन्थ का प्रणयन महाराज कीर्तिसिंह, जो तिरहुत के राजकुमार थे, की कीर्ति को प्रतिष्ठित करने हेतु किया गया है। मलिक असलान द्वारा उनके पिता की हत्या किये जाने पर दोनों भाई किस प्रकार जौनपुर के नवाव की सहायता से असलान को वन्दी वनाकर भी जीवनदान देते हुए पुनः अपने राज्य को हस्तगत करते हैं। इसमें मुस्लिम संस्कृति, जौनपुर का प्राकृतिक चित्रण एवं कीर्तिसिंह की वीरता का वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है। साथ ही पूर्वी प्रदेशों की वोलियों के वीज खोजने वाले अनुसंधित्सुओं के लिए इसकी भाषा अत्यन्त उपयोगी है। 'वर्ण रत्नाकर' की रचना श्री ज्योतिरीश्वर ठाकुर ने 'कवि समयों' का संग्रह करने हेतु की थी। ये मिथिला के नरेश हरिसिंह देव के आश्रित कवि थे। इनकी भाषा पुरानी मैथिली का उत्कृष्टतम नमूना है। साथ ही मगही, भोजपुरी एवं वंगला के भाषा रूपों को भी अपने में संजोए हुए है।

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थों की न्यूनाधिक अन्तर के साथ भाषा की निम्नलिखित विशेषताएँ अंकित की जा सकती हैं। **उक्ति-व्यक्ति** प्रकरण की भाषा जहाँ अवधी भाषा के पुराने रूप का नमूना कही जा सकती है वहाँ शेष दोनों ग्रन्थ अधिक पूर्व तक भाषाओं के तत्त्वों को भी अपने में लिए हुए हैं। सम्भवतः इसीलिए श्री नामवर सिंह ने इसे मध्यदेशीय भाषाओं का पूर्वरूप कहा है।

ध्वनितत्त्व—(१) अउ और ओउ के स्थान पर 'औ' तथा अइ और अइ के स्थान पर 'ऐ' मिलते हैं—

करोतु>करउ>करो (कीर्तिलता १.७७); रक्षति>रक्खइ>राखै (अङ्ग न राखै राउ—कीर्तिलता ७६); भवति>भइ>भै (३.८६)।

किन्तु उक्ति-व्यक्ति प्रकरण में इनके स्थान पर 'अ' भी मिलता है—

करोति>करइ>कर, पठिति>पढ़इ>पढ़[6] पर यह प्रयोग कीर्तिलता में भी उपलब्ध होते हैं—कथयति>कहइ>कह (२.११७); इच्छति>चाहइ> चाह (२/१४७)।

(२) सरलीकरण हेतु द्वित्व व्यञ्जनों को हटाकर क्षतिपूरक दीर्घीकरण की प्रवृत्ति—भक्त>भत्त>भात, पक्व>पक्क>पाक।

(३) स्वर भक्ति के उदाहरण भी देखने को मिलते हैं—

कृश>किरिस (३.१०८, की. ल.); वर्ष>वरिस (उ. व्य. प्र.)[7]; श्री>सिरि (की. ल. ३.११८); आदर्श>आरिस (उ. व्य. प्र.)[8]।

(४) अकारण सानुनासिकता की ओर रुझान—

करिअउ>करिअउँ (की. ल. १.४१); गोचरिअउ>गोचरिअउँ (की. ल. ३.८५४)।

(५) 'क्ष' का रूपान्तर 'च्ख' या केवल 'ष' मिलता है—

प्रेक्षन्ते>पेप्खन्ते (की. ल. २.५३); यक्षिणी>जाषणी (की. ल. २.१८६); लक्ष>लष (की. ल. ३.७३)।

रूपतत्त्व—(१) निर्विभक्तिक प्रयोग पश्चिमी परवर्ती अपभ्रंश की अपेक्षा इन ग्रन्थों में अधिक मात्रा एवं अधिक स्वच्छन्दता से हुए हैं—

जुआर—सञो (व. र. ३८)।

जुज्झ—देक्खह कारण (की. ल. १०६)।

(२) सम्बन्ध कारक में 'कर' और 'क' प्रयोग लक्षणीय हैं—

तान्हि करी कुटिल कटा छटा (की. ल.); राज कर पुरुपु (उ. व्य. प्र.

---

[6] हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग-पृष्ठ ७९ से उद्धृत।

[7] वही, पृष्ठ ८०।

[8] वही, पृष्ठ ८०।

१६.११); मध्याह्ने करी वेला (की. ल.); पड़वसी कर घर (उ. व्य. प्र. २२.३)।

(३) भूतकाल के लिए 'अल' प्रत्यय का प्रयोग इन ग्रन्थों की प्रमुख विशेषता है जो आज भी मगही, मैथिली, भोजपुरी तथा बंगला में प्रयुक्त होते हैं—

भमर पुष्पोद्देशे चलल (व. र. २६ ख)।
गए नेसर मारल (की. ल. २.७)।
नायके पएर पखालल (व. र.)।

(४) सहायक क्रियाओं के प्रयोग का बाहुल्य—
होइते अछ (व. र. १३ क); करइते अछ (व. र. ३७ ख)।
तहाँ अछए मन्ति (की. ल. ३.१३१)।

(५) भविष्यत्काल में 'स्स' और 'ह्' की अपेक्षा 'ब' का प्रयोग अधिकता से देखने को मिलता है।

पुराण देखब—धर्म करब (उ. व्य. प्र. १२.१६-१७) कीर्तिलता में 'ब' वाले रूप की अपेक्षा 'स्स, ह्' वाले रूपों की अधिकता है। डॉ. शिवप्रसाद सिंह को केवल एक ही 'व्वउँ' अन्त वाला उदाहरण मिला है—'झंख करिव्वउँ काह' (३.५१)।

(७) पूर्वकालिक क्रियाओं में अन्य प्रत्ययों के साथ-साथ 'इ' प्रत्यय भी देखने को मिलता है।

इसके अतिरिक्त चर्यापदों में बंगला भाषा के प्राचीन रूप मिलते है। चर्यापदों को अवहट्ठ की संज्ञा देना कहाँ तक उचित है—यह विद्वानों के लिए विचारणीय विषय है। ज्ञानेश्वरी पुरानी मराठी का उत्कृष्टतम नमूना है जिसमें पश्चिमी परवर्ती अपभ्रंश के तत्त्व भी बहुतायत से पाये जाते है।

पृथक्-पृथक् पुस्तकों के भाषावैज्ञानिक अध्ययन के पश्चात् समग्र रूप में अवहट्ठ की निम्नलिखित विशेषताएँ हो सकती है—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) द्वित्व की प्रवृत्ति का परित्याग कर उक्त व्यञ्जन की क्षतिपूर्ति करने हेतु पूर्व स्वर को दीर्घ कर दिया जाता है—

ठक्कुर>ठाकुर (की. ल. २.१०); कार्य>कज्ज>काज (की. ल. ३.१३४); धर्म>धम्म>धाम (की. ल. २.१०); कर्म>कम्म>काम; दृश्यम्>दिस्सं>दीसइ (स. रा. ६८), मित्र>मित्त>मीत, निश्वास> निस्सास>नीसास (स. रा. ८३); उच्छ्वास>उस्सास>ऊसास (स. रा. ६७)।

अवहट्ठ में उक्त नियम सर्वत्र लागू नहीं होता; यथा—सर्व>सव्व>सब; सत्य>सच्च>सच।

(२) स्वरों के साथ-साथ आने पर उनमें सन्धि कर दी जाती है—

सहकार>सहआर>सहार; स्वर्णकार>सुण्णआर>सुनार; अन्धकार> अन्धआर>अंधार (की. ल. ४.२०); मयूर>मउर>मोर-मोर (स. रा. २१२); क्रियते>किज्जइ>कीजै; कारयते>करिज्जइ>करिजै।

(३) अकारण अनुनासिकता ले आने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है—

उत्साह>उँच्छाह (की. ल. १.२६); द्यूत>जुँआँ (की. ल. २.१४६); दुर्जन>दूँजणें (उक्तिव्य. ४६.६); गात्र>गँत्ते (प्रा. पैङ्गलम् ४३६.३), कास्य>काँस (की. ल. २.१०१), ब्राह्मण>बंभण (की. ल. २.१२१)।

(४) 'य' तथा 'व' श्रुति का आदेश न्यूनाधिक रूप में प्रायः सभी अवहट्ट के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। प्राकृतपैङ्गलम् में तथा सन्देश रासक में यह प्रवृत्ति अपेक्षाकृत कम मात्रा में मिलती है।

(५) 'म' के स्थान पर 'वँ' का प्रयोग अवहट्ट में मिलता है जिनके अवशेष ब्रज और राजस्थानी में अब भी मिल जाते हैं।

(६) 'ण' ध्वनि अभी तक विशेषकर कीर्तिलता में, आदि, मध्य और अन्त तीनों स्थानों पर मिलती है।

(७) अवहट्ट के सभी ग्रन्थों में 'श, ष' के स्थान पर 'स' मिलता है तथा प्रत्ययों में प्राप्त अपभ्रंश की 'ह' ध्वनि का लोप भी यहाँ पर प्रारम्भ हो जाता है जो आगे चलकर ब्रज और अवधी के कुछ रूपों को छोड़कर प्रायः समाप्त हो गया।

रूपात्मक विशेषताएँ—(१) प्रायः सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए। कर्ता और कर्म में यह प्रवृत्ति अधिक मात्रा में पाई जाती है।

(२) अपभ्रंश के विभक्ति प्रत्ययों का प्रयोग अभी प्रचलित था।

(३) अपभ्रंश में बताए गए परसर्गों के साथ-साथ नवीन परसर्गों का प्रयोग स्वच्छन्दता के साथ किया जाने लगा था। नवीन परसर्गों में कुछ तो अपभ्रंश के परसर्गों के रूपान्तर मात्र हैं और कुछ नवीन विकसित रूप; यथा—रा रे री, चा चे ची, ना ने नी, दा दे दी।

(४) संयुक्त पूर्वकालिक प्रत्ययों का प्रारम्भ—अपभ्रंश में 'इ, इवि' आदि प्रत्ययों का जो विधान है उसके स्थान पर 'कर या करि' आदि शब्दों का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था जो आजकल खड़ी बोली हिन्दी की प्रमुख विशेषता है।

(५) संयुक्त कालों का प्रारम्भ भी अवहट्ट भाषा की विशेषता है। 'भू और अस्' धातुओं के घिसे हुए रूपों का प्रयोग मूल क्रिया शब्द के साथ किया जाने लगा। बाद में 'नभाआ' की यह प्रमुख विशेषता बन गया।

(६) भूतकाल में 'ल', भविष्यत् में गा गे गी (बाद में विकसित) के स्थान पर 'स और ह' परक तथा 'व' परक प्रत्ययों का प्रयोग।

कोष—(१) मुसलमानों के आगमन के कारण फ़ारसी शब्दों का प्रवेश।

(२) हिन्दू पुनर्जागरण के कारण तत्सम शब्दावली का बाहुल्य।

अवहट्ठ भाषा वस्तुतः संक्रान्ति काल की साहित्यिक भाषा थी। जिस समय यह परिनिष्ठित रूप धारण कर रही थी उसी समय से ही आधुनिक भारतीय आर्यभाषाएँ बड़ी तेजी से अपना साज-सँवार कर रही थीं और चौदहवीं सदी के प्रारम्भ होते-होते सभी नभाआ की भाषाओं ने अपना-अपना स्वरूप निर्धारित कर लिया था। इस प्रकार इनकी ध्वनिगत एवं रूपगत विशेषताओं के कारण 'अवहट्ठ' से भिन्न भाषाओं के रूप में इन्हें स्वीकृति प्रदान कर दी गई। कुछेक क्षेत्रों में ये परस्पर समान होते हुए कुछ ऐसी भिन्नताएँ संजोए हुए है कि ये भिन्न-भिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करने की पूर्ण क्षमता रखती है।

अवहट्ठ और पुरानी हिन्दी

अवहट्ठ का स्वरूप विवेचन करते समय यह स्पष्ट कर दिया गया था कि उस समय के लोगों का इस शब्द का प्रयोग करने का अभिप्राय अपभ्रंश से भिन्न किसी भाषा विशेष के लिए नही था। अतः जैसे ही परवर्ती अपभ्रंश के ग्रन्थों की उपलब्धि हुई, विद्वानों ने उन ग्रन्थों की भाषा को भिन्न-भिन्न नाम देने प्रारम्भ किए। सर्वप्रथम डॉ. बाबूराम सक्सेना ने कीर्तिलता की भूमिका में उसकी भाषा को मिथिलापभ्रंश की संज्ञा दी है। बाद में डॉ. उमेश मिश्र एवं डॉ. जयकान्त मिश्र ने भी इसे मिथिलापभ्रंश की ही संज्ञा दी और स्व० पं० शिवनन्दन ठाकुर ने तो अनेक तथ्यों के आधार पर इसे मिथिलापभ्रंश सिद्ध करने का अत्यधिक प्रयत्न किया। इनका कहना है कि लोचन कवि ने राज-तरंगिणी में विद्यापति की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहा है। यथा—

"देश्यामपि स्वदेशीयत्वात् प्रथमं मिथिलापभ्रशभाषायां श्री विद्यापति निबद्धास्ता मैथिलीगीत गतयः प्रदर्शन्ते।"

किन्तु उक्त पंक्तियों से कीर्तिलता की भाषा का आभास न होकर उसकी पदावली का संकेत मिलता है, जिसे आजकल के विद्वान् भी स्वीकार करते है कि पदावली और कीर्तिलता की भाषाएँ भिन्न है। इसके अतिरिक्त अन्य भाषावैज्ञानिक तथ्य भी, जो ठाकुर साहब ने प्रस्तुत किए, पक्षपात के ही सूचक हैं। कीर्तिलता की भाषा में जितने तत्त्व पूर्वी प्रदेशों की भाषाओं के उपलब्ध होते है, उनसे कहीं अधिक पश्चिमी प्रदेशों की भाषाओं के प्रारम्भिक लक्षण भी उसमें प्राप्त होते हैं। अतः कीर्तिलता की भाषा को मिथिलापभ्रंश कहना उचित नहीं और यही स्थिति वर्णरत्नाकर की भाषा की भी है।

डॉ. चाटुर्ज्या ने अवहट्ठ को पिङ्गल भी कहा है। आपने लिखा है "ख़ासकर

राजस्थान में अवहट्ट पिङ्गल नाम से प्रख्यात था और स्थानीय चारण समान रूप से इस पिङ्गल और अपनी देशी भाषा डिङ्गल में रचनाएँ करते थे।"[9] डॉक्टर साहब के मत का आधार सम्भवतः प्राकृतपैङ्गलम् के टीकाकारों द्वारा अवहट्ट एवं पिङ्गल का पर्याय रूप में प्रयोग करना है। यदि प्राकृतपैङ्गलम् की भाषा का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो स्पष्ट हो जाता है कि उसकी भाषा में अनेक स्थानों पर पूर्वी प्रदेशों की भाषागत विशेषताओं का भी प्रयोग किया गया है। साथ ही यदि 'पिङ्गल' से तात्पर्य शुद्ध पुरानी व्रजभाषा है तो कुछ सोचा जा सकता है किन्तु यदि राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा है तो अवहट्ट कदापि पिङ्गल का पर्यायवाची नहीं हो सकती।

अवहट्ट से केवल पुरानी राजस्थानी या गुजराती अर्थ लेना भी उचित नहीं, जिसे श्री टैसिटरी लेकर चलते हैं तथा ढोलामारू रा दूहा के सम्पादकों ने भी ऐसा माना है। किन्तु यह मत भी उसी प्रकार दोषग्रस्त है जिस प्रकार श्री राहुल सांकृत्यायन का इसे मगही तक सीमित कर देना या अन्य विद्वानों द्वारा अपने मतलब की सामग्री का चयन कर उसे किसी प्रान्त विशेष तक सीमित कर देना।

इस विषय पर सबसे अधिक विचारणीय मत श्री चन्द्रधर शर्मा गुलेरी का है जिसमें इन्होंने अवहट्ट को पुरानी हिन्दी कहा है—'पुरानी अपभ्रंश संस्कृत और प्राकृत से मिलती है, पिछली पुरानी हिन्दी से।'[10] श्री गुलेरीजी का पुरानी हिन्दी से क्या तात्पर्य था कुछ स्पष्ट नहीं है। यदि वे हिन्दी को श्री सांकृत्यायन की तरह भौगोलिक सीमाओं में बाँधकर चलते हैं; यथा—"सूबा हिन्दुस्तान : हिमालय पहाड़ तथा पंजाबी, सिन्धी, गुजराती, मराठी, तैलगु, ओड़िया, बंगला भाषाओं से घिरे प्रदेश की आठवीं शताब्दी की बाद की भाषाओं को हिन्दी कहते हैं। इसके पुराने रूप को प्राचीन मगही, मैथिली, व्रजभाषा आदि कहते हैं और आजकल के रूप को सार्वदेशिक और स्थानीय दो भागों में विभक्त कर आधुनिक सार्वदेशिक रूप को खड़ी बोली और मगही, मैथिली, भोजपुरी, बनारसी, अवधी आदि को आधुनिक स्थानीय भाषाएँ कहते है।"[11] तो निश्चय ही अवहट्ट को पुरानी हिन्दी नहीं कहा जा सकता। कारण स्पष्ट है कि परवर्ती अपभ्रंश के जो ग्रन्थ अब तक मिले हैं, वे न्यूनाधिक रूप में प्रायः समस्त प्रान्तीय भाषाओं के तत्वों से संवलित है। अतः उन्हें किसी

---

[9] बंगला भाषा का उद्भव और विकास, पृष्ठ ११४; कीर्तिलता और अवहट्ट, पृष्ठ १२ से उद्धृत।

[10] पुरानी हिन्दी—चन्द्रधर शर्मा गुलेरी।

[11] प्राकृतपैङ्गलम्—डॉ० भोलाशंकर व्यास।

प्रान्त विशेष तक सीमित नहीं किया जा सकता। तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि पश्चिमी अपभ्रंश एक समय समग्र भारत की साहित्यिक भाषा थी जो अपनी समीपी सभी विभाषाओं के तत्वों को भी ग्रहण किए हुए थी तथा इन तत्वों को ग्रहण करने में परवर्ती अपभ्रंश ने और भी अधिक स्वच्छन्दता का परिचय दिया। अतः ऐसी स्थिति में परवर्ती अपभ्रंश में जो ग्रन्थ अब तक उपलब्ध हुए हैं, उनकी भाषाओं को भिन्न-भिन्न प्रान्तीय नामों से न पुकारा जाकर यदि एक ही नाम से सम्बोधित किया जाए तो वह अधिक भाषावैज्ञानिक और अधिक राष्ट्रीय होगा और वह नाम अवहट्ठ से अधिक उपयुक्त अन्य कोई नहीं हो सकता।

मेरे द्वारा उक्त ग्रन्थों की ध्वनियों एवं पद रचना का किया गया विश्लेषण उन विशेषताओं के आधिक्य पर ही आधारित है। साथ ही सन्देश रासक, उक्ति-व्यक्ति प्रकरण, प्राकृतपैङ्गलम्, वर्णरत्नाकर, कीर्तिलता, चर्यापद एवं ज्ञानेश्वरी की अनेक निजी विशेषताएँ परस्पर एक-दूसरे ग्रन्थ में सरलता से खोजी जा सकती है। अतः विशेषताओं के बाहुल्य के आधार पर किसी ग्रन्थ विशेष को किसी क्षेत्र विशेष के साथ सम्बद्ध करने का प्रयास प्रशंसनीय नहीं कहा जा सकता। अध्ययन की सुविधा के लिए यदि यह वर्गीकरण किया जाता है तो कोई हानि नहीं, किन्तु उसे वहाँ के लिए ही सीमित कर देना किसी भी मात्रा में उचित नहीं है। यदि भाषावैज्ञानिक इन ग्रन्थों के आधार पर एक अच्छा सा सामान्य व्याकरण तैयार कर सकें तो वे अपनी भाषाओं की ही नहीं अपितु राष्ट्र की महत्त्वपूर्ण सेवा कर सकेंगे, अपेक्षाकृत इसके कि वे इसे प्रान्त विशेष की भाषा सिद्ध करने में अपनी प्रतिभा एवं शक्ति का अपव्यय करें।

अष्टम अध्याय

नव्य भारतीय आर्यभाषाएँ

क्रान्तिकारी परिवर्तन—अनेक बोलियों, विभाषाओं एवं भाषाओं का उद्भव—अवहट्ठ का अनेक बोलियों में विकास—सिन्धी—लहन्दा—पंजाबी—मराठी—गुजराती—राजस्थानी—बिहारी-बंगला—असमी—उड़िया—पश्चिमी हिन्दी—पूर्वी हिन्दी—नेपाली—पहाड़ी—सिंहली।

नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के प्रकाश में आने तक भारत की भौगोलिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन आ चुके थे। प्रथम, इतने बड़े भूभाग में केवल एक भाषा ही साहित्यिक अभिव्यक्ति का साधन बनी रहे, यह अब कुछ दुष्कर सा कार्य हो गया था। द्वितीय, जैसा कि पिछले पृष्ठों में हम बता चुके हैं बोलियों की दृष्टि से इस भारतीय भूखण्ड में पर्याप्त विकास दृष्टिगत होता है। प्राकृत काल से ही वैयाकरण और काव्य-शास्त्रवेत्ता अनेकानेक बोलियों का संकेत देते आ रहे थे। किन्तु ये बोलियाँ पूर्ण विकास प्राप्त करने में सफलीभूत नहीं हो पाईं थीं। या तो इनमें साहित्य का सृजन ही नहीं हुआ और यदि हुआ भी तो इतना अल्प कि उसे भाषा की संज्ञा देना उपयुक्त नहीं समझा गया। प्राकृत काल में अनेकानेक बोलियों के प्रकाश में आ जाने पर भी भाषा के आसन को केवल चार ने ही सुशोभित किया। उनमें से भी आज के भाषाविज्ञानवेत्ता सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि सही अर्थों में तो उस समय दो ही भाषाएँ थीं जिन्हें भाषा के नाम से व्यवहृत किया जा सकता है और साहित्यकारों ने विपुल साहित्य की सृष्टि कर उन की जड़ों को स्थायित्त्व प्रदान कर दिया था। ये लोग शौरसेनी और महाराष्ट्री को अब दो भिन्न भाषाएँ स्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं। इनके अनुसार महाराष्ट्री शौरसेनी का ही विकसित रूप है। इनमें से एक रूप का कविता के लिए और दूसरे रूप का गद्य के लिए प्रयोग किया जाता था। मागधी कुछ दिनों के लिए भावाभिव्यक्ति का साधन तो बनी किन्तु किन्हीं कारणों से यह अपना स्थायी अस्तित्व नहीं बना पाई। हाँ! अर्ध-मागधी ने जैन एवं बौद्ध साधुओं के अनथक परिश्रम के कारण आश्चर्यजनक उन्नति की। सत्य तो यह है कि उपर्युक्त भाषाओं के समक्ष मागधी का साहित्य नगण्य है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि इन भाषाओं अथवा तत्समय प्रचलित बोलियों का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। उस समय भी अनेक बोलियाँ एवं भाषाएँ जनसाधारण के दैनिक कार्य-कलापों एवं व्यवहारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनी रही।

अपभ्रंश युग तक आते-आते पुनः साहित्यिक क्षेत्र में अपभ्रंश ने अपना एक-छत्र साम्राज्य स्थापित कर लिया और समस्त भूखण्ड की यही एकमात्र विद्वत्तीय एवं साहित्यिक भाषा बनी जिसका उद्गम मध्य देश की शौरसेनी प्राकृत को माना जाता है। पर इस समय के ऐसे संकेत उपलब्ध अवश्य होते हैं कि बोलियाँ उत्थानोन्मुख थीं और उनकी धारा प्रबलतम होती जा रही थी।

विद्वानों में अपनी बोलियों के प्रति मोह जागृत होता जा रहा था। परिणाम स्वरूप चौदहवीं एवं पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य अनेक नव्य भारतीय आर्य-भाषाएँ प्रकाश में आ गईं जिनमें अनेक साहित्यकार उन्हें विकासमान बनाने में दत्तचित दिखाई दिए। विद्वान् अनवरत प्रयत्न एवं अनुसंधानों के पश्चात् एक सर्वसम्मत निर्णय पर पहुँचे कि इस काल में निम्नलिखित बोलियाँ भाषाओं का रूप धारण कर चुकी थीं और उनमें तीव्र गति से साहित्य का सृजन भी हो रहा था। वे हैं—पश्चिमी-हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी, पहाड़ी भाषाएँ, लहन्दा, सिन्धी, पूर्वी-हिन्दी, मराठी, बंगला, असमी, उड़िया, बिहारी, आदि।

नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में पर्याप्त साम्य-वैषम्य है। अतः इन्हीं आधारों पर विद्वानों ने इन भाषाओं को वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया। सर्वप्रथम जार्ज ग्रियर्सन ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का वर्गीकरण बहिरंग और अन्तरंग सिद्धान्त के आधार पर किया। जार्ज ग्रियर्सन तथा अन्य पाश्चात्य इतिहासकारों का मन्तव्य है कि भारत में आर्यो का प्रवेश दो बार दो भिन्न-भिन्न दलों में हुआ। अतः पहले आया हुआ दल जब सप्तसिन्धु प्रदेश से लेकर मगध तक फैल चुका था, तब इस जाति के दूसरे दल ने प्रवेश किया और इन नवागत आर्यो ने पूर्वागत आर्यो को उनके प्रदेश से बहिष्कृत कर दिया और स्वयं मध्य देश पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। ये नवागत आर्य भी अपने साथ एक भाषा लेकर आये थे, वह यद्यपि पूर्वागत आर्यो की भाषा से भिन्न तो नहीं थी पर कुछ विकास के चिह्नों से संवलित होने के कारण अपना पृथक्त्व भी रखती थी। अतः नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में से कुछ का सम्बन्ध पूर्वागत आर्यो की भाषा से है जो मध्य देश के चारों ओर फैली हुई हैं और कुछ का सम्बन्ध नवागत आर्यो की भाषा से है जो मध्य देश और उसके आस-पास के प्रदेशों में फैली हुई हैं। अपने मत की पुष्टि के हेतु ग्रियर्सन महोदय ने कुछ भाषावैज्ञानिक तर्क भी प्रस्तुत किये है—

(१) नव्य भारतीय आर्यभाषाओं को मुख्यतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) अन्तरंग, (२) बहिरंग। एक विभाग वह भी है जो इन दोनों की विशेषताओं से न्यूनाधिक रूप में प्रभावित है; इसे 'बीच का समुदाय' की संज्ञा दी गई है।

विभाजन के आधारभूत तत्त्व—(१) बहिरंग शाखा की उत्तर-पश्चिमी तथा पूर्वी शाखा की बोलियों में अन्तिम स्वर 'इ, उ' ए, वर्तमान हैं, किन्तु अन्तरंग की पश्चिमी-हिन्दी उपशाखा में ये स्वर लुप्त हो गए हैं; यथा—

संस्कृत	का.	सिन्धी	बिहारी	हिन्दी
अक्षि	अछि	अखि	आँखि	आँख

(२) बहिरंग की शाखाओं, विशेषकर बंगला, में 'इ को ए' तथा 'उ को ओ' हो जाता है तथा बहिरंग की पूर्वी उपशाखा में 'उ' के स्थान पर 'इ' मिलता है।

(३) बहिरंग भाषाओं में 'ऐ तथा औ' के स्थान पर 'ए और ओ' मिलते हैं।

(४) बहिरंग भाषाओं में तथा अन्तरंग भाषाओं में 'र, ल' तथा 'ड़, ड' की उच्चारण भिन्नता उनके पृथक्त्व का सूचक है।

(५) पूर्व तथा पश्चिम की भाषाओं में 'द् तथा ड्' परस्पर परिवर्तित हुए हैं, किन्तु मध्यदेशीय भाषाओं में ऐसा परिवर्तन नहीं देखा जाता है।

(६) बहिरंग शाखा की भाषाओं में 'म्व्' 'म्' में परिवर्तित होता है जबकि अन्तरंग शाखा की भाषाओं में यह 'व्' हो जाता है।

(७) बहिरंग शाखा की भाषाओं में स्वर मध्यस्थ 'स' के स्थान पर 'ह' का आदेश हो जाता है।

(८) महाप्राण वर्णों के अल्पप्राण वर्णों में परिवर्तित हो जाने के आधार पर भी अन्तरंग और बहिरंग विभाजन किया जा सकता है। बहिरंग शाखा में इस प्रकार का परिवर्तन उपलब्ध होता है जबकि पश्चिमी-हिन्दी में यह प्राप्त नहीं होता।

रूपतत्त्व—(१) स्त्री प्रत्यय के रूप में 'ई' बहिरंग शाखा की पश्चिमी एवं पूर्वी दोनों भाषाओं में मिलती है।

(२) बहिरंग शाखा की भाषाएँ पुनः श्लिष्टावस्था में प्रविष्ट हो रही हैं जबकि अन्तरंग शाखा की भाषाएँ विश्लेषावस्था में हैं।

(३) बहिरंग शाखा की भाषाओं में योरोपीय से आगत विशेषणीय प्रत्यय 'ल' वर्तमान है; किन्तु मध्य देश की भाषाओं तथा बोलियों में इसका अभाव है।

(४) बहिरंग शाखा की भाषाओं की भूतकालिक क्रियाओं के साधारण रूपों से ही उसका वचन और पुरुष मालूम हो जाता है, जबकि अन्तरंग शाखा की भाषाओं में क्रिया का यह रूप सर्वत्र समान रहता है—

हिन्दी—मैं गया	तू गया	वह गया
मराठी—गेलो	गेला	

उपर्युक्त तथ्यों को दृष्टिगत रखते हुए श्री ग्रियर्सन ने आधुनिक भारतीय आर्यभाषाओं का बहिरंग, अन्तरंग तथा मध्यदेशीय विभागों में जो विभाजन किया है वह निम्न प्रकार से है—

बहिरंग शाखा—

(क) पश्चिमोत्तरी समुदाय

(१) सिन्धी

(२) लहन्दा

(ख) दक्षिणी समुदाय
(१) मराठी
(ग) पूर्वी समुदाय
(१) उड़िया
(२) विहारी
(३) बंगला
(४) असमिया

मध्यदेशीय शाखा—
(क) वीच का समुदाय
(१) पूर्वी हिन्दी

अन्तरंग शाखा—
(क) केन्द्रीय अथवा भीतरी समुदाय
(१) पश्चिमी हिन्दी
(२) पंजावी
(३) गुजराती
(४) भीली
(५) खानदेशी
(६) राजस्थानी
(ख) पहाड़ी समुदाय
(१) पूर्वी पहाड़ी अथवा नेपाली
(२) मध्य या केन्द्रीय पहाड़ी
(३) पश्चिमी पहाड़ी

उपर्युक्त रूप में किया गया यह वर्गीकरण विशुद्ध भाषावैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित न होने के कारण विद्वानों द्वारा इसका विरोध प्रारम्भ हुआ। डॉ. सुनीति कुमार चाटुर्ज्या ने श्री ग्रियर्सन द्वारा दिए गए कारणों को आधार-हीन, गम्भीर अध्ययन-शून्य तथा सूक्ष्म विश्लेषण की प्रणाली से रहित बताया है और इनके एक-एक कारण को लेकर उनकी अशुद्धताओं एवं दुर्बलताओं को विद्वत्समाज के समक्ष प्रस्तुत किया है, जिसे वाद में स्वयं डॉ. ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त डॉ. चाटुर्ज्या का एक यह भी तर्क है कि सुदूर पश्चिम की भाषा को सुदूर पूर्व की भाषा के साथ एक समुदाय में रखना किसी भी प्रकार से उचित नहीं है। अतः डॉ. चाटुर्ज्या ने नव्य भारतीय आर्यभाषाओं का अपने दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया, जिसे विद्वानों ने वड़े आदर से स्वीकार किया और आजतक यही वर्गीकरण एक वैज्ञानिक वर्गीकरण के रूप में स्वीकृत है।

(क) उदीच्य (उत्तरी) भाषाएँ

(१) सिन्धी

(२) लहन्दा

(३) पंजाबी

(ख) प्रतीच्य (पश्चिमी) भाषाएँ

(१) गुजराती

(२) राजस्थानी

(ग) मध्यदेशीय भाषा

(१) पश्चिमी हिन्दी

(घ) प्राच्य भाषाएँ (पूर्वी)

(१) पूर्वी हिन्दी

(२) बिहारी

(३) उड़िया

(४) बंगला

(५) असमिया

(ङ) दाक्षिणात्य (दक्षिणी) भाषाएँ

(१) मराठी

नोट—कश्मीरी तथा पहाड़ी भाषाओं की उत्पत्ति दरद भाषाओं से मानी जाती है।

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं की सामान्य प्रवृत्तियाँ—

ध्वन्यात्मक विशेषताएँ—(१) नव्य भारतीय आर्य भाषाओं में प्रायः वे सभी ध्वनियाँ मिलती हैं जो अपभ्रंश में प्रचलित थीं। पश्चिम में 'ए' ध्वनि का उच्चारण 'ऐ' वत् होता है तो मराठी में इसका शुद्ध उच्चारण मिलता है। 'अ' के उच्चारण में भी पूर्व और पश्चिम की भाषाओं मे अन्तर दृष्टिगत होता है। यथा—बगला, असमिया तथा उड़िया में यह वृत्तोष्ठ निम्न-मध्य पश्च स्वर है, परन्तु मराठी में विस्तृतोष्ठ उच्च-मध्य पश्च स्वर है। इसके अतिरिक्त आंग्ल भाषा के 'O' के सही उच्चारण हेतु 'ऑ' ध्वनि का नवीन प्रवेश हुआ। जहाँ तक व्यञ्जन ध्वनियों का सम्बन्ध है, प्राचीन ध्वनियों के साथ-साथ 'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' जैसी नवीन ध्वनियाँ विदेशी शब्दों के उच्चारण हेतु आविष्कृत की गई।

(२) डॉ. चाटुर्ज्या के मतानुसार भारतीय परिवार की भाषाओं को महाप्राण ध्वनियों के अघोषीकरण एवं सघोषीकरण के आधार पर तथा 'ह्' के शुद्ध सघोष उच्चारण एवं अघोषवत् उच्चारण और 'ह्' लोप के आधार पर भी वर्गीकृत किया जा सकता है।

(३) एक या दो भाषाओं को छोड़कर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में अपभ्रंश की द्वित्व शैली का सरलीकरण पाया जाता है तथा द्वित्व को हटाकर उसके पूर्ववर्ती स्वर को क्षतिपूरक के रूप में दीर्घ कर दिया जाता है—

कर्म	कम्म	काम,	कार्य	कज्ज	काज
अद्य	अज्ज	आज	घर्म	घम्म	घाम
धर्म	धम्म	धाम	चर्म	चम्म	चाम

इसके अपवाद भी देखने को मिलते हैं; यथा—सत्य सच्च का साच होना चाहिये था किन्तु 'सच' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। ग्रामीण लोग अब भी 'साँच' शब्द का ही प्रयोग करते देखे जाते हैं। इसी प्रकार 'पक्व' के तीन रूप मिलते है, पक्का, पाक, पका, पर तीनों ही भिन्नार्थक एवं भिन्न प्रदेशीय हैं।

(४) संस्कृत के विसर्गों का 'ओ' जो पालि से लेकर अपभ्रंश तक चलता रहा, वह नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में तीन चार रूपों में मिलता है—राजस्थानी—'ओ', ब्रज—औ, खड़ी बोली तथा पंजाबी—'आ' एवं भोजपुरी, बंगला आदि 'अ', यथा घोटकः>घोडओ>घोडो (राज.) घोड़ौ (ब्रज) घोड़-घोर (अवधी, भोजपुरी>मैथिली)।

(५) स्थान-विपर्यय के भी उदाहरण नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में देखने को मिलते हैं। कार्य का केर इसका अच्छा उदाहरण है। विदेशी भाषा के शब्दों में यह नियम अधिक सक्रिय है; सिग्नल>सिगल, हॉस्पिटल> अस्पताल।

(६) स्वरभक्ति का प्रारम्भ हमें उक्ति-व्यक्ति प्रकरण एवं कीर्तिलता की भाषा अवहट्ठ में मिलता है। इसका विकास नभाआ में हुआ। पंजाबी भाषा तो इसके लिए प्रसिद्ध ही है। भक्त>भगत, स्कूल>सकूल, इन्द्र>इन्दर, कृष्ण>किशन, रत्न>रतन।

(७) एक आश्चर्यजनक ध्वन्यात्मक विकास जो हिन्दी में विशेष रूप से लक्षित किया जा सकता है, वह है उच्चारण में अकारान्त शब्दों के अन्त्य अकार का लोप—लिखा जाता है—राम और बोला जाता है राम्, इसी प्रकार काम—काम्, चल-चल्, पढ़-पढ़्। शब्द के मध्य 'अ' के लोप के चिह्न भी उच्चारण मे प्रारम्भ हो गए है; यथा—सफलता-सफल्ता, जनता—जन्ता, करता-कर्ता, गिनती-गिन्ती, आदि।

रूपतत्त्व—नव्य भारतीय आर्यभाषाओं ने ध्वनि की अपेक्षा रूप के क्षेत्र में अधिक विकास का परिचय दिया है। विकास के क्षेत्र में क्षय के जो चिह्न मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषाओं में देखने को मिलते है, वे नभाआ में अपने चरम पर पहुँचे हुए है। विभक्ति-प्रत्यय जो अपभ्रंश में अवशिष्ट थे,

वे भी घिस गए, तिङन्त प्रत्ययों का भी यही हाल हुआ। परसर्गों की संख्या बढ़ने लगी। इस प्रकार बहुमुखी प्रवृत्तियों के दर्शन पद रचना के क्षेत्र में होते हैं—

(१) प्रायः समस्त नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गए। परिणामस्वरूप भाषाएँ विश्लिष्टावस्था में आ उपस्थित हुईं। सर्वनाम शब्दों को 'षष्ठी' विभक्ति में केवल सुबन्त प्रत्ययों के दर्शन होते हैं। हमारा नाम, थे पवारो (राज.); थमी जाओ (बांगरु), आदि प्रयोग निर्विभक्तिक हैं।

(२) विभक्ति प्रत्ययों के स्थान पर परसर्गों का प्रयोग बहुल्ले के साथ होने लगा। इनमें भी कर्म परसर्ग और सम्बन्ध परसर्ग अत्यधिक महत्त्वपूर्ण हैं। 'नै' कर्म परसर्ग राजस्थानी और गुजराती की अपनी विशेषता है तो 'नूं' पंजाबी और लहन्दा की, तथा 'को' पश्चिमी हिन्दी की। इसी प्रकार 'रा, रो, री' राजस्थानी के सम्बन्ध कारक हैं तो 'दा दे दी' पंजाबी के, 'चा चे ची' मराठी के, 'का के की' पश्चिमी हिन्दी के, 'क' मैथिली एवं भोजपुरी, केर पूर्वी हिन्दी एवं 'एर' पूर्वी भाषाओं की विशेषता है।

(३) कारक रूप, जो प्राचीन भारतीय आर्यभाषाओं में संख्या में २४ थे, मध्यकालीन भारतीय आर्यभाषा में घिस कर ५/६ रह गए। जबकि नव्य भारतीय आर्यभाषाओं में केवल दो ही रह गए—१. ऋजु, २. तिर्यक्। यद्यपि कुछ रूपों में यह संख्या संस्कृत में घटने लग गई थी, पर अब यह अपनी पूर्णता पर है। लिङ्ग विधान जो जैसे-तैसे करता हुआ अपभ्रंश तक तीन रूपों में ही—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग—चला आ रहा था। अब केवल गुजराती एवं मराठी को छोड़कर दो भेदों—पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग—में ही सीमित हो गया।

(५) नभाआ की भाषाओं में वियोगात्मकता आ जाने के कारण वाक्य में शब्द का स्थान निश्चित हो गया। पहले कर्ता, फिर कर्म तत्पश्चात् क्रिया। विशेषण का प्रयोग विशेष्य से पूर्व तथा क्रिया-विशेषण का प्रयोग क्रिया से पूर्व किया जाने लगा।

(६) क्रिया रूपों में यह विकास अधिक सक्रिय दिखाई देता है। तिङन्त प्रत्ययों में केवल 'लृट्' लकार के दर्शन होते हैं। इसके दो रूप हैं—एक 'स्स' साधित, जो पश्चिमी राजस्थानी में अब तक वर्तमान है; दूसरा 'ह' साधित जिसे पूर्वी हिन्दी में लक्षित किया जा सकता है। शेष भाषाओं में कुछ एक स्थलों को छोड़कर या तो 'गा गे गी' सहायक क्रियाओं से निष्पन्न किये जाते हैं, अथवा 'तव्य' कृदन्त प्रत्यय का आश्रय लेकर या कुछ भाषाओं में शतृ प्रत्ययान्त भविष्यत् काल के भी दर्शन होते हैं। पूर्वी राजस्थानी में 'ला ले लो' सहायक

प्रत्ययों को भी देखा जाता है। शेष कालों की व्युत्पत्ति 'कृदन्त' रूपों के साथ सहायक क्रियाओ, 'था थे थी'; 'है हूँ है'; 'छा छे छी', आदि के योग से निष्पन्न की जाती है। भूतकाल में कर्मणि प्रयोग में केवल 'कृदन्त' रूप ही प्रायः देखा जाता है। कृदन्त प्रयोगों के प्रति आकर्षण उत्तरकालीन संस्कृत से ही प्रारम्भ हो गया था। पूर्वी भाषाओं का भूतकाल के लिए प्रयुक्त 'अल' प्रत्यय इनका अपना स्वतन्त्र विकास कहा जा सकता है।

(७) नव्य भारतीय आर्यभाषाओ ने संस्कृत उपसर्ग एवं प्रत्ययों के साथ-साथ नवीन प्रत्ययों एवं उपसर्गो का विकास किया। साथ ही विदेशी उपसर्गो एवं प्रत्ययों का भी पूरा-पूरा उपयोग किया। जहाँ 'दयालु' बनाया वहाँ फ़ारसी उपसर्ग की सहायता से 'घरेलू, पहलू' जैसे शब्दों का निर्माण भी हुआ।

(८) बहुवचन मे 'लोग, वर्ग, गण, वृन्द' जैसे शब्दों का प्रयोग प्रायः समस्त नभाआ भाषाओं में न्यूनाधिक रूप से देखा जा सकता है।

(९) नव्य भारतीय आर्यपरिवार की भाषाओं मे प्रायः चार प्रकार के शब्द देखने को मिलते है—१. तत्सम, २. तद्भव, ३. देशज, ४. विदेशज।

कुछ तद्भव शब्दों का प्रान्तानुसार भिन्न-भिन्न अर्थ बोध होने लगा। यथा—'स्थान' का तद्भव 'ठाण' तथा थान'। राजस्थान में प्रथम का अर्थ स्थान और द्वितीय का पवित्र स्थान। इसी प्रकार हरियाणा प्रदेश मे प्रथम के लिए पशुओ के बाँधने का स्थान, द्वितीय का सामान्य स्थान तथा पवित्र स्थान अर्थ लिया जाने लगा। गल्प बंगला में कथा साहित्य और इसके तद्भव 'गप्प' का राजस्थान में झूंठा अर्थ लेते है।

नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का परिचय

सिन्धी :

यह सिन्ध प्रदेश की भाषा है। इसका सम्बन्ध व्राचड अपभ्रंश के साथ जोड़ा जाता है, किन्तु विद्वान् अभी व्राचड़ अपभ्रंश का उद्गम नही खोज पाये है। यह सिन्ध प्रदेश में, जो अब पाकिस्तान मे है, बोली जाती है। इस भाषा के बोलने वाले अधिकांश हिन्दू भारत मे आ गए है जो बम्बई, दिल्ली और राजस्थान में अधिकांशतः बस गए है। १९६१ की जनगणना के अनुसार इस भाषा के बोलने वालों की संख्या बीस लाख है। अब इसे संविधान मे स्वीकृत भारतीय भाषाओं की सूची में स्थान दे दिया गया है।

सीमाएँ—सिन्धी भाषा के एक ओर गुजराती, दूसरी ओर मराठी और एक ओर लहन्दा भाषा बोली जाती है। आठवी शताब्दी के पश्चात् सिन्ध और मुलतान के एक प्रान्त हो जाने के कारण इनकी भाषाएँ—सिन्धी और लहन्दा—आपस में एक दूसरी से प्रभाव ग्रहण करती रही है।

बोलियाँ—सिन्धी भाषा की तीन बोलियाँ प्रमुख है—प्रथम सिराकी; जो

सिन्ध के ऊपरी भाग में बोली जाती है। द्वितीय, लाड़ या लाट, जो इसके नीचे के प्रदेश की बोली है। तृतीय, विचोली जो इसके मध्य भाग में बोली जाती है। विचोली बोली सिन्ध की सामान्य एवं साहित्यिक भाषा है। गुजरात और सिन्धी के बीच कच्छ प्रायद्वीप की बोली कच्छी है जो गुजराती और सिन्धी की मिश्रित भाषा है। सिन्धी में कोई उत्कृष्ट कोटि का साहित्य तो नहीं लिखा गया, पर जो कुछ मिलता है उसमें शाह लतीफ़ का 'रिसालो' लोकप्रिय काव्य है। अठारहवीं शताब्दी मे हुए अनायत शाह, मखदूम मुहम्मद जमान का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। सिन्धी लिपि अरबी के आधार पर बनाई गई थी, किन्तु विभाजन के पश्चात् सिन्धी भाषियों ने देवनागरी लिपि को ही अपना लिया है। मुसलमानों का आधिक्य होने के कारण भाषा में अरबी, फ़ारसी के शब्दों की अधिकता है।

भाषागत विशेषताएँ—सिन्धी भाषा में समस्त शब्द स्वरान्त हैं। 'ग ज ड़ ब' अतिरिक्त ध्वनियाँ हैं। इनका उच्चारण स्वर तन्त्रियों का कपाट संवार कर एक विशेष प्रकार से किया जाता है। 'द' के स्थान पर 'ड' उच्चारण पाया जाता है; यथा—दक्ष>दश>डह। 'स को ह' का आदेश भी सिन्धी भाषा की विशेषता है। पदान्त 'अ' का उच्चारण स्पष्ट रूप से पाया जाता है। ध्वनियों का उच्चारण एवं तद्भव शब्दावली संस्कृत के काफ़ी समीप है। 'ड़' प्रत्यय का प्रयोग भी सिन्धी में पाया जाता है; यथा—हँकड़ो, टुकड़ो इत्यादि। 'द्व' के स्थान पर 'ब' पाया जाता है। क वर्ग के स्थान पर च वर्ग के प्रयोग के उदाहरण भी खोजे जा सकते हैं, यथा—आदरार्थं 'अचो', आओ के अर्थ में 'आ+गम्' धातु का ही विकसित रूप है। 'नाम' शब्द के लिए 'नालो का प्रयोग भी लक्षणीय है।

रूप तत्त्व—सिन्धी में दो ही लिङ्ग और दो ही वचन पाये जाते हैं। सिन्धी की पुल्लिङ्ग संज्ञाएँ प्रायः उकारान्त एवं ओकारान्त तथा स्त्रीलिङ्ग संज्ञाएँ प्रायः अकारान्त एवं आकारान्त हैं। कर्म में 'के' और अधिकरण मे 'माँ' परसर्ग हिन्दी (अवधी) से मिलते जुलते हैं तो सम्बन्ध कारक में 'जा जो जी' का प्रयोग किया जाता है, यथा—शाहजी रिसालो। सिन्धी में वर्तमान में 'द' अन्त क्रिया का प्रयोग होता है और भूतकाल में पूर्वी भाषाओं के समान 'ल' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। भविष्यत् काल में स, 'सास' प्रत्ययों का प्रयोग होता है। क्रियार्थक संज्ञा के लिए 'णु' प्रत्यय का प्रयोग उल्लेखनीय है; यथा—चलणु हलणु (चलने के अर्थ में), पिटणु आदि।

लहन्दा :

यह पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। इसी से इसे 'लहन्दे (सूर्यास्त) दी बोली' कहा जाता है। पंजाब का यह भाग अब पाकिस्तान में चला गया है।

इसके बोलने वालों की संख्या एक करोड़ के लगभग है। मुसलमान और हिन्दू समान रूप से इस भाषा का प्रयोग दैनिक कार्य-कलापों के लिए करते है। इसका उद्भव 'कैकय' अपभ्रंश से माना जाता है।

सीमाएँ—लाहौर और स्यालकोट के जिलों को छोड़कर प्रायः समस्त पश्चिमी पंजाब में बोली जाती है। इसके एक ओर पश्तो और सिन्धी बोली जाती है। एक ओर पूर्वी पंजाबी और कश्मीरी तथा एक ओर राजस्थानी बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—मुलतानी, डेरावाली, पोठोवारी तथा अवाणकारी इसकी प्रमुख बोलियाँ हैं, जिनमें मुलतानी बोली सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। मुलतानी का साहित्य चौदहवी शताब्दी से मिलना प्रारम्भ हो जाता है। मुसलमान फ़क़ीरों का प्रारम्भ से निवास-स्थान रहने के कारण अधिकांश साहित्य उन फ़क़ीरों का लिखा हुआ ही उपलब्ध होता है। फ़रीद, वारिस शाह, अहमद यार तथा क़ादर यार आदि लेखकों के साथ-साथ नानक का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। बाद में पंजाबी भाषा के सामने इसने घुटने टेक दिए और पंजाबी भाषा को ही इन्होंने भी साहित्य के लिए स्वीकार कर लिया। डॉ हरदेव बाहरी के मतानुसार लहन्दा कोई स्वतन्त्र भाषा न होकर पंजाबी की ही एक उपभाषा है।[1]

भाषागत विशेषताएँ—पंजाबी की प्रायः सभी ध्वनियाँ इसमें मिलती हैं। महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण स्पष्ट एवं शुद्ध होता है। भारतीय भाषाओं में सब से अधिक कर्कश एवं परुष भाषा है। द्वित्व प्रणाली ज्यों की त्यों बनी हुई है।

लहन्दा की कुछ बोलियों में 'ल़' ध्वनि भी उपलब्ध होती है। पंजाबी (लहन्दा) में 'य-व' ध्वनियाँ पदादि मे सुरक्षित मिलती हैं। मध्यदेशीय भाषाओं के समान 'ज' और 'उ' में परिवर्तित नही होती; यथा—वेल>वेल, वर्त>वट्ट>वाँट (हिन्दी) वँड (लहन्दा)। अल्पप्राण अघोष वर्ण अल्पप्राण सघोष में परिवर्तित पाया जाता है, जैसा कि ऊपर के उदाहरण से स्पष्ट है। 'ह' ध्वनि विवृत अघोषवत् उच्चरित होती है।

रूप तत्त्व—लिङ्ग और वचन दो-दो ही है—स्त्रीलिङ्ग, और पुल्लिङ्ग, एक वचन और बहुवचन। कारक परसर्ग पंजाबी के समान है। कर्म कारक में 'नूं' परसर्ग और सम्बन्धकारक में 'दा दे दी' परसर्गों का प्रयोग किया जाता है। वर्तमान काल में 'ता' के स्थान पर 'दा' का प्रयोग पंजाबी के अनुरूप है। भविष्यत् काल में राजस्थानी की तरह स परक रूप दृष्टिगत होते हैं।

---

[1] डॉ. हरदेव बाहरी—हिन्दी उद्भव विकास और रूप, पृष्ठ ४६।

क्रियाओं के द्वारा सर्वनाम उत्तम पुरुष का बोध हो जाना सिन्धी के प्रभाव को सूचित करता है। गुरुमुखी और फ़ारसी लिपियों का प्रयोग समान रूप से पाया जाता है।

पंजाबी :

यह भारत के आधुनिक पंजाब प्रान्त की भाषा है। महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल के पश्चात् इस भाषा ने आश्चर्यजनक उन्नति की है। हरियाणा प्रान्त पृथक् बन जाने के पश्चात् यह प्रान्त विशुद्ध पंजाबी भाषा-भाषी प्रान्त बन गया है। इसका उद्‌गम टक्क नामक अपभ्रंश से माना जाता है।

सीमाएँ—इसका क्षेत्र अम्बाला ज़िले की कुछ तहसीलों से लेकर जो अब तक जम्मू-शिमला से लेकर भटिण्डा के कुछ गाँवों तक फैली हुई है, माना जाता है। इसके उत्तर में हिमाचल प्रदेश, दक्षिण में सिन्धी, पूर्व में पश्चिमी हिन्दी तथा पश्चिम में हरियाणा प्रदेश की बाँगरू भाषा बोली जाती है। इसके बोलने वालों की संख्या १९६१ की जनगणना के अनुसार १ करोड़ नौ लाख के लगभग है। इस पर हिन्दी भाषा का प्रभाव यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है।

बोलियाँ और साहित्य—पंजाबी की चार प्रमुख बोलियाँ हैं—१. जम्मू और कांगड़ा की डोगरी, २. पटियाला और उसके आस-पास की मालवई, ३. लुधियाना या पूर्वी क्षेत्र की पोवाधी, ४. लाहौर और अमृतसर की माझी। इन सब में 'माझी' सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त होती है। इसमें साहित्य का निर्माण महाराजा रणजीतसिंह के शासन काल से ही प्रारम्भ हो गया था; यथा—नानक की गुरुवाणी और फ़तेहपुर (राजस्थान) के शाहज़ादे न्यामतख़ाँ (उपनाम जान कवि) द्वारा लिखित 'अलीफ़ख़ाँ की पैडी' विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पिछली एक-डेढ़ शताब्दी से पंजाबी में भरपूर साहित्य लिखा जा रहा है। पटियाला में स्थापित पंजाबी विश्वविद्यालय में एम. ए. (पंजाबी) की कक्षाओं का प्रारम्भ, भाषाभिमान के साथ-साथ साहित्य की अतुल समृद्धि का भी सूचक है। आजकल पंजाबी भाषा में शोध-कार्य भी तीव्र गति से हो रहा है। आधुनिक लेखकों में भाई वीरसिंह, धनीराम चात्रिक, मोहनसिंह, अमृता प्रीतम, सेखो, पूरनसिंह, दुग्गल तथा गार्गी का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। पंजाबी साहित्य को हिन्दी में अनूदित करने में अनेक विद्वानों का कार्य विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

भाषागत विशेषताएँ—पंजाबी में सघोष महाप्राण ध्वनियों का उच्चारण अल्पप्राण के साथ 'ह्' मिले हुए के समान होता है। डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार पंजाबी में 'ह' का उच्चारण भी सघोषवत् न होकर विसर्गवत् उच्चरित किया जाता है। १. स्वर-भक्ति पंजाबी भाषा का विशिष्ट लक्षण है; यथा—

प्रसाद>परसाद, धर्म>धरम आदि। अपभ्रंश की द्वित्व प्रणाली का पंजाबी आज तक पल्ला पकड़े हुए है। वास्तव में पंजाब प्रान्त की यह प्रारम्भ से ही विशेषता रही है कि उसे प्राचीनता से अधिक मोह रहता है। यही कारण है कि पंजाबी में अन्य भाषाओं की तुलना में विकास के चिह्न कम दिखाई देते हैं। 'कम्म' का हिन्दी भाषी प्रदेशों में कभी का "काम" शब्द हो चुका है, पंजाबी में अब भी 'कम्म' शब्द का प्रयोग ही प्रचलित है। पुत्तर, इच्धरों, अक्ख, अज्ज, कज्ज, भज्ज इत्यादि का प्रयोग होता है। पंजाबी भाषा में स्वर मध्यस्थ 'उ तथा इ' के स्थान पर 'अ' करने की प्रवृत्ति भी दृष्टिगोचर होती है; यथा—माथुर>माथर, कौशिक>कौशक। 'न और ण' का अन्तर नहीं दिखाई देता है। हिन्दी भाषी प्रदेशों में जहाँ 'न' मिलता है, वहाँ पंजाबी में 'ण' के दर्शन हो जायेंगे और जहाँ 'ण' मिलता है वहाँ 'न' का प्रयोग हो सकता है। पदादि स्वर के साथ 'ह' के आगम के उदाहरण भी पंजाबी भाषा में मिल जायेंगे, यथा—एक>हिक, और>होर। 'व' श्रुति का आगम भी पंजाबी की अपनी विशेषता है; यथा—हुआ>हुवा, ओला>वोला। पंजाबी मे यद्यपि 'ल़' ध्वनि लिखी नही जाती, फिर भी बोलने में इसका प्रयोग धड़ल्ले से होता है।

रूप तत्त्व—पंजाबी भाषा में एकवचन और बहुवचन, दो वचन तथा स्त्रीलिङ्ग और पुल्लिङ्ग, दो लिङ्ग मिलते है। कारकों में केवल ऋजु और तिर्यक् रूप मिलते हैं। एकवचन से बहुवचन बनाते समय पुल्लिङ्ग में 'आँ' और स्त्रीलिङ्ग मे कहीं-कही 'माँ' भी देखा जाता है। तिर्यक् में आकारान्त शब्दों के 'आ' को 'ए' कर दिया जाता है। पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग बनाते समय 'अन' प्रत्यय का प्रयोग किया जाता है। अनेक स्थानों पर इसे 'अण' भी कर दिया जाता है; यथा—मालिन>मालण आदि। कारकीय परसर्गों में यह अपना स्वतन्त्र पथ ग्रहण कर अग्रसर होती है। कर्ता प्राय: निर्विभक्तिक रहता है। भूतकाल में 'ने' परसर्ग का प्रयोग मिलता है। कर्म में 'नूँ' का प्रयोग, सम्प्रदान में 'थों'; सम्बन्ध में 'दा दे दी' तथा अधिकरण में विच/विच्च का प्रयोग पंजाबी भाषा की अपनी विशेषता है। विशेषणों के प्रयोग में संस्कृत की तरह विशेष्य के अनुरूप लिङ्ग और वचन बदल जाते हैं। पर यह नियम जितना स्त्रीलिङ्ग शब्दों में कट्टरता से पोषित किया जाता है, वहाँ व्यञ्जनान्त शब्दों में इसकी शिथिलता भी दर्शनीय है; यथा—सुन्दर लड़का, सुन्दर लड़की, सुन्दर लड़के, सुन्दर लड़किओं, किन्तु साथ ही अच्छा लड़का, अच्छी लड़की, अच्छे लड़के, अच्छिओं लड़किओं आदि। सर्वनामों में 'अस्सी, तुस्सी सानूँ, साडा, तुहाडा' आदि विशिष्ट रूप में 'किम् एतद्' आदि सर्वनामों में 'ड़ा' प्रत्यय के दर्शन राजस्थानी की याद दिला देते है; यथा—'तुहाडा केहड़ा पिण्ड ए।'

मराठी :

वर्तमान महाराष्ट्र में बोली जाने वाली भाषा महाराष्ट्री या मराठी कहलाती है। डॉ. तगारे के *अनुसार दक्षिणी अपभ्रंश से, जिसमें पुष्पदन्त और* मुनि कनकामर ने अपनी रचनाएँ की हैं, महाराष्ट्री भाषा का उद्गम हुआ है। यह सिद्धान्त प्रायः अमान्य हो गया है, क्योंकि पुष्पदन्त और मुनि कनकामर की रचनाओं की भाषा पश्चिमी अपभ्रंश ही है। इस भ्रम का निराकरण "अपभ्रंश के क्षेत्रीय भेद, समस्या और समाधान" शीर्षक में पुष्ट प्रमाणों के द्वारा किया है। महाराष्ट्री का उद्भव महाराष्ट्री में प्रचलित किसी अपभ्रंश बोली से हुआ होगा, जिसका कोई भी नमूना इस समय उपलब्ध नहीं है। इस पर वैदर्भी अपभ्रंश तथा पूर्वी भाषाओं का प्रभाव पर्याप्त मात्रा में देखा जा सकता है।

सीमाएँ—भारत के पश्चिम में 'दमण' से लेकर दक्षिण की ओर गोमन्तक तथा उत्तर में नागपुर का प्रदेश महाराष्ट्र कहलाता है। इसमें प्रमुख रूप से बम्बई, पूना, बरार तथा नागपुर का प्रदेश लिया जा सकता है। इसके एक ओर राजस्थानी, दूसरी ओर पूर्वी भाषाएँ तथा एक ओर मध्य देशीय भाषाएँ आती हैं। गुजराती इसके सब से अधिक समीप बोली जाने वाली भाषा है। दक्षिण में कन्नड़ एवं तेलगु भाषी प्रदेश हैं।

बोलियाँ एवं साहित्य—कोंकणी, बरारी, हल्बी, खड़ी बोली तथा मराठी इसकी प्रमुख बोलियाँ हैं। मराठी (खड़ी) ही सामान्यतः साहित्यिक भाषा के रूप में प्रयुक्त की जाती है। कोंकणी को कुछ विद्वान् स्वतन्त्र भाषा कहते हैं। हल्बी पर पूर्वी हिन्दी का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है। मराठी में बहुत पहले ही साहित्य लिखा जाना प्रारम्भ हो गया था। मराठी के ताम्रपत्र एवं शिला लेख ६२३ ई० से मिलते हैं। मराठी साहित्य में सन्त नामदेव और ज्ञानेश्वर का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ज्ञानेश्वरी मराठी साहित्य का ही नहीं, अपितु समस्त भारत का गौरव बिन्दु है। इसी समय की मुकुन्द राम रचित 'विवेक सिन्धु' एक उल्लेखनीय रचना है। मध्यकालीन लेखकों में दासोपन्त, एकनाथ, सन्त तुकाराम, समर्थ रामदास, मोरोपन्त और अमृतराय का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। इन सन्तों की कविता का प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अत्यधिक मात्रा में पड़ा है। आधुनिक काल में प्रायः साहित्य की समस्त विधाओं पर रचनाएँ की जाती हैं। आधुनिक काल के अनेक लेखकों के साथ महात्मा तिलक और सातवलेकर एवं सावरकर का नाम भी विशेष रूप से उल्लेखनीय है। मराठी की लिपि देवनागरी है और हिन्दी के प्रति इनका अगाध प्रेम है।

भाषागत विशेषताएँ—'ऋ' के स्थान पर 'रु', 'न' के स्थान पर 'ण',

'स' के स्थान पर 'श' तथा 'र' के स्थान पर 'ल' पाया जाता है । ये ध्वनिगत परिवर्तन महाराष्ट्री को मागधी प्राकृत की भाषाओं की श्रेणी में ले जाकर बिठा देते हैं। महाराष्ट्री में 'ब और व' में तथा 'ड और ड़' में स्पष्ट अन्तर किया जाता है। महाराष्ट्री में 'ल़' ध्वनि का अभाव है। संज्ञा शब्द जो राजस्थानी और ब्रज में क्रमशः ओकारान्त एवं औकारान्त है, वे यहाँ पर हिन्दी की तरह आकारान्त पाये जाते हैं।

रूप तत्त्व—मराठी में दो वचन और तीन लिङ्ग हैं। नपुंसक लिङ्ग में तिर्यक् प्रयोग से 'अ को आ' और 'उ को ऊ' हो जाता है; यथा—घर>घरा जीभ>जीभा, मधु>मधू आदि। ऋजु रूप में समान स्थिति में रहते हैं। व्यञ्जनान्त और अकारान्त शब्दों को एक वचन में 'अ' और बहुवचन में 'आन' आदेश होते हैं। नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में 'इकारान्त तथा उकारान्त शब्द दीर्घ हो जाते हैं। एक वचन में और बहुवचन में 'न्' जोड़ दिया जाता है। संज्ञाओं में कुछ स्थलों पर अब भी विभक्ति-प्रत्ययों का प्रयोग किया जाता है। मराठी में दो प्रकार के ऋजु और तिर्यक् कारक मिलते हैं। परसर्गों में भी यह स्वतन्त्र अस्तित्व की द्योतक है। करण मे 'ने और शी' परसर्ग, सम्प्रदान मे ला, तें, अपादान से ऊन और हून (सम्भवतः राजस्थानी 'हुन्त' का विकसित रूप) है और सम्बन्धकारक में 'चा चे ची' का प्रयोग मराठी की विशेषताएँ हैं। क्रिया के क्षेत्र में वर्तमान काल में 'त' अन्त, भूतकाल 'ल' प्रत्यययुक्त और भविष्यत् 'ल' प्रत्यय युक्त रूप पाये जाते हैं। क्रियार्थक संज्ञा 'ण, न' के स्थान पर 'णें' का प्रयोग उपलब्ध होता है। पुरुष वाचक सर्वनाम सरल एवं सामान्य है। लिङ्ग प्रक्रिया जटिल है। विशेषण विशेष्य के वचन के अनुसार नहीं बदलता।

गुजराती :

गुजरात प्रदेश में बोली जाने वाली भाषा को गुजराती कहते हैं। इसका उद्भव गुर्जर अपभ्रंश से माना जाता है। विद्वानों का विचार है कि प्रारम्भ में पश्चिमी राजस्थानी और गुजराती एक ही भाषाएँ थी। लगभग १५वी अथवा १६वीं शताब्दी में ये दो भागों में बँट गई—गुजराती और मारवाड़ी। गुर्जर जाति के नाम पर ही इस प्रदेश का नाम गुजरात पड़ा। १९६१ की जनगणना के आधार पर इस भाषा को बोलने वालों की संख्या दो करोड़ चार लाख के लगभग थी।

सीमाएँ—इसके उत्तर पूर्व में सिन्धी एवं राजस्थानी तथा दक्षिण मे मराठी बोली जाती है। बम्बई, अहमदाबाद, काठियावाड़ आदि इसके प्रमुख केन्द्र हैं। जूनागढ़ प्रदेश में गुजराती ही बोली जाती है।

बोलियाँ और साहित्य—गुजराती की कोई उल्लेखनीय बोली नहीं है। अहमदाबाद के आसपास की बोली ही प्रायः समस्त प्रदेश में बोली जाती है।

नवम अध्याय

हिन्दी का उद्भव और विकास

मध्यदेश का महत्त्व—राष्ट्रभाषा की समस्या—संस्कृत, पालि, प्राकृत—मध्यदेश से सम्बद्ध—अपभ्रंश में पश्चिमी हिन्दी के उपकरण—ध्वन्यात्मक उपकरण—रूपात्मक उपकरण—नाम—आख्यात—उपसर्ग—प्रत्यय—हिन्दी शब्द निर्वचन—हिन्दी के प्रयोग एवं प्रारम्भ की कहानी—हिन्दी, उर्दू—समानता—विषमता।

हिन्दी का विकास

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।"

(मनुस्मृति द्वितीयाध्याय)

(इस देश के ब्राह्मणों से सारे जगत् के लोग अपना-अपना जीवन व्यतीत करने की रीति सीखें) भारत के ऐसे एक निस्पृह तपस्वी और महान् राजनयिक के ये विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इससे पूर्व कि इसकी महत्ता पर विचार-विमर्श करें, यह आवश्यक है कि उस देश की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करलें। मनु ने ही इस पुण्यभूमि की सीमाएँ इस प्रकार से दी हैं—

"हिमवत् विन्ध्ययोर्मध्यं यत् प्राग् विनशनादपि ।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ।।"

यही वह मध्य देश है जो शिक्षा और ज्ञान में भारत का अग्रणी रहा है। इस स्थान का भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व है। आर्य जन जब सप्तसिन्धु प्रदेश से फैलते-फैलते आधुनिक बिहार तक पहुँच गए और इसी बीच वे अनेक अनार्य जातियों के सम्पर्क में आए तथा जलवायु के अनापेक्षित प्रभाव से ग्रस्त हुये, तब आर्यों की महत्त्वपूर्ण भाषा 'छान्दस' का शुद्ध उच्चारण उनके लिए एक क्लिष्ट कार्य हो गया। दूसरे, कुछ सांस्कृतिक एवं धार्मिक मत-भेदों का भी प्रस्फुटन हुआ। परिणामतः एक भाषा की समस्या आर्य परिवार के सामने आ उपस्थित हुई। यह पहला अवसर था कि आर्यों को एक बिल्कुल नवीन समस्या का साम्मुख्य करना पड़ा। प्राच्य जन जो छान्दस का शुद्ध उच्चारण करने में असमर्थ थे तथा कुछ सीमा तक अपनी बोली के प्रति अभिमान का प्रदर्शन भी कर रहे थे (सम्भवतः ग्लानि को छुपाने हेतु) छान्दस भाषा को स्वीकार करने को तत्पर नहीं थे। इसमें ब्राह्मणों की धार्मिक कट्टरता भी एक कारण हो सकती है; क्योंकि उपनिषदों में उन्हें व्रात्य कहकर सम्बोधित किया गया है। ये व्रात्य इसलिए थे कि वैदिक धर्म में दीक्षित नहीं हुए थे। इसलिए कुछ विद्वान् इन्हें आर्यों से भिन्न प्रजाति के जन मानते हैं। पर मैं ऐसा समझता हूँ कि ये आर्यों की वह शाखा थी जो आलस्यवश ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित धार्मिक कृत्यों एवं नियमों का पालन नहीं कर पा रही थी तथा अनार्यों के सम्पर्क ने उनकी इस प्रवृति को बढ़ावा भी दिया था। खैर! जो कुछ भी हो, पर एक सर्वमान्य भाषा की समस्या तो प्रस्तुत हो ही गई थी।

उस समय तक छान्दस भाषा लगभग तीन रूपों में विकसित हो चुकी थी जिनके उल्लेख एवं प्रमाण प्राचीन वैदिक साहित्य में यत्र-तत्र उपलब्ध हो

जाते है —१. पश्चिमोत्तरीय बोली, छान्दस भाषा के नियमों के साथ कदम से कदम मिलाकर चल रही थी और विकास के चिह्नों से कम से कम प्रभावित थी। २. प्राच्या, छान्दस से पर्याप्त मात्रा में दूर जा चुकी थी। डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि प्राच्यों के लिए पश्चिमोत्तरीय प्रदेश की भाषा काफ़ी दुर्बोध हो गई होगी। अनेक ध्वन्यात्मक परिवर्तनों की सूचना महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अपने ग्रन्थ में दी है। ३. मध्यदेशीया उक्त दोनों के बीच में एक बोली और पनप रही थी जो पश्चिमोत्तरी के समान छान्दस के समीप होते हुए भी कुछ विकास के चिह्नों से युक्त थी। छान्दस का 'र्त' प्राच्या में यदि 'ट्ट' हो जाता है तो इसमें 'त्त' हुआ होगा। कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि जब कभी भी किसी प्रदेश या राष्ट्र में एक से अधिक भाषाएँ प्रकाश में आती हैं, तब जनसम्पर्क भाषा का स्थान कौनसी भाषा ले—ऐसा विवाद आता ही है और उनका समाधान भी स्वाभाविक रूप से हो जाया करता है। अतः उपरिकथित विवाद का हल इसी उदीच्य मध्यदेश की बोली से विकसित 'संस्कृत भाषा के प्रादुर्भाव के साथ ही हो गया।'[1] गौतम बुद्ध जो अपने प्रवचनों को प्राच्या के अतिरिक्त किसी भी अन्य भाषा में लिपिबद्ध करने को प्रस्तुत नही थे, उनके अनुयायियों ने भी इस नवीन भाषा को सहर्ष स्वीकार कर लिया। इस भाषा को सम्भवतः ग्रहण करने का एकमात्र कारण मध्यदेशीय विद्वानो के प्रति शेष भारत खण्ड के जनों का अमित विश्वास एवं श्रद्धा ही है, अन्य कुछ नही। इसीलिए प्रारम्भ में मनु द्वारा प्रदत्त मध्य देश की प्रशस्ति को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कहा गया है। क्योंकि उसमें पूर्ण सत्य को उद्घाटित किया गया है, काल्पनिक गौरवगान नही। संस्कृत की स्वीकृति इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। डॉ. चाटुर्ज्या के इस विषय पर विचार अत्यन्त विचारणीय है—मध्य प्रदेश वास्तव में भारत का हृदय एवं जीवन संचालन का केन्द्र स्थान था। वहाँ के निवासियों के हाथ में, एक तरह से अखिल भारतीय ब्राह्मणीय संस्कृति का प्राथमिक सूत्रपात था तथा हिन्दू-जगत् के पवित्रतम देश के रूप में मध्य देश की महत्ता सर्वत्र सर्वमान्य थी। परम्परा एवं इतिहास द्वारा वर्णित सार्वभौम साम्राज्यों के केन्द्र मध्यदेश एवं तन्निकटस्थ आर्यावर्त्त के अन्य क्षेत्रों मे ही रहे है।[2]

भाषा प्रसार की दृष्टि से मध्य देश का प्रभुत्व आजतक विकास की ओर ही उन्मुख है। कारण चाहे कुछ भी रहा हो, पर मध्य देश की भाषा संस्कृत-काल से लेकर आज तक अखिल भारतीय जन-सम्पर्क की भाषा के गौरवमय पद से विभूषित होती रही है। समय अपनी अबाध गति से चलता रहा।

---

1 डॉ. चाटुर्ज्या कृत भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी, पृष्ठ १८५-८६।
2 वही, पृष्ठ १६१।

संस्कृत ने भारत में ही नहीं, भारत से बाहर जावा, सुमात्रा, कम्बोडिया, चीन, इण्डोनेशिया, बर्मा तथा लंका तक प्रवेश प्राप्त कर लिया। वैयाकरणों ने भाषा की शुद्धता की सुरक्षा हेतु कठोर नियमों का विधान किया, साहित्यकारों ने शब्दावली का अधिक परिमार्जन एवं परिष्करण कर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। वैज्ञानिकों ने पारिभाषिक शब्दावली से इसके कोष को अक्षय किया। इन सब से भाषा में नवीन शब्दावली का समावेश हुआ। वहाँ यह विद्वानों की एकमात्र निधि बनकर रह गई तथा जनसाधारण के लिए दुर्बोध होती चली गई और नवीन जन भाषाएँ रंगमञ्च पर उपस्थित हुई। पुनः भाषागत संघर्ष प्रारम्भ हुआ। जैनों और बौद्धों ने एक बार फिर प्राच्य भाषाओं को प्रश्रय दिया और उन्हें अखिल भारतीय भाषा बनाने का असफल प्रयास किया। अशोक के शासन काल तक ऐसा लगता है कि प्राच्य भाषाओं का प्रभुत्व रहा। अशोक के शिलालेखों की भाषाएँ उनके प्रभुत्व का संकेत देती हैं, पर जब इनसे काम चलता न देख बौद्ध भिक्षुओं को भगवान् तथागत के प्रवचनों को पुनः मध्यदेशीय भाषा पालि में अनूदित करना पड़ा। इस प्रकार मागधी भाषा को मध्यदेशीय भाषा के लिए अपना सिंहासन जो कुछ समय के लिए हस्तगत कर लिया था, छोड़ना पड़ा। मध्यदेशीय पालि भी संस्कृत की तरह भारत की ही नहीं, अपितु लगभग समस्त एशिया (जहाँ-जहाँ बौद्ध धर्म फैला) की धार्मिक भाषा स्वीकृत कर ली गई। यह भ्रम अब प्रायः समाप्त हो गया है कि पालि मगध प्रदेश की भाषा थी। अब तक मध्य देश की पृष्ठभूमि इतनी सशक्त हो चुकी थी कि सांस्कृतिक क्षेत्र में उसे अपदस्थ करना सुकर कार्य न रह गया था। द्वितीय, कोई ऐसा चाहता भी न था, क्योंकि अखिल भारतीय हिन्दू समाज की सांस्कृतिक धरोहर उस पुण्यभूमि में समायी हुई थी और है। यही कारण है कि पालि के पश्चात् इसी की पुत्री शौरसेनी प्राकृत पुनः समस्त भारत की साहित्यिक भाषा बनी। जैन समाज, जो अभी तक अर्ध मागधी का दामन थामे बैठा था, इस ओर झुक गया और इस प्रकार शौरसेनी प्राकृत अखिल भारतीय भाषा बन गई। शौरसेनी के पश्चात् महाराष्ट्री, जो इसी का एक पश्चकालीन रूप है, जन सम्पर्क की भाषा बनी। आजकल सभी भाषाविद् इस बात पर एक मत है कि महाराष्ट्री दक्षिण की कोई प्राकृत विशेष नहीं, बल्कि शौरसेनी का ही विकसित रूप है और मध्यदेशीय भाषा है, तथा दक्षिण में यह इसी प्रकार पोषित हुई जिस प्रकार नागरी हिन्दी। इसके बाद में भारत की राष्ट्रीय भाषा का पद जिस भाषा ने सुशोभित किया, वह है पश्चिमी अपभ्रंश या परिनिष्ठित अपभ्रंश, जो शौरसेनी प्राकृत का विकसित रूप है। क्या जैन, क्या बौद्ध, क्या हिन्दू, सभी ने इसे अपने धर्म-साहित्य एवं संस्कृति की अभिव्यञ्जिका भाषा के रूप में स्वीकारकर लिया। इसी पश्चिमी

अपभ्रंश का विकसित रूप है पश्चिमी हिन्दी, जिसकी एक बोली—नागरी हिन्दी या खड़ी बोली—को नवीन भारत के संविधान में राष्ट्रभाषा का गौरवमय स्थान प्रदान किया गया है, जो परम्परा की दृष्टि से उपयुक्त ही है।

पश्चिमी हिन्दी की यह शाखा पर्याप्त समय तक अपने ही घर मे एक प्रवासिनी का सा जीवन व्यतीत करती रही। क्यो करती रही ? और कब इसके प्रेमियों का ध्यान इस ओर आकृष्ट हुआ ? इन प्रश्नों पर बाद मे विचार करेंगे। पहले यह देखलें कि इस पश्चमी हिन्दी का विकास पश्चिमी अपभ्रंश से किस प्रकार हुआ ?

वैदिक संस्कृत या छान्दस, विकास के अनेक सोपानों को पार करती हुई, पश्चिमी अपभ्रंश के नाम से भारतीय समाज के गले का हार बनी। अन्य साहित्यिक भाषाओं की तरह वैयाकरणों ने इसे भी नियमबद्ध किया। चण्ड, मार्कण्डेय, पुरुषोत्तम इत्यादि ने इसका व्याकरण लिखा। इन सबसे महत्त्वपूर्ण अपभ्रंश का व्याकरण लिखा हेमचन्द्र ने। जब हेमचन्द्र इस भाषा का व्याकरण गुजरात में बैठे लिख रहे थे, उस समय अपभ्रंश अपने पूर्ण उत्कर्ष पर थी और सम्भवतः जनसामान्य के लिए दुर्बोध होती जा रही थी। परिणामतः साहित्यकारों ने उसमें देशी तत्त्वों का मिश्रण प्रारम्भ कर दिया था। विद्वानों का मत है कि हेमचन्द्र ने जो उदाहरण हेमशब्दानुशासन मे उद्धृत किए हैं, उनमें से अनेक पद पश्चकालीन अपभ्रंश के अथवा नवीन भाषा में परिवर्तित होने जा रही सी अपभ्रंश का द्योतन कराते है। 'पश्चिमी हिन्दी' के प्रारम्भिक उपकरण हमें इस भाषा में सरलता से उपलब्ध हो जाते हैं।

जहाँ तक ध्वनियों का सम्बन्ध है, पश्चिमी हिन्दी में वे सब ध्वनियाँ उपलब्ध होती हैं, जो पश्चिमी अपभ्रंश मे थी। वैदिक छान्दस यहाँ तक आते-आते बहुत कुछ छोड़ चुकी थी और बहु कुछ नवीन ग्रहण कर चुकी थी। अतः केवल खड़ी बोली हिन्दी की तत्सम शब्दावली को छोड़कर पश्चिमी हिन्दी में अपभ्रंश की तरह 'श, ष' ध्वनियों का अभाव है। इनके स्थान पर 'स' ध्वनि मिलती है। स्वरों में ऋ, ॠ, ऌ ॡ' का भी अभाव है। इनके स्थान पर क्रमशः 'इ, उ, ए' तथा 'ल' ध्वनियाँ मिलती है। सबसे महत्त्वपूर्ण ह्रस्व 'ए और ओ' ध्वनियाँ, जिनकी ओर हेमचन्द्र ने भी निर्देश किया है, पश्चिमी हिन्दी मे मिलती हैं। ह्रस्व 'ए और ओ' लिखने का कोई लिपि चिह्न नही था, तो भी उच्चारण एवं छन्द-शास्त्र के नियमों की सहायता से यह सरलता से ज्ञात किया जा सकता है कि यहाँ पर ह्रस्व 'ए या ओ' का प्रयोग हुआ है :—

२ २ ३ ४ ३ २ ३ ५ ४
नहिं रुचि पंथ पदादि डरनि छकि पंच एकादस ठानै।

(सू. सा. १/६० हिंदी अतीत और वर्तमान १२४ से उद्धृत)

उक्त पद में 'ए' का ह्रस्व प्रयोग है। अन्यथा पद में २८ के स्थान पर २९ मात्राएँ हो जायेंगी। इसी प्रकार 'ओ' का उदाहरण लीजिए :—

३ ३ ४ २ ४ २ २ २ ६
कपट-लोभ वाके दोउ भैया, ते घर के अधिकारी
(सू. सा. १/१७३, हि. अ. व. से उद्धृत)

यहाँ पर भी 'दोउ' के 'ओ' को यदि ह्रस्व नहीं माना जायेगा तो पद में २९ मात्राएँ हो जाने से छन्ददोष आ जायेगा।

परवर्ती अपभ्रंश या अवहट्ठ में पश्चिमी हिन्दी की अनेक ध्वन्यात्मक विशेषताएं उपलब्ध होती हैं जो उसकी बदलती हुई अवस्था की द्योतक हैं :—

(१) समीप में आए दो स्वरों में सन्धि हो जाती है :—

संस्कृत	पूर्ववर्ती अपभ्रंश	परवर्ती अपभ्रंश	पश्चिमी हिन्दी
रक्षति	रक्खइ	रक्खइ/राखै (की. ल. प्रा. पै. ३/१६१)	राखै (ब्रज०)
भूत्वा	भइ	भइ/भै (की. ल.)	—
करोतु	करउ	करउ/करौ (की. ल. १/७७)	करौ/करो (ब्रज. ख. बो.)
करोति	करइ	करइ/करै (प्रा. पै.)	करै (ब्रज.)
अन्धकार	अन्धआर	अन्धआर/अन्धार (प्रा. पै. १/११०)	अन्धर/अन्धड़ (ब्रज. ख. बो.)

(२) द्वित्व की समाप्ति और क्षति पूरक दीर्घीकरण—

संस्कृत	पूर्ववर्ती अपभ्रंश	परवर्ती अपभ्रंश	पश्चिमी हिन्दी
निश्वासः	निस्सास	निस्सास/नीसास (स. रा. ८३ ग.)	नीसास (ब्रज.)
कार्य	कज्ज	कज्ज/काज (की. ल. ३/१३४)	काज (ब्र.ख.बो.)
कर्म	कम्म	कम्म/काम (की ल. २/१८)	काम (ब्रज. ख. बो.)
द्रक्षति (पश्यति)	दिस्सई	दिस्सइ/दीसइ (प्रा.पै. २/१९६)	दीसइ (ब्र.भा.)
तस्य	तस्स	तस्स/तासु (प्रा.पै. १/८२.)	तासु
दीयते	दिज्जइ	दिज्जइ/दीजइ (नेमि. १६) दीजै	दीजिये (ख. बो.) दीजै (ब्र. भा.)

(३) सानुनासिकता की जो प्रवृत्ति अपभ्रंश काल में बढ़ गई थी उसका निर्वाह पश्चिमी हिन्दी में पाया जाता है। सरलीकरण की स्थिति में भी इसे अपना लिया जाता है—चन्द्र>चन्द>चाँद, स्कन्ध>कन्ध>काँध> काँधा, स्तम्भ>खम्भ>खाँभ, आदि।

उपर्युक्त ध्वनि-विचार की दृष्टि से कहा जा सकता है कि हिन्दी (पश्चिमी) अपभ्रंश की ही विशेषताओं का अनुकरण करती है। भाषा का सम्बन्ध ज्ञात करने के लिए ध्वनियाँ ही नहीं, भाषा का रूप गठन अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। रूप-विचार की दृष्टि से यदि हम पश्चिमी हिन्दी पर विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि उसके बीज अपभ्रंश में निहित है। रूप-विचार दो वर्गों में विभाजित कर लिया जाता है—१. नाम २. क्रिया। नाम के अन्तर्गत विभक्ति—प्रत्यय का विचार आता है और क्रिया के अन्तर्गत तिङन्त प्रत्यय—विचार।

रूपतत्त्व—(१) अपभ्रंश में शब्दों का निर्विभक्तिक प्रयोग प्रारम्भ हो गया था। बिना किसी विभक्ति-प्रत्यय और परसर्ग की सहायता से शब्द का प्रयोग ही अपना अर्थ व्यक्त करने की सामर्थ्य रखता हो, उस प्रयोग को निर्विभक्तिक प्रयोग कहा जाता है। पूर्ववर्ती अपभ्रंश में करण और सम्प्रदान में निर्विभक्तिक पद खोजने से मिल सकते है, जबकि अन्य कारकों में सरलता से उपलब्ध हो जाते है। परवर्ती अपभ्रंश में प्रायः सभी कारकों में निर्विभक्तिक प्रयोग मिल जाते है। पश्चिमी हिन्दी मे, विशेषकर खड़ी बोली हिन्दी में, निर्विभक्तिक पदों का धड़ल्ले से प्रयोग किया जाता है।

(१) कर्ता कारक एकवचन :

(१) केहउ **मग्गण** एहु (हेम-अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ९७)
(२) कंप **वियोइणि** हिया (प्रा. पै. २)
(३) **ठाकुर** ठक्क भए गेल (की. लता २/१०)
(४) उधो ! **मन** नाहिं दस बीस (सू.सा. भ्रमरगीत सार, २१०)
(५) **राम** जाता है (खड़ी बोली)

कर्ता-कारक बहुवचन :

(१) **सुपुरिस** कंगुहे अणुहरिंहि (हेम. अपभ्रंश व्याकरण, पृ० ५२)
(२) बहुनु **पुन** भए। (उक्तिव्यक्ति प्रकरण)
(३) दुज्जन बोलइ मन्द। (की. ल. १/५)
(४) थाके ये विकल नैना। (घ. क. १०६)
(५) लड़के पढ़ रहे हैं। (ख. बो.)

(२) कर्म-कारक एकवचन :

(१) लेवि महब्बअ सिवु लहंहि (हेम. अपभ्रंश व्याकरण, पृ० १५६)

इन दो कारकों में तो इनका प्रयोग मिलता ही है, इनके अतिरिक्त कर्म और सम्प्रदान में भी इनका प्रयोग बहुलता से पाया जाता है।

अधिकरण एकवचन :

(१) अह विरल पहाउ जि कलिहि धम्मु। (प्राकृत व्या. पृ., २०६)
(२) सज्जन चिन्तइ मनहि मने मित्त करिअ सब कोए। (की. ल. १/७)
(३) केवट थक्यों, रही अधवीचहि, कौन आपदा आई। (सू. सा. ६/१६)

करण बहुवचन :

(१) गुणिहिं ण संपइ कित्ति पर। (अपभ्रंश व्या., २६)
(२) वे बहार मुल्लहिं वणिक विक्कण। (की. ल. २/६०)
(३) तातैं कहौ उनहिं सो जाई। (सूर सागर, ६/५)

अधिकरण बहुवचन :

(१) भाई रहि जिवं भारइ मग्गेहिं तिहिं वि पयट्टइ।
(प्राकृत व्याकरण पृ. २७)
(२) और पतित तुम जैसे तारे, तिनहिं मैं लिख काढ़ौ।
(सू. सागर, १/१३७)

इसके अतिरिक्त कर्म, करण (एकवचन), सम्प्रदान, अपादान तथा सम्बन्ध कारक में 'हिं' विभक्ति के प्रयोग परवर्ती अपभ्रंश तथा ब्रजभाषा में पाये जाते हैं—

कर्म : एकवचन

(१) भीर्चाहि ताड़। (उक्ति व्यक्ति.)
(२) सत्तुहि मित्र कए। (की. लता, २/२७)
(३) कहौ तौ कालहिं खण्ड-खण्ड करि टूक-टूक करि काटौं।
(सू. सा. ६/१४८)

करण : एकवचन :

(१) वज्रहि तिनकहि मारि उड़ाई। (पद्मावत)
(२) एकहि बान निवारौं। (सूर सा. ६/१३७)

सम्प्रदान :

(१) वरहि कन्या दे। (उक्ति व्यक्ति.)
(२) बिनु रघुनाथ मोहिं सब फीके। (सू. सा. ६/१६१) एकवचन
(३) देहौं तुमहि अवसि करि भाग। (सूर सागर, ६/३) बहुवचन

अपादान :

(१) बाघहि डर। (उक्ति व्यक्ति.)

(२) दूरिहि तें दुतिया के ससि ज्यों, व्योम विमान महा छवि छावत ।
(सूर सागर १६६/१)

सम्वन्ध :

(१) राय घटहि का पुव्व खेत । (की. ल. ४/६१)

(२) अव किहि सरन जाउँ जादौपति । (सूर सागर, १/१६०)

उपर्युक्त उदाहरणों के अतिरिक्त सूरसागर में कर्ता कारक में भी 'हि, हिं' दोनों प्रत्ययों का प्रयोग देखने को मिलता है (जव नृप ओर दृष्टि तिहिं करी, सूरसागर ६/५) । विशेष लक्षणीय वात यह है कि व्रजभाषा में, विशेषकर सूरसागर में 'हि, हिं' दोनों प्रत्ययों के प्रयोग वहुवचन में अत्यल्प मात्रा में मिलते है । द्वितीय, जितना अधिक प्रयोग कर्म कारक में किया गया है उतना अन्य कारकों में नहीं । एक यह वात भी विचारणीय है कि व्रजभाषा में सानुनासिक और निरनुनासिक का कोई अन्तर नहीं रखा गया । कहीं एकवचन में 'हिं' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है तो कही वहुवचन में 'हि' मिल जाता है । कहा नही जा सकता कि इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन ही हो गया था अथवा यह लिपिकारों एवं सम्पादकों के प्रमाद का परिणाम है । इन्हीं उपर्युक्त विभक्तियों के रूपान्तर 'इ, ए' जो भाषा-वैज्ञानिक नियमों के अनुकूल ही विकसित हुए हैं, व्रजभाषा और अवधी में पर्याप्त मात्रा में उपलव्ध होते है । इस प्रकार के प्रयोगों का प्रचलन वैसे तो अवहट्ठ भाषा से ही प्रारम्भ हो गया था, किन्तु अत्यन्त न्यून मात्रा में ।

उपर्युक्त प्रत्ययों के अतिरिक्त 'न्ह, न्हि' विभक्तियाँ भी व्रजभाषा में कम और अवधी में अधिक मात्रा में पाई जाती है । डॉ. नामवरसिंह ने पर्याप्त विवेचन के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला है कि इन प्रत्ययों का विकास प्राकृत 'णाम्' (षष्ठी) और करण कारक वहुवचन 'हिं' के योग से हुआ है । यह युक्तिसंगत प्रतीत नही होता । मेरे विचार में अवहट्ठ से ही वहुवचन में 'न, नि' का प्रयोग प्रारम्भ हो गया था तथा इनके साथ 'हिं' विभक्ति—प्रत्यय का प्रयोग भी प्रारम्भ हो गया था । अत: इन दोनों के मिश्रित रूप ही वाद में 'न्हि और न्ह' के रूप में प्रयुक्त होने लगे होंगे । इसकी पुष्टि में यह प्रमाण दिया जा सकता है कि उपर्युक्त विभक्तियों का प्रयोग अपभ्रंश में उपलब्ध नही होता । यदि प्राकृत और अपभ्रंश के प्रत्ययों के मेल से इसका निर्माण हुआ होता तो निश्चय ही इसके और कुछ नही तो वैकल्पिक प्रयोग तो प्रारम्भ हो ही गए होते । अत: इस तर्क पर भी विशेष विचार की आवश्यकता है । इन विभक्तियों का प्रयोग अधिकतर कर्म, सम्प्रदान, करण, अधिकरण तथा सम्वन्ध कारकों में परसर्ग रहित और परसर्ग सहित दोनो रूपों मे उपलब्ध होता है; किन्तु व्रजभाषा में कम और अवधी में अधिक । खड़ी वोली मे कुछ

सर्वनाम शब्दों को छोड़ कर, बिल्कुल नहीं। डॉ. नामवरसिंह का तिर्यक् में प्रयुक्त होने वाले 'न' की व्युत्पत्ति 'न्ह न्हि' से बताना युक्तिसंगत नहीं है। मैं समझता हूँ 'न' का उद्भव 'न्ह' से पहले ही हो चुका था, क्योंकि 'टा' के स्थान पर तृतीया एकवचन में संज्ञाओं एवं सर्वनामों में अपभ्रंश में 'ण' का विधान किया गया है—आट्टोणानुस्वारी। (हेम., ८/४/३४२) :

(१) अग्गिण दड्ढा जइ वि घरा तो तें अग्गिं कज्जु। (अपभ्रंश व्या. २२) (२) जै जलइ जले जलणे। अएण वि. किं ण पज्जत्तं (अपभ्रंश व्या., पृ० ४६), (३) भणु कज्जे व्यवणेण (अपभ्र. व्या., पृ० ५२) आदि उदाहरण इस बात के द्योतक हैं कि न केवल परवर्ती अपभ्रंश, बल्कि पूर्ववर्ती अपभ्रंश में 'ण' (व्रज-भाषा 'न') का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। एक बात अत्यन्त सतर्कता से विचारणीय है कि इस समय 'वचन व्यत्यय' अत्यधिक मात्रा में हुआ है, जैसाकि 'हि' विभक्ति के सन्दर्भ में ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। इनके अतिरिक्त अपभ्रंश की 'हु, हुँ' तथा 'हँ' विभक्तियाँ भी व्रज और अवधी बोली में अपनी अन्तिम साँस लेती हुई यत्र-तत्र उपलब्ध हो जाती हैं। अधिकतः सर्वनामों एवं क्रिया-विशेषणों में इनका प्रयोग देखने को मिलता है—

हुं, हुँ—चतुर्थी और पंचमी के बहुवचन में, अपभ्रंश में 'हुँ' का आदेश होता है। व्रजभाषा में बहुवचन में तो इनका प्रयोग नहीं मिलता, पर कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण के एक वचनों में इनका प्रयोग मिला है। ये विभक्ति प्रत्यय कहीं पर 'हु' कहीं पर 'हुँ' पर अधिकांश 'हूँ' मिलता है। एकवचन का प्रयोग अवहट्ठ में ही आरम्भ हो गया था—विश्व कर्महुँ मेल वड प्रयास (की. ल. २/१२८), मेरहु जेह जरिट्ठ अछ (की. ल. २/४२)।

कर्म :

(१) सूर प्रताप बदत न काहूँ। (सू. सा. १/१७०)

(२) कबहुँक भोजन लहौ। (सू. सा. १/१६१)

करण :

(१) पावकहूँ न डरत। (सू. सा. १/५५)

(२) न टरती काहूँ। (सू. सा. १/५६)

सम्प्रदान :

(१) विमुख भए, अकृपा न निमिषहूँ। (सू. सा. १/८)

अपादान :

(१) रंक कौन सुदामाहूँ तै। (सूर सा. १/३५)

सम्बन्ध :

(१) श्याम गरीबनहूँ के गाहक। (सू. सा. १/१६)

अधिकरण :

(१) तिहुँ पुर फिर आई। (सू. सा. १/६)

(२) स्वप्नहूँ माँहि नहि हृदय ल्याऊँ। (सू. सा. १/१६६)

इनके अतिरिक्त 'हँ' और हैं के भी कुछ उदाहरण मिले हैं जो व्रजभाषा का सम्बन्ध पश्चिमी अपभ्रंश के साथ व्यक्त करते हैं—

(१) काहैं सूधी बिसरी। (सू. सा. १/१६)

(२) जहँ जहँ विपत्ति परी तहँ टारी। (सू. सा. १/२२)

(३) घरहँ-जमाई लौं घट्यौ। (बिहारी स.)

अन्त में यह कहा जा सकता है कि व्रज आदि भाषाओं में कुछ तो इन विभक्ति प्रत्ययों के रूप घिस गए और नए रूप में आ गए, कुछ बिल्कुल घिस कर समाप्त ही हो गए और कुछ ने अपने आपको परसर्गों में समाविष्ट कर दिया।

अपभ्रंश के परसर्ग और उनका हिन्दी में प्रयोग

यद्यपि परसर्गों का अनुसन्धान बड़ा ही रोचक है किन्तु संस्कृत में अर्थतत्त्व और सम्बन्धतत्त्व एकीभूत होकर चलते हैं। इसलिए संस्कृत संयोगात्मक भाषा है। धीरे-धीरे शब्द घिसने लगे और सम्बन्धतत्त्व की शक्ति का ह्रास प्रारम्भ हुआ। यद्यपि इसका ज्ञान संस्कृत के उत्तर काल से ही सम्भवतः विद्वानों को होने लगा था, इसीलिए उन्हें 'रामाय' के स्थान पर 'रामस्य कृते' तथा 'तस्मै' के स्थान पर 'तस्यार्थं' जैसे प्रयोग करने पड़े होंगे, तो भी इसका स्पष्ट अनुभव अपभ्रंश काल में आ कर होता है; जब सभी (लगभग) कारकों के लिए हेमचन्द्र को परसर्गों का विधान करना पड़ा। तत्पश्चात् अवहट्ठ में तो इसकी झड़ी ही लग गई और नव्य-भारतीय आर्य भाषाओं में इनका प्रयोग अनिवार्य हो गया। खड़ी बोली के तो सम्बन्ध सूत्र ही ये परसर्ग हैं। जैसा कि हम पूर्व पृष्ठों में देख चुके हैं कि व्रज और अवधी में तो फिर भी कतिपय विभक्ति प्रत्यय अवशिष्ट हैं; किन्तु खड़ी बोली में, सर्वनाम उत्तम एवं मध्यम पुरुष की षष्ठी को छोड़ कर, इनके कहीं पर भी दर्शन नहीं होते। अतः न. भा. आ. के अध्ययन के साथ परसर्गों का अध्ययन परमावश्यक हो जाता है।

व्रजभाषा और खड़ी बोली में जिन परसर्गों की प्राप्ति होती है, उनमें से कर्ता कारक के 'ने/नै' उपसर्ग का प्रयोग अपभ्रंश या अवहट्ठ में देखने को नहीं मिला है, किन्तु यह न. भा. आ. के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण परसर्ग हैं, जो प्रायः सभी आधुनिक भाषाओं में किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं।

कर्म में प्रयुक्त 'को, कौ, कूँ' परसर्गों का प्रयोग भी अपभ्रंश में नहीं हुआ, पर सम्प्रदान के लिए प्रयुक्त 'कोंहि' के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है। यद्यपि विद्वान् इसका सम्बन्ध 'कक्षं' के साथ जोड़ते हैं।

करण के लिए पश्चिमी हिन्दी में मुख्यतः दो परसर्ग मिलते हैं—(१) से (जो वहुत ही महत्त्वपूर्ण है)। (२) तैं, ते, त्यों आदि। इनमें से प्रथम 'अपभ्रंश' में प्रयुक्त 'सहुँ' का रूपान्तर हो सकता है और द्वितीय हेमचन्द्र द्वारा सम्प्रदान के लिए निर्धारित 'तण' का। इनके अतिरिक्त 'के द्वारा' का प्रयोग भी हिन्दी में मिलता है, जो इसका अपना विकसित किया हुआ परसर्ग है।

सम्प्रदान में 'की कौं, कूँ' कर्म परसर्गो का प्रयोग होता है तथा साथ ही 'के लिए' तथा 'काज, लागि' आदि के प्रयोग भी मिलते हैं, जो अपभ्रंश लग्गि और 'कज्ज' के रूपान्तर हैं।

अपादान में 'से' का प्रयोग करण का ही है। 'हूँत' परसर्ग का प्रयोग भी अवधी में मिलता हैं, जो अपभ्रंश 'होन्तउ' का ही विकसित रूप है।

सम्बन्ध कारक में खड़ी वोली में 'का, के, की' तथा व्रजभापा में इनके साथ-साथ 'केर, कर, क' आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। इन सवका उद्गम अपभ्रंश 'केरअ, का' आदि से ही हुआ है।

अधिकरण कारक में खड़ी वोली में 'में' तथा व्रज-अवधी में उसके साथ-साथ अपभ्रंश परसर्ग 'मज्झे, मज्झु, मज्झ, माँझ' आदि के प्रयोग भी मिलते हैं। अव हम केवल अपभ्रंश में प्रयुक्त कारक परसर्गो और उनके रूपान्तरों को व्रज तथा खड़ी वोली में खोजने का प्रयत्न करेंगे।

को, कौं, कूँ ये परसर्ग जैसाकि ऊपर वताया जा चुका है 'केहिं' के रूपान्तर लगते हैं :

(१) हउँ झिज्झउँ तउ केहिं (हेम. अपभ्रंश व्याकरण, पृष्ठ १३७)
(२) तव हरि कौं उर ध्याए(हो) (सूर सा. १/७) कर्म कारक
(३) सिव-विरंचि मारन कौं धाय। (सू. सा. १/३) सम्प्रदान कारक
(४) रावन अरि कौ अनुज विभीपन। (सू. सा. १/३) स. का. (सम्भवतः 'केर' का रूपान्तर है)
(५) मैंने राम को पुस्तक दी। (खड़ी वोली)
(६) राम ने रावण को मारा। (खड़ी वोली)

से, सौं, ते, तैं, तौं :

'से' विभक्ति परसर्ग का प्रयोग अपभ्रंश में 'सहुँ' और अवहट्ठ में 'सञ' मिलता है, जो खड़ी वोली में 'से' और व्रजभापा में 'सौं' हो गया :

(१) जइ पवसन्ते सहुं न गयअ (हेम.अपभ्रंश व्याकरण; पाठान्तर, पृष्ठ ११६)
(२) मानिनि जीवन मान सञो वीर पुरुस अवतार। (की. ल. १/२४)
(३) भुजलता फँसा कर नरतरु से। (कामायनी लज्जा), करण कारक
(४) आधो उदर अन्न सौं भरै। (सू. सा. ३/१३) करण कारक

(५) पर्वत सौं इंहि देहु गिराइ। (सू. सा. ७/२) अपादान कारक

(६) वृक्ष से पत्ता गिरता है। अपादान कारक

तैं, ते :

(१) ब्रह्म बाण तैं गर्भ उबारयौ। (सू. सा. १/१४६) करण कारक

(२) लच्छा गृह तैं काढ़ि कै पाण्डव गृह ल्यावै। (सू. सा. १/४) अपादान कारक

(३) साहित्यिक खड़ी बोली में इसके प्रयोग नही होते।

(४) वड्ड तणहो तणेण। (हेम. अपभ्रश व्या.)

का, के, की, कौ :

ये परसर्ग अपभ्रंश 'केरअ, का, कर' आदि के रूपान्तर है तथा अपभ्रंश में इनका प्रयोग बहुलता से मिलता है :

(१) जसु केरअ हुँकार डएँ (हेम. अपभ्रंश व्या., पृ० १३२)

(२) लोचन केरा वल्लहा। (की. ल.)

(३) पद्म करे आकारे।

(४) घर-घर केरे फरके खोलै। (सू. सा. पद २८९६)

(५) दाँत दूधके। (सू. सा. १०/७६)

(६) भादौ की रात। (सू. सा. १०/१२)

(७) केसरि कौ तिलक। (सू. सा. १०/२५)

(८) राम का बेटा, राम की बेटी, राम के बेटे।

मज्झे>माँझ, माँह, मैं, में :

(१) जामहिं विसमी कज्ज गइ जीवहिं मज्झे एइ। (हेम-अपभ्रंश व्या., पृ० २०२)

(२) युवराजन्हि माँझ पवित्र।

(३) गाइनि माँझ भए हौ ठाढ़े। (सू. सा. १०/२४६)

(४) पैठो उदार मँझारि। (सूर सा. ९/१०४)

(५) छिनक माँहि उर नखनि विदार्यौ। (सूर सा. १/१४)

(६) कण्ठ मै मनियाँ बिना पिरोये धागै। (सू. सा. पद ३९७८)

(७) नगर में आज सभा होगी।

उपरि>उप्पर>ऊपर>पर :

(१) सायरू उप्परि तणु धरइ। (हेम. अपभ्रंश व्या., पृ० ११)

(२) आपनि पौढ़ि अधर सेज्या पर। (सू. सा. १०/१०२१)

(३) कापी पुस्तक पर रखी है।

इस प्रकार संज्ञा के क्षेत्र में—कारक रूप, सर्वनाम तथा विशेषण रूप सभी के प्रयोग अपभ्रंश का अनुसरण करते है। कुछ स्थानों पर यों

के यों प्रयोग मिलते हैं पर अधिकतर उनसे विकसित रूपों का ही प्रयोग किया जाता है। पश्चिमी हिन्दी की बोलियों में व्रज और खड़ी बोली ही मुख्य होने के कारण इनके ही उदाहरण प्रस्तुत किए गए है।

नाम अथवा सुवन्तों के पश्चात् पद रचना की दृष्टि से भाषा का महत्त्व-पूर्ण तत्त्व क्रिया है। क्रिया का मूल रूप धातु कहलाता है। क्रिया व्यक्ति की स्थिति और समय को स्पष्ट करती है। संस्कृत में क्रियाओं के रूप दो प्रकार के प्रत्ययों के सहयोग से निर्मित होते थे—(१) तिङन्त प्रत्यय और (२) कृदन्त प्रत्यय। छान्दस और पूर्ववर्ती संस्कृत में तिङन्त प्रत्ययों का अत्यन्त महत्त्व था। क्रिया के सूक्ष्म से सूक्ष्म काल को एवं स्थिति की अभिव्यञ्जना का विधान इन भाषाओं में था। इनके सूचक दस लकारों की स्थापना की गई। साथ ही कुछ काम कृदन्तों से भी निकाला जाता था। संस्कृत के अन्तिम समय तक तिङन्तों का महत्त्व कम होने लगा था तथा कृदन्तों का महत्त्व बढ़ने लग गया था। छान्दस के दस लकार संस्कृत में नौ ही रह गये थे। अपभ्रंश तक आते-आते कालों की सूचक यह संख्या पर्याप्त मात्रा में कम हो गई। कुछ काल कृदन्तज बने और कुछ सहायक क्रियाओं के सहयोग से निर्मित हुए। हिन्दी ने भी अपभ्रंश की इसी प्रक्रिया को अपनाया।

हिन्दी में जिस प्रकार तत्सम नाम शब्द उपलब्ध होते है, उसी प्रकार तत्सम क्रिया शब्द नही मिलते। समस्त क्रिया शब्द तद्भव है और वे प्राकृतों की मंजिल पार कर के आए है। यदि कुछ क्रिया शब्दों के तत्सम रूपों में दर्शन होते भी है तो वे क्रियार्थक संज्ञा के रूप होते हैं और उनके साथ सहायक क्रिया का प्रयोग किया जाता है; यथा—योग करो, दर्शन दो, हरण करता है, आदि आदि।

अपभ्रंश में तिङन्त उद्भूत काल और उनका हिन्दी में विकास

(१) सामान्य वर्तमान काल :

	संस्कृत		अपभ्रंश		हिन्दी (व्रज-अवधी)	
	एक व.	वहु व.	एक व.	वहु व.	एक व.	वहु व.
अन्य पु.	करोति	कुर्वन्ति	करइ	करहिं	करइ/करै/कर,	करहिं/करै
मध्य पु.	करोसि	कुरुथ	करहि	करहु	करहि/करै	करहु/करौ
उत्तम पु.	करोमि	कुर्मः	करउँ	करहुँ	करउँ/करूँ	करहुँ/करें

अन्य पुरुष वहुवचन :

(१) नं मल्ल-जुज्झु ससि राहू करहिं। (प्राकृत व्या., पृ० २१७)
(२) चौहट्ट वट्ट पलट्टि हेरहिं। (की. ल. २/८८)
(३) कौसिल्या आदिक महतारी आरति करहिं। (सू. सा. ९/२९)
(४) निसि वौलै काग। (सू. सा. १/१८६)

मध्यम पुरुष एकवचन :

(१) बप्पीहा पिउ पिउ भणवि कित्तिउ रुअहि हयास। (प्रा. व्या., पृ. २१७)

(२) जाणहि। (प्राकृत पैंगलम्, १/१३२)

(३) तनिक दवि-कारन जसोदा इतौ कहा रिसाहि। (सू. सा. ३५०)

(४) कत जनम वादि ही हारैं। (सू. सा. १/६३)

उत्तम पुरुष बहुवचन :

(१) खग्ग विसाहिउ जहिं लहहुं। (प्रा. व्या., पृ. २१८)

(२) यहै हम तुम सौं चहैं। (सू. सा. ३/६)

खड़ी बोली में सामान्य वर्तमान काल के रूप शतृ प्रत्ययान्त वर्तमानिक कृदन्त के रूपों से विकसित हुए हैं। व्रजभाषा और खड़ी बोली में यह मुख्य अन्तर है कि व्रजभाषा में तिङ् प्रत्ययान्त और कृदन्त प्रत्ययान्त दोनों रूप मिलते हैं, जबकि व्रजभाषा में केवल 'कृत्' प्रत्ययान्त रूप ही उपलब्ध होते हैं।

शतृ प्रत्ययान्त सामान्य वर्तमान काल :

ये अपभ्रंश में धातु के अन्त में 'अत' लगाकर बनाए जाते हैं और फिर कभी अकेले और कभी सहायक क्रिया की सहायता से सामान्य वर्तमान काल का काम लिया जाता है। यही प्रवृत्ति अवधी, व्रज और खड़ी बोली में प्राप्त होती है :

(१) जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि। (प्रा. व्या. २१९)

(२) कहु होअ अइसनो आस, कइसे लागत आँचर बतास।
(की. ल. २/१५०)

(३) पूछे तैं तुम वदन दुरावत। (सूर. सा. १०/२७९)

(४) कैसे विखरती हैं मणिराजि। (कामायनी आशा सर्ग)

तिङन्त प्रत्यय से व्युत्पन्न भविष्यत् काल :

अपभ्रंश में तिङन्त प्रत्ययों से दो प्रकार के रूप बनते हैं। एक तो 'स्य' के विकसित 'स' युक्त रूप और द्वितीय 'स' के स्थान पर 'ह' युक्त रूप :

	संस्कृत	अपभ्रंश		हिन्दी
अन्य पु.	करिष्यति/करिष्यन्ति	करिसहि/करिसहि	एक व.	करसी/करिहइ/करिहै
		करिहइ करिहहि	बहु व.	करसी/करिहहिं/करिहैं
मध्य.पु.	करिष्यसि/करिष्यथ	करिसहि/करिसहु करिहहि/करिहहु	एक व.	करसी/करिसहि/ करिहहि/करिहै
			बहु व.	करस्यो/करिसहु/ करिहहु/करिहौ
उत्तम पु.	करिष्यामि/करिष्यामः	करिसउँ/करिसहुं करिहउँ/करिहौ	एक व.	करस्यूं/करिसहुं/ करिहउँ/करिहहुं
			बहु व.	करसीं/करिसहुं/ करिहहुं/करिहैं

(१) जं अच्छइ तं माणिअइ होसइ करतु म अच्छि। (प्राकृत व्या. २१६)
(२) होणा होसइ एक्क पइ वीर पुरिप उच्छाह। (की. ल. २/५६)
(३) बरस चतुरदस भवन न बसिहैं। (सूर सा. ६/४३) उत्तम पु. बहु व.
(४) तै हूँ जो हरि-हित तप करिहै। (सूर सा. ४/६) मध्म पु. एक व.
(५) हरि करिहै कलंकि अवतार। (सूर सा. १२/३) अन्य पु. एक व.

खड़ी वोली में हिन्दी में भूतकालिक कृदन्त प्रत्यय के साथ 'गा, गे, गी' सहायक क्रिया लगा कर सामान्य भविष्यत् काल के रूप निष्पन्न किए जाते हैं। 'गा, गे, गी' की व्युत्पत्ति अभी तक सन्देह का विपय वनी हुई है। फिर भी विद्वान् इसका विकास 'हो' और 'गा' दो भिन्न क्रियाओं से बताते है। इसका सन्तोपजनक हल अभी प्राप्त नहीं हुआ है। इस प्रकार के प्रयोग न तो अपभ्रंश में ही और न अवहट्ट में ही प्राप्त होते हैं। यह केवल पश्चिमी हिन्दी की ही विशेपता है :

(१) जो कुछ हो मैं न सम्हाल सकूँगा इस मधुर भार को, जीवन के।
(कामायनी)
(२) मैं निज प्राण तजौंगी। (सूर सा० ६/१४६)

सामान्य भूत :

हिन्दी में सामान्य भूत की निष्पत्ति संस्कृत के 'क्त' प्रत्यय से युक्त घातु के तद्भव रूप से होती है। यथा : गतः>गअ>गया; आदि :

(१) अम्बणु लाइवि जे गया। (हेम. ४/३७६)
(२) पुरुप हुअउँ वलिराय जासु कर कन्न पसारिअ। (की. ल. १/४०)
(३) आयो घोप बड़ो व्यापारी। (भ्रमरगीतसार)
(४) राम गया। (खड़ी बोली)

उक्त प्रक्रिया की तरह अवधी में विशेप रूप से और व्रजभापा में साधारण तौर से 'तव्यत्' प्रत्ययान्त शव्द भी देखे जाते है जो भविष्यत् काल के सूचक होते है। इस प्रकार के प्रयोगों को अपभ्रंश में देखा गया है :

(१) मह्नु करिएउँ किं। (हेमचन्द्र ४/४३८)
(२) जइ साहसहु न सिद्धि हो झंप करिव्वहुँ काह। (की. ल. ३/६०)
(३) रामचन्द्र के पुत्र विना मैं भूँजब क्यों यह खेत। (सूर सा. ६/३६)

इसके अतिरिक्त पूर्वकालिक क्रियाओं एवं क्रियार्थक संज्ञाओं के क्षेत्र में भी पश्चिमी हिन्दी ने अपभ्रंश का ही अनुसरण किया है। अपभ्रंश पूर्वकालिक क्रिया के लिए 'इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु' प्रत्ययों का विधान मिलता है जिनमें से खड़ी वोली में 'अ' वाला रूप मिलता है उसके साथ 'कर' शव्द का प्रयोग किया जाता है। व्रजभापा में 'इ' अन्त

वाले रूप का अत्यधिक मात्रा में प्रयोग किया गया है, 'अ' वाले रूप भी मिलते है :

(१) राम भोजन करके तथा पुस्तक लेकर पाठशाला गया।

(२) वीचहिं बोलि उठे हलधर। (सूर सा. १/७)

क्रियार्थक संज्ञाओं में 'आ, अ, अन्त और व' अन्त शब्दों के प्रयोग खड़ी बोली व्रजभाषा में मिलते है :

(१) आज चलना उचित नही है।

(२) उसने प्रातः गमन किया।

(३) दोष देन को नीको। (सूर सा. १/१८६)

(४) खैबो को कछु भाभी दीन्हो। (सूर सा. पद ४२५५)

इस तरह स्थूल रूप से पश्चिमी हिन्दी और अपभ्रंश की मुख्य-मुख्य विधाओं की तुलना के पश्चात् यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पश्चिमी हिन्दी का उद्‌भव पश्चिमी अपभ्रश से हुआ है, जो मध्यदेश की साहित्यिक एवं अखिल भारतीय भाषा थी।

यह निश्चय हो जाने के पश्चात् कि पश्चिमी हिन्दी और पूर्वी हिन्दी का उद्‌भव परवर्ती पश्चिमी अपभ्रंश से हुआ है, जो लगभग २०० वर्षो तक संक्रान्ति काल की भाषा के रूप में भारतीय जनों की संस्कृति एवं साहित्य की एकमात्र भाषा के रूप में कार्य करती रही। लगभग चौदहवी एवं पन्द्रहवी शताब्दी की नव्य भारतीय आर्य भाषाएँ अपने पूर्ण उत्कर्ष के साथ प्रकाश में आई। मध्यदेश एवं पश्चिमी प्रदेशों में व्रजभाषा नाम से पश्चिमी हिन्दी की एक शाखा साहित्य की भाषा के रूप में स्वीकार की गई। अब हमें यह देखना है कि इस भाषा अथवा इस प्रदेश की भाषाओ के लिए हिन्दी शब्द का प्रयोग कब, किस प्रकार एवं किन परिस्थितियों में प्रारम्भ हुआ ?

'हिन्दी' शब्द का निर्वचन

'हिन्दी' शब्द की निरुक्ति क्या है ? इस बात पर सभी विद्वान् एक मत है कि हिन्दी शब्द फारस और ईरान के निवासियों की देन है। भारत का सर्वप्रथम नाम सिन्धु प्रदेश था। वेदों मे सप्तसिन्धु प्रदेश की महिमा का गान इस बात का प्रमाण है कि वे इसी प्रदेश को अपना राष्ट्र स्वीकार करते थे। इसी शब्द का प्रयोग हमें जेन्द अवस्ता मे भी उपलब्ध होता है। उस नाम में विशेषता यह है कि वहाँ पर 'स' के स्थान पर 'ह' पाया जाता है। भाषा-वैज्ञानिकों का अभिमत है कि भारत में जिन शब्दों में आदि एवं मध्य में 'स' मिलता है, फ़ारसी में उन्ही शब्दों में वहाँ पर 'ह' होता है। अतः नियम बना कि 'स' को फारसी में 'ह' आदेश हो जाता है। इसी नियम के अधीन

भारतीय 'सिन्धु' शब्द फ़ारसी में 'हिन्दू' हो गया और हिन्द' भी हुआ। 'हिन्द' में रहने वाले को वहाँ पर 'हिन्दी' कहा जाने लगा और इस प्रकार सर्वप्रथम इस शब्द का उद्भव ईरान अथवा फ़ारस में हुआ और मुसलमान आक्रमण-कारी इस शब्द को लेकर लगभग सातवीं अथवा आठवीं शताब्दी में भारत पहुँचे। प्रमाण में तर्क उपस्थित किया जाता है कि ग्रीक में इसका पर्याप्तवाची 'इन्दिके, इन्दिका' मिलता है तथा निवासियों के लिए 'इन्दोई' मिलता है जो लैटिन में जाकर 'इण्डिया' और 'इण्डयन' शब्द बने। यह विकास भारतीय आर्य परिवार के लिए ज्ञात किए गए विकास के नियमों के अधीन सही उतरता है। अतः 'हिन्दी' शब्द 'सिन्धी का ही फ़ारसी रूपान्तर है जो यहाँ के निवासियों के लिए प्रयोग में लाया जाता था। इस अर्थ में इसका प्रयोग अमीर खुसरो और 'इक़बाल' ने किया है। हाब्सन-जाब्सन कोष में अमीर खुसरो का एक प्रसङ्ग दिया है, जिसमें लिखा है—बादशाह ने हिन्दुओं को तो हाथी से कुचलवा डाला; किन्तु मुसलमान, जो हिन्दू थे, सुरक्षित रहे, (हाब्सन जाब्सन कोष, पृष्ठ ३१५)[4] इस प्रकार भारत में उत्पन्न मुसलमानों के लिए 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग हुआ है। इसी प्रकार 'इक़बाल' की यह पंक्ति—"हिन्दी हैं हम वतन है हिदोस्ताँ हमारा"—अत्यन्त लोकप्रिय है। इसमें भी 'हिन्दी' शब्द का प्रयोग यहाँ के निवासियो के लिए ही किया गया है, भाषा के लिए नहीं।

डॉ. रामविलास शर्मा ने 'भाषा और समाज' पुस्तक में एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न उठाया है कि 'स' का 'ह' फ़ारसी की देन मानना अनुपयुक्त है। इसके लिए उन्होंने तीन महत्त्वपूर्ण तर्क उपस्थित किए हैं—

(१) फ़ारसी में 'स' से युक्त, आरम्भ एवं मध्य में अनेक शब्द मिलते हैं और आपने ऐसे शब्दों की एक लम्बी सूची भी दी है, तब फिर 'सिन्ध' के 'स' का उच्चारण ही उनके लिए दुर्बोध क्यों हुआ ?

(२) 'स' के 'ह' में परिवर्तन हो जाने के अनेक उदाहरण वैदिक भाषा से लेकर आज तक की भारतीय भाषाओं में मिलते हैं। अतः इसका उद्गम फ़ारस से क्यों माना जाता है, यहीं से क्यों नहीं ?

(३) आपका तृतीय तर्क निश्चय ही महत्त्वपूर्ण है और भाषा-वैज्ञानिकों को इस पर सहानुभूति के साथ विचार करना चाहिए। वह है—'ह' का 'स' में परिवर्तन प्राचीन है अथवा 'स' का 'ह' में परिवर्तन। आपने लिखा है—'असम' शब्द अहम का रूपान्तर है—जिसकी सम्भावना अधिक है—या असम का

---

[4] "हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास" डॉ. उदयनाराण तिवारी के आधार पर, पृ० १८६।

रूपान्तर अहम।[5] एक अन्य स्थान पर लिखते हैं—'ह्' ध्वनि का जैसा व्यापक प्रभाव भारत में—वैदिक काल से लेकर अब तक—बना हुआ है, वैसा योरप के किसी क्षेत्र में नहीं है। यह महाप्राणता भारतीय भाषाओं की अपनी विशेषता है।'[6]

उपर्युक्त तीनों कारणों का यदि विवेचन करें तो निष्कर्ष निकलता है कि इनमें प्रथम दो कारण अधिक सबल नहीं है, क्योंकि 'सिन्धु' का 'हिन्दु' उच्चारण यह नहीं कहता कि अमुक भाषा में 'स' ध्वनि है ही नहीं। भारत की उन भाषाओं का, जिनमें 'स' का विकार 'ह' मिलता है, विश्लेषण करें तो प्रतीत होगा कि उनमें 'स' ध्वनि भी विद्यमान है और 'स' 'ह' भी हुआ है। हिन्दी को ही लीजिये। इसमें जहाँ 'दस' मिलता है, वहाँ 'दसला' और 'दहला' दोनों शब्द मिलते हैं, इसी प्रकार राजस्थानी में यदि 'सड़क' 'हड़क' हो जाती है तो 'किसो, किहो' नहीं होता और 'सगला' और 'सैं' शब्द विद्यमान हैं। दूसरे तर्क के सम्बन्ध में यह कहना है कि भारतीय भाषाओं में यदि प्राचीनकाल से 'स' का विनिमय मिलता है तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं होगा कि वह विनिमय 'सिन्धु' शब्द में भी हो ही। अनेक शब्द ऐसे हैं जिनमें हुआ है और अनेक शब्द ऐसे है जिनमें नहीं हुआ। तृतीय तर्क निश्चय ही विचारणीय है। पर डॉ. साहब इसके प्रति अधिक उत्सुक दृष्टिगोचर नहीं होते। इसके दो कारण हो सकते हैं—डॉक्टर साहब के मस्तिष्क का यह विचार है कि आर्य भारत में बाहर से आए और दूसरा यह कि योरोपियन भाषाएँ कुछ मात्रा में छान्दस की अग्रजा हैं। यदि इन दोनों विचारों से अप्रभावित रह कर विचार किया जाए तो सम्भवतः समस्या का समाधान हो सकता है। 'अस्मद्' शब्द का विकसित रूप 'अहम्' है अथवा 'अहम्' शब्द मूल है, निश्चय ही विचारणीय है। साथ ही इस बात पर विचार करना असंगत नहीं होगा—कि 'हिन्दू' शब्द ईरान से यहाँ पर आया अथवा ईरान में यहाँ से गया और आजकल के विदेश में गए नवयुवकों की तरह वहीं पर बस गया। पाणिनि की अष्टाध्यायी का भी इस परिप्रेक्ष्य में पुनः अध्ययन करना अपेक्षित है। मैं इसके लिए यह तर्क प्रस्तुत करता हूँ कि आधुनिक राजस्थानी, गुजराती आदि भाषाओं का यदि हम अध्ययन करें तो प्रतीत होता है कि 'ह' का उच्चारण शुद्ध न होकर विसर्गवत् होता जा रहा है। डॉ. चाटुर्ज्या ने 'राजस्थनी भाषा' पुस्तिका में काफ़ी विस्तार से इस बात की चर्चा की है। इसी विसर्ग का मिलान कीजिये। पाणिनि के 'विसर्जनीयस्य सः' सूत्र से विसर्गो का 'स' में परिवर्तन हो जाता है। मेरी दृष्टि में वेदों की

---

5 भाषा और समाज—डा० रायबिलास शर्मा।

6 वही—डा० रामविलास शर्मा।

रचना से भी बहुत पहले आर्य इस प्रदेश के लिए 'हिन्दू' शब्द का प्रयोग करते रहे होंगे और कालान्तर में उच्चारण की शिथिलता के कारण विसर्गों की मंजिल को पार करता हुआ यह 'ह' 'स' में परिवर्तित हो गया होगा। हमारे लिए यह शब्द प्राचीन होने के कारण विस्मृत हो गया और ईरान में सुरक्षित रहा हो, जिसे वे अलग होते समय अपने साथ ले गए थे। पुनः आक्रमण के समय ये लोग इस शब्द के साथ अपनी मातृभूमि में प्रविष्ट हुए और यह शब्द भारतीय होते हुए भी विदेशी सिद्ध हुआ। हाँ, यह तो हुई सैद्धान्तिक बात, व्यावहारिक रूप में हमें यह स्वीकार करने में किञ्चित् भी नहीं लजाना चाहिये कि इस युग में 'हिन्दी' शब्द का जो प्रयोग जिस अर्थ में हम कर रहे हैं, वह मुसलमान आक्रान्ताओं की देन है और उसे प्रसिद्ध करने में अंग्रेज मिशनरियों का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है।

हिन्दी के प्रारम्भ एवं प्रयोग की कहानी

भाषाविदों का मत है कि नव्य भारतीय आर्य भाषाओं का वर्तमान स्वरूप लगभग पन्द्रहवीं-सोलहवीं-शताब्दी में प्रकाश में आया। इससे पूर्व ये जन-भाषाओं के रूप में पनप रहीं थीं। अमीर खुसरो पहला व्यक्ति था, जिसने हिन्दी के महत्त्व को जाना तथा स्वीकार किया। उन्होंने मुसलमान लेखक 'मस्उद इब्न सा' द का उल्लेख किया है, जिसके पास अरबी, फ़ारसी के दीवानों के साथ हिन्दी में रचित दीवान (कविता संग्रह) भी थे। लेकिन उन दीवानों की भाषा का स्वरूप क्या रहा होगा, कुछ कहा नहीं जा सकता, पर हिन्दी का यह प्राचीनतम उल्लेख है। उसकी मृत्यु ११२५ से ११३० ई० के बीच हुई। अमीर खुसरो ने स्वयं और कबीर, नानक आदि कवियों ने अन्य भाषाओं के मिश्रण के साथ खड़ी बोली में रचनाएँ की हैं; पर तत्काल ही हिन्दू समाज का ध्यान इस भाषा पर से उठ गया। एक ऐसी धार्मिक उत्क्रान्ति आई कि लगभग समस्त भारत उससे प्रभावित हो गया। कृष्ण-भक्ति की मधुरिमा ने द्वापर में चाहे गोपियों को मोहित न किया हो पर इस युग में उसके यशोगान ने पूर्व में बंगाल से लेकर पश्चिम में गुजरात तक और उत्तर में पंजाब से लेकर दक्षिण में महाराष्ट्र तक के लोगों को विमोहित कर डाला। कृष्ण-भक्त कवियों ने भगवान् श्रीकृष्ण की जन्मभूमि 'मथुरा' की भाषा को अपने आराध्य के संकीर्तन की माध्यम भाषा बनाया। इस प्रकार व्रजभाषा का प्रभाव चारों ओर फैलने लगा। यद्यपि इसके समानान्तर अवधी भी उठ खड़ी हुई, पर वह अधिक आगे न बढ़ सकी। व्रज के प्रभाव का सबसे महत्त्वपूर्ण प्रमाण यह है कि भारत के शहंशाह अकबर ने स्वयं उसमें काव्य-रचना की। रहीम खानखाना अकबर के दरबार का एक बड़ा अधिकारी व्रजभाषा का महत्त्वपूर्ण कवि माना जाता है। डॉ. चाटुर्ज्या के मतानुसार व्रजभाषा सही अर्थों में

शाही भाषा कही जा सकती है। इधर हिन्दू लोग और उत्तर भारत के अनेक मुसलमान व्रजभाषा का साजोश्रृंगार कर रहे थे, उधर दक्षिण में उत्तर भारत से गए मुसलमान लोग, जो अपने साथ दिल्ली और उसके आसपास तथा पंजाव की वोली को ले गए थे, उसका पोषण कर रहे थे। वास्तव में मुसलमान जव भारत में आए, तव वे पंजाव के रास्ते से दिल्ली आए थे। अतः इनके दो प्रमुख केन्द्र वने—पंजाव में लाहौर और इधर दिल्ली। यहां के निवासियों से वातचीत के लिए उनको यहाँ की भाषा सीखना अनिवार्य था। अतः उन्होने फ़ारसी मिश्रित लाहौरी और विशेषतः दिल्ली की भाषा का प्रयोग परस्पर में वार्तालाप के लिए करना आरम्भ किया। इसी मिश्रित भाषा को लेकर वे दक्षिण में पहुँचे। अव उनके सामने दो कठिनाइयाँ आईं—(१) वह फ़ारसी पढ़ नहीं सकते थे, क्योंकि वे अपने देश से दूर आ गए थे। (२) दक्षिण के लोगों में अपने आपको आत्मसात् नहीं करना चाहते थे। अतः इन दोनों कठिनाइयों का समाधान अपने साथ लाई भाषा के साथ अपने आपको चिपकाए रखने में ही दिखाई दिया। अतः फ़ारसी लिपि में लिखित वहुत कम फ़ारसी शब्दों से युक्त पश्चिमी हिन्दी की यह शाखा, उन लोगों के विचार-विनिमय का साधन ही नहीं साहित्य की भाषा भी वन गई। गोलकुण्डा इस भाषा का साहित्यिक केन्द्र वना तथा **मुल्ला वज्ही** ही इसके सवसे वड़े पहले कवि हुए। उनका काव्यकाल सत्तरहवीं शताव्दी का मध्यकाल रहा है। १६०९ में क़ुत्व मुश्तरी और १६३४ में सव-रस गद्य ग्रन्थ का निर्माण उन्होंने किया। वे लोग इसे 'हिन्दूवी या हिन्दुई' कहते थे तथा दक्षिण के लोग उसे मुसलमानी भाषा। क्योंकि दक्षिण में इस भाषा का प्रयोग केवल वहाँ के मुसलमान ही अधिकतर करते थे। उनके साथ-साथ **कुली कुत्व शाह** का नाम भी उल्लेखनीय है। कहने का तात्पर्य यह है कि १७वीं शताव्दी के अन्त तक देशी छन्दों एवं भारतीय संस्कृति के अनुरूप इस भारतीय भाषा में हिन्दी साहित्य की मुसलमान विना किसी लाग-लपेट के उसी प्रकार सेवा कर रहे थे, जिस प्रकार सूफ़ी कवि अवधी भाषा की। उन्हीं दिनों **शाह बुरहान** भी साहित्य साधना में रहते थे और उन्होंने अकेले ९ ग्रन्थों की रचना की और अपनी भाषा को 'गूजरी' कहा, पर डॉ. चाटुर्ज्या का मत है कि वह खड़ी बोली हिन्दी ही थी तथा गूजरों के प्रभाव स्वरूप वह नाम इसे दे दिया गया था।

औरंगज़ेब के शासनकाल में जब लगातार दक्षिण पर आक्रमण किया गया, तब दक्षिण वालों ने सैनिकों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली भाषा को 'उर्दू' कहा। या यों कहिए कि उत्तर भारतीयों ने उन सैनिकों से अपनी भाषा के पार्थक्य को प्रदर्शित करने के लिए उसे 'उर्दू' नाम दिया।

'उर्दू' एक तुर्की शब्द है जिसका अर्थ होता है 'राजा का क़िला या सैनिकों

का शिविर या सेना के सबसे बड़े आदमी का तम्बू। इस प्रकार इस अर्थ के साथ-साथ उर्दू शिविर के लोगों की भाषा का भी अर्थ द्योतन कराने लगी।

१८वीं शताब्दी के अन्त में उत्तर के मुसलमानों की बोलचाल की भाषा वहाँ पर पहुँची तो वहाँ पर बोलियों का संघर्ष प्रारम्भ हुआ। उनकी भाषा को दक्खिनी हिन्दी तथा उत्तर वालों की बोली को शिमाली उर्दू कहा गया। उत्तर वालों को वहाँ के साहित्यिक उत्कर्ष ने अत्यन्त प्रभावित किया और यही कारण है कि जब उत्तरी बोली अथवा शिमाली उर्दू के प्रथम कवि 'वली' दक्षिण जाकर दिल्ली लौटे तो उनका अत्यन्त स्वागत किया गया। उस समय तक फ़ारसी युक्त दिल्ली की भाषा राज-दरबार की भाषा का स्थान ग्रहण कर चुकी थी। इसके प्रथम कवि 'वली' की रचनाओं का यदि अवलोकन किया जाए तो ज्ञात होगा कि उसमें फ़ारसी के शब्द अत्यन्त कम मात्रा में कहीं-कहीं बिखरे हुए से मिलते हैं। इसीलिए इनकी भाषा को 'रेख़ता' या 'रेख़्ती' नाम दिया गया।

वली के दिल्ली में बस जाने के बाद दिल्ली उर्दू साहित्य का एक प्रमुख केन्द्र बन गया। 'सौदा' और 'मीर' जैसे उच्च कवियों ने अपनी प्रतिभा का योगदान उसमें दिया। कुछ समय बाद लखनऊ और रामपुर भी उसके केन्द्र बने और उर्दू दिन-दुगुनी रात-चौगुनी उन्नति करने लगी। उसके अनेक परिणाम निकले। फ़ारसी लिपि में होने तथा राजघरानों द्वारा अपना लिए जाने के कारण 'उर्दू' मुसलमानों की धार्मिक और सांस्कृतिक भावनाओं की सूचिका भाषा बन गई। फलतः दक्षिण के मुसलमानों की तरह इसमें भारतीय वातावरण की अवतारणा के स्थान पर फ़ारस और अरब के वातावरण का चित्रण किया जाने लगा। सापेक्षित रूप में फ़ारसी और अरबी के शब्दों की बहुलता दृष्टिगत होने लगी। ग़ालिब जैसे शायरों की शायरी 'उर्दू' के स्थान पर फ़ारसी का सा रूप धारण करने लगी। फिर भी यह कहा जा सकता है कि अब तक इस भाषा ने साम्प्रदायिक एवं ईर्ष्यालु रूप धारण नहीं किया था। इधर हिन्दू लोग इसे यामनी या जामनी भाषा (लिपि के कारण) समझकर अपना नहीं रहे थे और ब्रज का मोह छोड़ने को भी तत्पर नहीं थे। उधर 'उर्दू' फ़ारसी साहित्य के आधार पर समृद्ध होती जा रही थी। इसके लखनऊ केन्द्र ने अवधी भाषा के सिंहासन को हिला दिया था।

१९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में हिन्दुओं का ध्यान भी अपनी इस आकारान्त भाषा की ओर गया और मुन्शी सदासुखलाल ने सुखसागर का १८०३ ई० के लगभग प्रणयन किया और इस प्रकार दक्खिनी हिन्दी का दूसरा रूप साहित्य के रंगमञ्च पर उपस्थित हुआ। यद्यपि सं. १७९८ का रामप्रसाद निरंजनी कृत योगवासिष्ठ का भाषानुवाद मिलता है; किन्तु हिन्दी गद्य का प्रारम्भ

मु० सदासुखलाल से ही माना जाता है। जान गिलक्राइस्ट ने फोर्ट विलियम कालेज में उर्दू और हिन्दी के दो विभाग स्थापित किए और हिन्दी के लिए सदल मिश्र और लल्लूलाल को नियुक्त किया था। तत्पश्चात् राजा शिवप्रसाद 'सितारे हिन्द' और राजा लक्ष्मणसिंह रंगमञ्च पर उपस्थित हुए। यह समय था जब हिन्दी और 'उर्दू' का विवाद प्रारम्भ हुआ। राजा लक्ष्मणसिंह को लिखना पड़ा—"हिन्दी और 'उर्दू' दो बोली न्यारी न्यारी हैं" यह कथन भाषा-वैज्ञानिक तथ्य को नही, अपितु तात्कालिक धार्मिक भावना को ही अधिक मात्रा मे व्यक्त करता है।

हिन्दी उर्दू विवाद

जैसा कि पहले कहा गया है कि प्रारम्भ में दक्खिनी हिन्दी की लिपि और लेखक चाहे इस्लाम से सम्बद्ध थे, पर उनके द्वारा व्यक्त भावनाएँ पूर्णतः भारतीय थी। जब अंग्रेज यहाँ पर आए और सन् १८५७ में उन्हें भयंकर विरोध का साम्मुख्य करना पड़ा तो कूटनीतिज्ञ अंग्रेजों की पैनी दृष्टि से यह छुपा न रह सका कि भारत में शासन करने के लिए हिन्दू-मुस्लिम वैमनस्य परमावश्यक है। अतः उन्होने प्रारम्भ मे ही हिन्दी और उर्दू को दो सम्प्रदायों की भाषा करार दे दिया और शिक्षा के क्षेत्र मे उर्दू को स्थान दे दिया और हिन्दी को अविकसित एवं गँवारू कहकर टाल दिया। इससे हिन्दुओं की भावनाएँ अत्यन्त पीड़ित हुई और वे संस्कृत शब्दावली का आश्रय लेकर नागरी हिन्दी की समृद्धि हेतु जी-जान से जुट गए। परिणामतः हिन्दी संस्कृत बहुला और उर्दू, अरबी, फ़ारसी बहुला भाषाएँ हो गई। इस प्रकार एक ही भाषा दो शैलियों वाली होने के कारण दो भाषाओं के रूप में सामने आई।

भारतीय कॉंग्रेस की स्थापना १८८५ ई० मे हुई थी, किन्तु उस समय उसका उद्देश्य सामान्य था। धीरे-धीरे यह संस्था भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम की ओर अग्रसर हुई। इस संघर्ष मे सफलता प्राप्त करने के लिए भारत की भावनात्मक एकता की नितान्त आवश्यकता थी। भाषा उसमे अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। अतः महात्मा गाँधी के द्वारा कॉंग्रेस की बागडोर अपने हाथों में सम्भाल लिए जाने के पश्चात् उन्होने श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन को लिखा था—"मेरे लिए हिन्दी का प्रश्न तो स्वराज्य का प्रश्न है।" फलतः महात्मा गाँधी का हिन्दी साहित्य सम्मेलन मे प्रवेश हुआ और उनके प्रयत्नों के फल स्वरूप 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' का गठन हुआ तथा हिन्दीतर भाषा-भाषी प्रदेशों में हिन्दी का प्रचार कार्य ज़ोरो से प्रारम्भ हो गया। सन् १९२६ में कॉंग्रेस का कानपुर अधिवेशन हुआ, जिसमे श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन का यह प्रस्ताव कि 'कॉंग्रेस की समस्त कार्य-विधि हिन्दुस्तानी में सम्पन्न हो' पारित किया गया। इस प्रकार हिन्दी और उर्दू के धार्मिक विवाद में हिन्दुस्तानी

भाषा का नवीन समावेश हुआ। १९३६ ई० में जब उपरिकथित समिति का गठन किया गया तो मुसलमानों ने 'अंजुमन तरक्किए उर्दू' की स्थापना दिल्ली में की। कहने का तात्पर्य यह है कि विवाद बढ़ता ही गया तो गाँधी जी को हिन्दुस्तानी की नवीन परिभाषा एक्य बनाए रखने के लिए निश्चित करनी पड़ी। बाबर के द्वारा जिस अर्थ में हिन्दुस्तानी भाषा का प्रयोग किया गया था, अब वह उस अर्थ में नहीं रह गई थी। इसका परिणाम यह भी हुआ कि बंगाल की बंगला में मुसलमान लोग अधिक से अधिक फ़ारसी और अरबी के शब्दों का प्रयोग करने लगे थे। स्थिति यह हुई कि हिन्दी और उर्दू एक राजनीतिक प्रश्न बन गया। स्वयं कांग्रेस में इससे सम्बन्धित कार्य को सन्देह की दृष्टि से देखा जाने लगा। कुछ व्यक्तियों में यहाँ तक गिरावट आई कि एक-एक शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की जाने लगी। डॉ० चाटुर्ज्या ने घटना उद्धृत की है जो इस प्रकार है "राष्ट्रीय भारतीय कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित एक प्रचलित शिक्षा पद्धति के विषय में 'विद्या मन्दिर' शब्द का प्रयोग साम्प्रदायिक मनोभावना का अच्छा उदाहरण है। कट्टरता वादी मुसलमानों द्वारा इसका विरोध किया गया, क्योंकि वे इसके स्थान पर बैत-उल-इल्म चाहते थे। फिर बीच का सुझाव 'पढ़ाई घर' लाया गया। आगे अपना मन्तव्य देते हुए डाक्टर साहब ने लिखा है कि 'पढ़ाई घर' शब्द से व्यक्त होने वाले विचार इतने मामूली तथा साधारण श्रेणी के होते हैं कि उनसे किसी को सन्तोष नहीं होता।"[7] इस प्रकार का भानुमती का कुनबा भाषा के विकास के लिए श्रेयस्कर नहीं होगा।

उपर्युक्त समस्त विवाद के पीछे पाकिस्तानी मनोभावनाएँ तो कार्य निरत थीं ही, साथ ही अप्रत्यक्ष रूप से आंग्ल भाषा को इस विवाद से सर्वाधिक लाभ पहुँच रहा था। यह इसी विवाद का परिणाम है कि आज भी यह शर्मनाक भाषा हमारे सिर पर सवार है तथा इसके हामी केवल उँगलियों पर गिने जाने लायक़ भी नहीं हैं। अब समय आ गया है कि हिन्दी और उर्दू आपस में गले से मिल जाएँ और राष्ट्र को एक बहुत बड़ी परेशानी से बचा लें।

---

[7] भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १७९।

दशम अध्याय

हिन्दी ध्वनियाँ : स्वरूप और विकास

ध्वनि से तात्पर्य—ध्वनि और स्फोट—ध्वनि की उचित परिभाषा—हिन्दी की स्वर और व्यञ्जन ध्वनियाँ—स्वर ध्वनियों के वर्गीकरण की प्रणालियाँ—स्वर ध्वनियों का स्वरूप—व्यञ्जन ध्वनियों के वर्गीकरण की प्रणालियाँ—व्यञ्जन ध्वनियों का स्वरूप—स्वर ध्वनियों की उत्पत्ति—व्यञ्जन ध्वनियों की उत्पत्ति।

ध्वनि

ध्वनि सिद्धान्त को लेकर प्राचीन भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टिकोण से विचार-विमर्श हुआ है। यद्यपि इस सिद्धान्त के अग्रज वैयाकरण ही रहे है,[1] तथापि काव्य-शास्त्रियों एवं दार्शनिकों का भी कम योगदान इसमें नहीं रहा है। इनमें अन्तर केवल विषय के दृष्टिकोण का ही है। काव्य-शास्त्री इसका सम्बन्ध व्यङ्ग्य के साथ जोड़ते है और वैयाकरण अर्थ के साथ। वैयाकरणों के अनुसार 'शब्द' भाषा का शरीर है तो अर्थ उसकी आत्मा है। अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध हो जाता है। शब्द और अर्थ का उक्त सम्बन्ध स्थापित हो जाने के पश्चात् वैयाकरणों के समक्ष यह समस्या उत्पन्न हुई कि शब्द से अर्थ का बोध तो होता है, परन्तु बोध का माध्यम क्या है ? फलतः "स्फोटवाद" का आविर्भाव हुआ। स्फोट का निर्वचन इस प्रकार किया गया—'स्फुटति अर्थः यस्मात् सः स्फोटः' अर्थात् जिससे अर्थ का प्रस्फुटन होता है, वह स्फोट है। पर्याप्त विचार-विमर्श के पश्चात् वैयाकरण इस निर्णय पर पहुँचे कि वे वर्ण जो स्फोट को उत्पन्न करते है, ध्वनि है। भर्तृहरि ने स्फोट के तीन भेद करते हुए 'शब्दज' स्फोट को ध्वनि बताया है—

> "यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते।
> स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः ॥[2]

अर्थात्—वाग् यन्त्रों के संयोग और वियोग से जो शब्दज शब्द का स्फोट होता है वह ध्वनि है। इस प्रकार स्फोटज शब्द तीन प्रकार के हो जाते है—(१) संयोगज शब्द, (२) वियोगज शब्द और (३) शब्दज शब्द। शब्द का प्रारम्भिक रूप या तो संयोगज होता है अथवा वियोगज, किन्तु इनका जो अन्य रूप हमें सुनाई देता है, वह वही का वही न होकर उससे निसृत होता है, अतः शब्दज शब्द अर्थात् शब्द से उत्पन्न शब्द कहलाता है। यहाँ पर प्रयुक्त 'शब्द'

---

[1] "प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः व्याकरणमूलत्वात् सर्वविज्ञानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तान् मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचक—संमिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्व-साम्याद् ध्वनिरित्युक्तम्…इत्यादि।

(ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत तेरहवी कारिका—भाष्य)

[2] डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन कृत हिन्दी भाषा, पृष्ठ १४।

किया है) और इस प्रकार वर्णों का जन्म होता है[5] और श्रोता उसे सुन लेता है। वह श्रवण ही ध्वनि है और उसका अर्थबोध ही स्फोट है। आधुनिक भाषा-शास्त्री आत्मा तथा अन्तःकरणों की उपेक्षा करते हुए केवल वायु-विकृति को ही ध्वनि की संज्ञा देते हैं। डॉ. बाबूराम सक्सेना ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार करते हैं—"मनुष्य जीवन भर निरन्तर श्वास लेता है और बाहर फेंकता रहता है, जिस श्वास को हम बाहर फेंकते हैं उसी की विचित्र विकृति से ध्वनियों की सृष्टि होती है।"[6] इसी प्रकार प्रसिद्ध ध्वनिवेत्ता श्री के. एल. पाइक लिखते हैं—"मनुष्य के फेफड़ों से निसृत होने वाली वायु से ध्वनियों की सर्जना होती है। वास्तव में इस वायु की सहायता से हँसना, छींकना, खाँसना और सीटी बजाना आदि अनेक प्रकार की ध्वनियाँ निर्मित होती हैं।"[7] प्रायः सभी आधुनिक भाषाविद् इसी प्रकार ध्वनि की परिभाषा करते हैं, परन्तु इसमें एक बहुत बड़ा दोष यह रह जाता है कि श्वास तो हम प्रतिक्षण लेते रहते हैं, किन्तु प्रतिक्षण ठीक उसी प्रकार की जिस प्रकार की ध्वनियाँ हमारी विवेच्य हैं, उत्पन्न नहीं होतीं। अतः 'आत्मा, मन, बुद्धि आदि में से किसी न किसी प्रवृत्ति का अस्तित्व तो हमें स्वीकार करना ही पड़ेगा, जिससे इच्छित ध्वनियों की अभिव्यक्ति की समस्या समाधित हो सके। हाँ, स्थूल में यह कहा जा सकता है कि मुख-विवर से निष्कासित होती हुई वायु की विकृति (सकारण) ही ध्वनि है।

अन्त में दोनों मतों को दृष्टिगत रखते हुए ध्वनि की परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है कि जब वायु का सकारण संचरण फेफड़ों में होता हुआ स्वरतन्त्रियों के माध्यम से मुख-विवर के मार्ग से बाहर निकलता है, तब ध्वनि की सृष्टि होती है जो भाषा के क्षेत्र में अपेक्षित है। इसका लघुतम रूप मूल ध्वनि या वर्ण कहलाता है और पूर्णतम रूप वाक्य की संज्ञा प्राप्त करता है। प्रस्तुत अध्याय में हम हिन्दी भाषा की लघुतम ध्वनि अर्थात् वर्ण पर विचार करेंगे।

---

[5] "आत्मा बुद्ध्या समेत्यर्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम्।
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापद्य मारुतः।
वर्णाञ्जनयते तेषां विभागः पञ्चधा स्मृतः॥"

पाणिनीय शिक्षा, ६, ७, ९।

[6] डॉ. बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा विज्ञान, पृष्ठ ४३।

[7] डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन—हिन्दी भाषा, पृष्ठ १३।

वर्ण या अक्षर को प्रत्येक भाषा में दो रूपों में रखा जाता है—(१) स्वर और (२) व्यञ्जन। आज तक इनका विभेदक तत्त्व उच्चारण की स्थिति को ही स्वीकार किया जाता था, किन्तु अब इस पर विद्वानों का मतभेद पाया जाता है। पहले 'स्वर' उन ध्वनियों को कहा जाता था, जो बिना किसी अन्य ध्वनि की सहायता के उच्चरित हो सकें और 'व्यञ्जन' वे होते थे जिनका उच्चारण स्वर की सहायता से ही सम्भव हो सके। आजकल विभिन्न प्रयोगों एवं यन्त्रों की सहायता से प्रायः सिद्ध सा ही हो गया है कि व्यञ्जनों को भी स्वर की सहायता के बिना उच्चरित किया जा सकता है। डॉ. बाबूराम सक्सेना ने इसके कुछ उदाहरण भी प्रस्तुत किये है। आपके अनुसार स्वरों के उच्चारण करने में वायु अबाध गति से बाहर निकल जाती है, किन्तु व्यञ्जनों का उच्चारण करते समय वायु की गति में पूर्ण अथवा किञ्चित् बाधा अवश्य उत्पन्न होती है। अतः वायु की गति की अबाधता को ही स्वर और व्यञ्जनों का स्थूल विभेदक तत्त्व कहा जा सकता है। आप स्वर की परिभाषा इस प्रकार करते है—"स्वर वह सघोष ध्वनि है जिसके उच्चारण में श्वास नलिका से आती हुई श्वास धारा-प्रवाह अबाध गति से निकल जाती है और मुख-विवर में ऐसा कोई संकोच नहीं होता कि किञ्चित् मात्र भी संघर्ष या स्पर्श हो। स्वर के अतिरिक्त शेष ध्वनियाँ व्यञ्जन है। व्यञ्जन वह सघोष या अघोष ध्वनि है जिसके मुख-विवर से निकलने में पूर्ण रूप से अथवा कुछ मात्रा में बाधा उत्पन्न होती है।"[8] मेरी दृष्टि में उक्त परिभाषाएँ अधिक उपयुक्त एवं विज्ञान-सम्मत है।

हिन्दी भाषा में अधोलिखित ध्वनियाँ मिलती है—

स्वर :—ह्रस्व—अ, इ, उ।

दीर्घ—आ, ऑ, ई, ऊ, ए, ऐ, ऐ̆, ओ, औ, औ̆।

स्वर=१३

व्यञ्जन—क्, ख्, ग्, घ्, ङ्, क़्, ख़्, ग़्, ।=८

च्, छ्, ज्, झ्, ज़्, ।=५

ट्, ठ्, ड्, ढ्, ण्, ड़्, ढ़्।=७

त्, थ्, द्, ध्, न्, न्ह्।=६

प्, फ्, ब्, भ्, म्, म्ह्, फ़्।=७

य्, र्, ल्, व्, व़्, ल्ह्, रह्।=७

श्, स्, ह्।=३

व्यञ्जन=४३

[8] डॉ. बाबूराम सक्सेना—सामान्य भाषा-विज्ञान, पृष्ठ ४६।

सूचना—हिन्दी स्वरों में संस्कृत तत्सम शब्दों को लिखने के लिए 'ऋ' का प्रयोग तो किया जाता है, किन्तु इसका उच्चारण 'रि' की तरह से किया जाता है। अतः इसे स्वरों में सम्मिलित नहीं किया गया है। इसी प्रकार व्यञ्जनों में भी 'ञ्' का प्रयोग केवल अनुस्वार के लिए तालव्य स्पर्श व्यञ्जनों के साथ तत्सम शब्दावली में मिलता अवश्य है, किन्तु इसका उच्चारण भी 'न्' की तरह से होने लगा है। 'ष' का प्रयोग तत्सम शब्दों में स्वतन्त्र रूप से मिलता है, पर इसका उच्चारण भी 'श' की तरह से ही सुनाई देता है। अतः इन दोनों को व्यञ्जनों में नहीं रखा गया। कुछ स्वर, यथा 'ऑ' और व्यञ्जन; जैसे—'क़, ख़, ग़, ज़, फ़' विदेशी भाषाओं से हिन्दी ने अपना लिए हैं। अतः अपभ्रंश के स्वर तथा व्यञ्जनों के साथ इन्हें भी सम्मिलित कर लिया गया है।

भाषाविद् स्वर ध्वनियों का वर्गीकरण तीन दृष्टियों से करते हैं। प्राचीन वैयाकरण उच्चारण काल की दृष्टि से भी स्वरों का विभाजन करते थे, जो आजकल इतना प्रचलन में नहीं रह गया है। हम स्वरों को चार दृष्टियों से वर्गीकृत करने में विश्वास रखते हैं—(१) उच्चारण के समय की दृष्टि से, (२) जिह्वा की स्थिति की दृष्टि से, (३) मुख-द्वार की स्थिति की दृष्टि से, (४) ओष्ठों की स्थिति की दृष्टि से।

(१) उच्चारण के समय की दृष्टि से—वैयाकरणों का विश्वास है कि कुछ स्वरों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता है, कुछ में दो मात्रा का समय और कुछ के उच्चारण में तीन मात्रा का समय लगता है। प्रथम को 'ह्रस्व,' द्वितीय को 'दीर्घ' और तृतीय को 'प्लुत' कहा जाता है।[१] स्वरों का विवरण देते समय हमने उन्हें इसी क्रम से रखा है। हिन्दी में प्लुत स्वर ध्वनियाँ नहीं पाई जातीं।

(२) जिह्वा की स्थिति की दृष्टि से—जब वायु किसी स्वर ध्वनि का सर्जन करने हेतु मुख-विवर में प्रवेश करती है, तब जिह्वा की सामान्य स्थिति में कुछ विशिष्टता देखी जाती है। कुछ स्वरों के उच्चारण करते समय जिह्वा का 'अग्रभाग', कुछ के उच्चारण में 'मध्यभाग' और कुछ के उच्चारण में 'पश्चभाग' ऊपर को उठ जाता है। जिस स्वर के उच्चारण में जिह्वा का जो भाग ऊपर उठता है, उसी के आधार पर उन्हें, अग्र, मध्य और पश्च स्वरों की संज्ञा से अभिहित करते हैं।

(क) अग्रस्वर—अग्र स्वर वे स्वर होते हैं जिनके उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्रभाग ऊपर उठ जाता है; यथा : इ, ई, ए, ऐ, ऎ।

---

१ "ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घ-प्लुतः।" पाणिनि अष्टाध्यायी, १।२।२७।

(ख) मध्यस्वर—ये वे स्वर होते है, जिनके उच्चारण में जिह्वा का मध्यभाग ऊपर को उठता है; यथा : 'अ'।

(ग) पश्चस्वर—ये वे स्वर हैं जिनके उच्चारण में जिह्वा का पिछला भाग ऊपर को उठता है; यथा—आ, ऑ, उ, ऊ, ओ, औ, ओ̂।

(३) मुख द्वार की स्थिति की दृष्टि से—जब स्वरों का उच्चारण करते है, तो जिह्वा की सामान्य स्थिति मे विशिष्टता तो आती ही है, साथ ही उसके उठने की माप का प्रभाव मुख-द्वार पर भी पड़ता है। किन्ही स्वर ध्वनियों के उच्चारण में मुख-द्वार कम खुलता है तथा किन्ही के उच्चारण के समय अधिक खुलता है। इस आधार पर स्वरों को चार भागों में विभाजित किया जाता है; यथा—(१) विवृत, (२) अर्धविवृत, (३) संवृत और (४) अर्धसंवृत।

(क) विवृत स्वर—वे स्वर है, जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा का उत्तिष्ठ भाग पूर्णतः नीचाई की स्थिति मे रहता है। फलतः मुख-विवर खुला रहता है और अत्यन्त विस्तीर्ण अवस्था मे आ जाता है। ऐसी स्थिति मे उच्चरित स्वर 'विवृत-स्वर' कहलाते है; यथा—ऑ।

(ख) अर्ध विवृत स्वर—ये वे स्वर होते हे जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा की इतनी ऊँचाई हो जाती है कि सम्पूर्ण मुख खुला, न आधा खुला रहता है। डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन ने इसे इस प्रकार उपस्थित किया है कि अर्धविवृत स्वरो का उच्चारण करते समय जिह्वा विवृतावस्था और संवृतावस्था की कुल दूरी के $\frac{1}{3}$ भाग तक ही उठती है।[10]

(ग) संवृत स्वर—ये वे स्वर होते है जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा इतनी ऊँचाई तक ऊपर उठ जाती है कि मुख-विवर अत्यन्त संकीर्ण हो जाता है, अर्थात् मुख-विवर बन्द हो जाता है; यथा : ई, ऊ।

(घ) अर्ध संवृतस्वर—ये वे स्वर होते है जिनका उच्चारण करते समय जिह्वा आधे से भी अधिक ऊँची उठ जाती है और मुख द्वार आधा बन्द हो जाता है; यथा—ए, ओ आदि।

(४) ओष्ठों की स्थिति की दृष्टि से—जब स्वरों का उच्चारण किया जाता है, तब जिह्वा की तरह ओष्ठों की सामान्य स्थिति में भी कुछ विशिष्टता आ जाती है। अन्तर केवल इतना है कि प्रत्येक स्वर के उच्चारण करते समय जिह्वा की स्थिति मे तो अवश्य कुछ न कुछ परिवर्तन आयेगा ही, पर ओष्ठों के साथ ऐसी बात नही है। कुछ ऐसे स्वर भी है जिनका उच्चारण करते समय ओष्ठ यथा-स्थिति में ही रहते है। इस दृष्टि से स्वरों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है; यथा—(१) विस्तृताकार स्वर, (२) वर्तुलाकार स्वर तथा (३) उदासीन स्वर।

---

[10] डॉ. अम्बाप्रसाद सुमन—हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान), पृष्ठ ३०।

(क) **विस्तृताकार स्वर**—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होठ मुखद्वार के दोनों ओर फैल जाते हैं और वायु अबाधगति से निसृत होती हुई इन स्वर ध्वनियों का सर्जन कर देती है; यथा—इ, ई, ए, ऐ।

(ख) **वर्तुलाकार स्वर**—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होठ मुखद्वार के सामने गोलाकार स्थिति में आ उपस्थित होते हैं; यथा—उ, ऊ, ओ, औ, ऑ।

(ग) **उदासीन स्वर**—इन स्वरों का उच्चारण करते समय दोनों होठ यथास्थिति रहते हैं, न फैलते हैं और न ही गोलाकार रूप ही धारण करते हैं; यथा—अ।

भारतीय मनीषियों ने स्वरों की इन स्थितियों का पता बहुत पहले ही लगा लिया था। महर्षि पाणिनि ने इन स्थितियों को 'प्रयत्न' की संज्ञा दी है। 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' (अष्टाध्यायी १/१/९)। इस पर वृत्ति करते हुए कौमुदीकार ने लिखा है : "यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पंचधा। स्पृष्टेपत्स्पृष्टेपद्विवृत—विवृतसंवृत भेदात्······विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्य अवर्णस्य प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रिया दशायान्तु विवृतमेव।"[11] इससे स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा में 'अ' को छोड़कर प्रायः सभी स्वर विवृत उच्चरित होते थे, किन्तु आधुनिक भारतीय भाषाओं में स्वरों की ऐसी स्थिति नहीं है। इनमें से कुछ संवृत हो गए हैं और कुछ अर्धविवृत और अर्धसंवृत। हिन्दी का 'अ' अब न विवृत है और न संवृत, बल्कि अर्धविवृत है। अतः उच्चारणगत शैथिल्य एवं त्वरा ही ऐसी प्रवृत्तियाँ हैं, जो भाषा को विकसित कर उसे नये रूप में उपस्थित कर देती है।

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) भाषा की स्वर ध्वनियों का स्वरूप (उपर्युक्त विवेचन के आधार पर) निम्न प्रकार से प्रस्तुत किया जा सकता है—

'अ'—यह अर्ध-विवृत, मध्य, उदासीन, ह्रस्व स्वर है। इसका उच्चारण करते समय मुख-द्वार आधे से अधिक खुला रहता है तथा जिह्वा का मध्य भाग कुछ उठता है और होठ यथारूप बने रहते हैं। हिन्दी भाषा में आदि—मध्य तथा अन्त—सभी स्थानों पर इसका प्रयोग मिलता है; यथा—रमण, करण (करने के लिए) आदि। 'अ' का एक रूप और मिलता है, जहाँ वह मूल 'अ' की अपेक्षा लघूच्चरित होता है; यथा—स्वरभक्ति के कारण आगम किए हुए सभी अकार। शब्द के मध्य में तथा पदान्त में 'अ' का उच्चारण आजकल नहीं के बराबर किया जाता है; किन्तु पदान्त में यदि संयुक्त व्यञ्जन के

---

11 वरदराजाचार्य कृत लघुसिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ २५, हिन्दी टीका—भीमसेन शास्त्री।

साथ होता है तो इसका उच्चारण शुद्ध रूप में ही किया जाता है; यथा—साहित्य, चातुर्य आदि।

'आ'—यह विवृत, पश्च, वर्तुलाकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय मुख-विवर पूर्णतः खुला रहता है। जिह्वा का पश्च भाग कुछ मात्रा में ऊपर उठता है तथा होठ गोलाकार से हो जाते है। प्राचीन वैयाकरण इसे 'अ' का दीर्घ रूप मानते है।[12] आधुनिक भाषाविदों के अनुसार 'आ' 'अ' का दीर्घ रूप नही है, वल्कि यों कहते है कि इसका ह्रस्व रूप हिन्दी भाषा में नही है।[13]

'ऑ'—अंग्रेज़ी शब्दों का उच्चारण करने के लिए यह ध्वनि हिन्दी में आई है; यथा—कॉलेज, डॉक्टर आदि। इसका प्रयत्न स्थान औ और आ' के वीच का है, अर्थात् इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग 'आ' की अपेक्षा कुछ ऊँचा और 'औ' की अपेक्षा कुछ नीचा उठता है।

'इ'—यह संवृत, अग्र, विस्तृताकार, ह्रस्व स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग उठ कर लगभग कठोर तालु के समीप पहुँच जाता है और मुख-विवर प्रायः वन्द सा हो जाता है तथा होठ मुख-द्वार के दोनों ओर फैल जाते है। उक्त स्वर का प्रयोग शब्दों के आदि, मध्य, अन्त सभी स्थितियों में मिलता है; यथा—पिया, वहिन आदि। इसका स्थान 'ई' से कुछ नीचा रहता है।

'ई'—यह संवृत, अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग कठोर तालु के वहुत समीप पहुँच जाता है। 'इ' की अपेक्षा इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग कुछ अधिक ऊँचा उठा हुआ होता है। इसका प्रयोग भी शब्द के आदि, मध्य और अन्त में उपलब्ध होता है; यथा—ईख, वत्तीस, पोथी आदि।

'उ'—यह संवृत, पश्च, वर्तुलाकार ह्रस्व स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु के लगभग समीप पहुँच जाता है, पर 'ऊ' के स्थान से कुछ नीचा रह जाता है। अतः मुख-विवर वन्द सा हो जाता है। होठ मुख-द्वार के पास गोलाकार से हो जाते हैं तथा उच्चारण मे एक मात्रा का समय लगता है। इसका प्रयोग शब्द के आदि, मध्य और अन्त सभी स्थानों पर होता है।

'ऊ'—यह संवृत, पश्च, वर्तुलाकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग कोमल तालु के वहुत समीप पहुँच जाता है

---

[12] वही, पृष्ठ ७६ (अकः सवर्णे दीर्घः, ६/१/९८) दैत्यारिः।

[13] डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ३१६-२०।

और मुख-विवर को बन्द कर देता है, होठ पूर्णतया गोलाकार हो जाते हैं। इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। अतः दीर्घ स्वर है। इसका प्रयोग आदि, मध्य तथा अन्त सभी स्थानों पर मिलता है।

'ए'—यह अर्ध संवृत, अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्रभाग, संवृतावस्था और विवृतावस्था की कुल दूरी के २/३ भाग तक ऊँचा उठ जाता है और इसी अनुपात से मुख-विवर लगभग आधे से कुछ अधिक बन्द हो जाता है। दोनों होठ मुख-द्वार के दोनों ओर फैल जाते हैं। इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। अतः दीर्घ स्वर है। अवधी तथा ब्रज आदि भाषाओं में इसका ह्रस्व रूप तथा फुसफुसाहट वाला रूप भी मिलते हैं, किन्तु खड़ी बोली हिन्दी में इन दोनों रूपों का प्रायः अभाव ही है।

'ऐ'—संस्कृत व्याकरण के अनुसार यह विवृत, अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसे संध्यक्षर कहा जाता है। अतः इसका उच्चारण स्थान, कण्ठ और तालु दोनों निश्चित किये गये हैं; परन्तु हिन्दी में यह लगभग अग्रस्वर है। इसका उच्चारण संस्कृत तत्सम शब्दावली के उच्चारण के लिए किया जाता है और किया जाना चाहिए। कुछ लोग 'शैल, कैलाश' आदि की 'ऐ' का उच्चारण भी 'ऐसा और कैसा' की 'ऐ' ध्वनि के समान सा करते, हैं जो कि उचित नहीं है।

'ऐ़'—यह हिन्दी भाषा में विकसित मूल ध्वनि है। संस्कृत के सन्ध्यक्षर 'ऐ' से इसका भेद दिखलाने के लिए, नीचे एक चिह्न लगा दिया गया है। समस्त तद्भव शब्दावली में इसका उच्चारण मूल स्वर की भाँति ही किया जाता है। पूर्वी उत्तर प्रदेश, बिहार और महाराष्ट्र के लोग अभी भी इसका उच्चारण न्यूनाधिक रूप में सन्ध्यक्षर जैसा करने का यत्न करते हैं जो कि उचित नही है। यह अर्धविवृत, अग्र, विस्तृताकार, दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का अग्र भाग संवृतावस्था और विवृतावस्था की दूरी के १/३ भाग तक ही ऊपर उठता है। होठ विस्तृत आकार में हो जाते हैं। यह हिन्दी का मूल दीर्घ स्वर है। पदान्त में इसका प्रयोग नहीं मिलता।

'ओ'—यह अर्धसंवृत, पश्च, वर्तुलाकार दीर्घ स्वर है। इसका उच्चारण करते समय जिह्वा का पिछला भाग संवृतावस्था और विवृतावस्था की कुल दूरी के २/३ भाग तक ऊपर उठता है और मुख-विवर आधे से अधिक बन्द हो जाता है। होठ गोलाकार हो जाते हैं तथा इसके उच्चारण में दो मात्राओं का समय लगता है। इसका प्रयोग आदि, मध्य तथा अन्त सभी रूपों में मिलता है; यथा—ओर, जाओ, करोंदा आदि।

'औ'—यह संस्कृत की सन्ध्यक्षर ध्वनि है। संस्कृत में इसका उच्चारण (ओदौतोः कण्ठौष्ठम्, अ० १/२/६) कण्ठ और ओष्ठ माने हैं। हिन्दी में तत्सम

शब्दावली में इसका उच्चारण अर्धविवृत से कुछ नीचे के स्थान से होता है और तद्भव शब्दावली में उच्चरित ध्वनि से कुछ भिन्न प्रकार से होना चाहिए।

'ऑ'—यह हिन्दी में विकसित मूल स्वर है। तद्भव शब्दावली में इसका उच्चारण अर्धविवृत, पश्च, वर्तुलाकार, दीर्घ स्वर की तरह होता है। उच्चारण करते समय जिह्वा अर्धविवृत के समान स्वर से भी कुछ ऊपर उठ जाती है तथा होंठ वर्तुलाकार हो जाते हैं, मुख-विवर अर्धविवृत ध्वनि से कुछ कम खुला रहता है। पदान्त में इनका प्रयोग नहीं मिलता।

व्यञ्जन ध्वनियाँ—प्राचीन वैयाकरणों ने व्यञ्जन ध्वनियों का वर्गीकरण स्थान तथा प्रयत्न की दृष्टि से किया है, परन्तु संस्कृत भाषा की व्यञ्जन ध्वनियों के आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक पहुँचते-पहुँचते कुछ के उच्चारण स्थानों एवं प्रयत्नों में अन्तर आ गया है और कुछ उसी रूप में उच्चरित होती हुई आ रही हैं और इनमें से कुछ अपना अस्तित्व ही खो बैठी हैं। संस्कृत में आभ्यन्तर प्रयत्न की दृष्टि से व्यञ्जनों को तीन भागों में विभाजित किया गया था—(१) स्पृष्ट, (२) ईषत्स्पृष्ट, और (३) ईषद्विवृत। इनमें स्पर्शोंको 'स्पृष्ट', अन्तस्थों को ईषत्स्पृष्ट और ऊष्म ध्वनियों को ईषद्विवृत कहा गया है। स्पर्शों आदि को स्पष्ट करते हुए लिखा गया है; 'कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तस्थाः। शल ऊष्माणः।'[14] हिन्दी में इन्हें यों कहा जा सकता है कि 'क' से लेकर 'म' तक के (२५) व्यञ्जन स्पर्श हैं। 'य, र, ल, व' अन्तस्थ तथा 'श, ष, स, ह' ऊष्म हैं। पुनः बाह्य प्रयत्न के आधार पर इनका विभाजन किया गया है। बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार के बताए हैं—(१) विवार, (२) संवार, (३) श्वास, (४) नाद, (५) अघोष, (६) घोष, (७) अल्पप्राण, (८) महाप्राण, (९) उदात्त, (१०) अनुदात्त और (११) स्वरित। अन्तिम तीन बाह्य प्रयत्न केवल स्वरों से सम्बद्ध हैं, शेष के आधार पर व्यञ्जनों का विभाजन इस प्रकार है—"खरो विवाराः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथम-तृतीय पञ्चमाः यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीय-चतुर्थौ शलश्च महाप्राणाः।"[15] उपर्युक्त विवरण को इस प्रकार समझा जा सकता है—

विवार, श्वास, अघोष व्यञ्जन—क, ख, च, छ, ट, ठ, त, थ, प, फ, श, ष, स।

संवार, नाद, घोष व्यञ्जन—ग, घ, ङ, ज, झ, ञ, ड, ढ, ण, द, ध, न, ब, भ, म, य, र, ल, व, ह।

---

[14] 'तुल्यास्य प्रयत्नं सवर्णम १/१/९ की विवृत्ति, ल. सि. कौमुदी, संज्ञा-प्रकरण।

[15] वही, संज्ञाप्रकरण।

अल्पप्राण व्यञ्जन—क, ग, ङ, च, ज, ञ, ट, ड, ण, त, द, न, प, ब, म, य, र, ल, व।

महाप्राण व्यंजन—ख, घ, छ, झ, ठ, ढ, थ, ध, फ, भ, श, ष, स, ह।

प्रयत्नों की तरह स्थान की दृष्टि से भी प्राचीन वैयाकरणों ने ध्वनियों का विभाजन किया है, जिनमें व्यञ्जन ध्वनियों का विभाजन इस प्रकार है—

कण्ठ्य ध्वनियाँ—क, ख, ग, घ, ङ, ह, विसर्ग। (अकुहविसर्जनीयानाम् कण्ठः)
तालव्य ध्वनियाँ—च, छ, ज, झ, ञ, य, श। (इचुयशानां तालुः)
मूर्धन्य ध्वनियाँ—ट, ठ, ड, ढ, ण, र, ष। (ऋटुरषाणां मूर्धा)
दन्त्य ध्वनियाँ—त, थ, द, ध, न ल, स। (लृतुलसानां दन्ताः)
ओष्ठ्य ध्वनियाँ—प, फ, ब, भ, म। (उपूपध्मानीयानामोष्ठौ)
नासिक्य ध्वनियाँ—ङ, ञ, ण, न, म। (ञमङणनानां नासिका च)
दन्तौष्ठ्य ध्वनियाँ—व। (वकारस्य दन्तौष्ठम्)

उपर्युक्त विवरण में केवल व्यञ्जन ध्वनियों को ही गिनाया है, क्योंकि स्वरों का विवेचन पहले हो चुका है। इस आधार पर जब हम हिन्दी की व्यञ्जन ध्वनियों पर दृष्टिपात करते हैं तो अनेक ध्वनियों में परिवर्तन दृष्टिगत होता है, उदाहरण के लिए 'क वर्ग' अब कण्ठ्य स्पर्श न रहकर कोमल तालुजन्य स्पर्श है। 'ङ्' को तो भाषा-शास्त्री स्पर्शध्वनि ही स्वीकार नहीं करते। इसी प्रकार 'ह' और 'विसर्ग' भी कण्ठ्य ध्वनियाँ नहीं रहीं। इन्हें संघर्षी ध्वनियाँ कहा जाता है। दन्त्य ध्वनियों में भी 'न, ल तथा स' दन्त्य की अपेक्षा वर्त्स्य ध्वनियाँ मानी जाती हैं। साथ ही अरबी एवं फ़ारसी की भी कुछ ध्वनियों को हिन्दी ने अपना लिया है। अतः विभाजन का ढंग कुछ बदल गया है। अल्पप्राण, महाप्राण, घोष तथा अघोष आदि की स्थिति यथा-पूर्व है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कि व्यञ्जनों का विभाजन स्थान एव प्रयत्न की दृष्टि से किया जाता है। इन दोनों के मूल में अन्दर से आती हुई श्वास ही कार्य करती है जब श्वास स्वर यन्त्रों से निकलकर मुख-विवर में प्रवेश करती है, तब उसमें कोई न कोई किसी न किसी प्रकार का विकार अवश्य उत्पन्न होता है। यह विकार जहाँ पर उत्पन्न होता है, वहीं पर किसी भी ध्वनि विशेष का एक रेखा-चित्र तैयार हो जाता है, ठीक उसी समय मुख के अन्य अवयव भी कार्य निरत हो जाते हैं और उस स्थान-विशेष के अनुसार वायु को बाहर निकलने देते हैं। यह प्रक्रिया उस स्थान विशेष पर बने ध्वनि के रेखा-चित्र में रूप रंग भरने का कार्य कर देती है और ध्वनि का पूर्ण रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत हो जाता है। इस प्रकार जिस स्थान पर विकार उत्पन्न हुआ है उसी स्थान की ध्वनि उसे कहा जाता है और अवयवों ने जिस प्रकार का प्रयत्न किया, उसी प्रकार को ध्वनि का रूप कहा जा सकता है। ऐसा

सब होते हुए श्वास के बल की मात्रा में न्यूनाधिकता आ जाती है। उसी न्यूनाधिकता के आधार पर व्यञ्जन ध्वनियों की 'प्राणता' निश्चित की जाती है। इसी प्रकार श्वास की गूंज में भी अन्तर आता है, जिसके आधार पर इनका घोषत्व निर्धारित होता है। इस प्रकार व्यञ्जनों को चार प्रकार से विभाजित किया जा सकता है—(१) स्थान की दृष्टि से, (२) मुखावयवों की प्रक्रिया की दृष्टि से, (३) श्वास के बल की दृष्टि से और (४) श्वास की गूंज की दृष्टि से।

(१) स्थान की दृष्टि से—अन्दर से आती हुई श्वास को जहाँ पर यथावश्यकता विकृत किया जाता है, वही उस ध्वनि का स्थान कहलाता है। इस दृष्टि से हिन्दी ध्वनियों (व्यञ्जन) को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कोमल तालुजन्य, (२) मूर्धन्य, (३) तालव्य, (४) वर्त्स्य, (५) दन्त्य, (६) दन्तौष्ठ्य और (७) औष्ठ्य। इनके अतिरिक्त अलिजिह्वीय और उपालिजिह्वीय दो भेद और किये जाते हैं।

(क) कोमल तालुजन्य—ये वे ध्वनियाँ होती हैं जिनका उच्चारण करते समय भीतर से आती हुई वायु कोमल तालु पर आकर विकृत हो जाती है, जिससे हिन्दी की 'क्, ख्' आदि ध्वनियों का सर्जन होता है।

(ख) मूर्धन्य—ये वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास कोमल तालु और कठोर तालु के बीच के स्थान पर विकृत होती है। हिन्दी की ट्, ठ्, आदि ध्वनियाँ मूर्धन्य हैं।

(ग) तालव्य—ये वे ध्वनियाँ हैं जिनका उवचारण करते समय भीतर से आती हुई श्वास कठोर तालु पर विकृत होती है। कठोर तालु को केवल 'तालु' शब्द से भी अभिहित करते है। हिन्दी की 'च्, छ्' आदि ध्वनियाँ हैं।

(घ) वर्त्स्य—ये वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण करते समय श्वास वायु, मसूड़ों के पास विकृत होती है। हिन्दी की 'न्, ल्' आदि वर्त्स्य ध्वनियाँ है।

(ङ) दन्त्य—ये वे ध्वनियाँ हैं जिनका उच्चारण करते समय वायु दाँतों के पास आकर विकृत होती है। हिन्दी की 'त्, थ्' आदि ध्वनियाँ दन्त्य हैं।

(च) दन्तौष्ठ्य—जब वायु (श्वास) में नीचे के होठ और ऊपर के दाँतों के पास विकार आता है तब दन्तोष्ठ्य ध्वनियों का सर्जन होता है; जैसे—हिन्दी 'व'।

(छ) औष्ठ्य—इन ध्वनियों को आजकल द्व्यौष्ठ्य कहने का भी प्रचलन है, पर संस्कृत के आधार पर इन्हें औष्ठ्य कहना उचित है। जब भीतर से जाती हुई वायु दोनों होठों पर आकर विकृत होती है, तब औष्ठ्य ध्वनियों का सर्जन होता हैं; यथा—हिन्दी प, फ आदि।

(२) मुखावयवों की प्रक्रिया की दृष्टि से—जब अन्दर से श्वास किसी

ध्वनि विशेष का सर्जन करने हेतु बाहर निकलने का प्रयत्न करती है, मुख के अवयव कभी एक दूसरे अवयव का स्पर्श करते है, कभी ये अवयव परस्पर में संघर्ष करते हैं, कभी जिह्वा का पार्श्व ऊपर उठ जाता हैं, कभी जिह्वा लिपट कर वलयाकर हो जाती है, तथा कभी धीरे से तथा कभी झटके से अपनी पूर्व स्थिति में आ जाती है। इस प्रकार के आधारों पर व्यञ्जनों को निम्न प्रकार से विभाजित किया जाता है—(१) स्पर्श, (२) संघर्षी, (३) स्पर्श संघर्षी, (४) पार्श्विक, (५) लुंठित और (६) उत्क्षिप्त।

(क) **स्पर्श**—भीतर से ध्वनि निर्माण हेतु आती हुई श्वास को जब मुख के कोई दो अवयव उसको कुछ क्षणों के लिए रोक देते हैं तब स्पर्श ध्वनियों का निर्माण होता है; यथा—क्, च्, ट्, त्, प् आदि।

(ख) **संघर्षी**—जब भीतर की श्वास बाहर आने के लिए मुख-विवर में प्रविष्ट होती है, तब यदि इसके कोई दो अवयव एक-दूसरे का घर्षण करने लग जाते हैं, तो संघर्षी ध्वनियों का सर्जन होता है; यथा—फ़, ज़, स् आदि।

(ग) **स्पर्श संघर्षी**—इन ध्वनियों का उच्चारण करते समय मुख-विवर में पहले तो दो अवयवों का कुछ स्पर्श होता है और फिर घर्षण प्रारम्भ हो जाता है; यथा—च्, छ् आदि।

(घ) **पार्श्विक**—जब ये ध्वनियाँ उच्चरित होती हैं, तब जिह्वा का एक पार्श्व अथवा दोनों पार्श्व ऊपर उठकर वायु के निष्क्रमण में बाधा उपस्थित कर देते हैं; यथा—ल्, ल्ह आदि।

(ङ) **लुण्ठित**—इन ध्वनियों का उच्चारण करते समय जिह्वा को यथा सम्भव लपेट लिया जाता है, तब वायु निष्क्रमित होती है तथा ध्वनि निकलने तक यही स्थिति बनी रहती है; यथा—'र्, र्ह'।

(च) **उत्क्षिप्त**—लुण्ठित अवस्था को प्राप्त जिह्वा को एक क्षण उस अवस्था में रखकर फिर झटके के साथ उसे पूर्व स्थिति पर ले आया जाए, तब उत्क्षिप्त ध्वनियों का सर्जन होता है; यथा—ड़्, ढ़्, आदि।

(३) <u>श्वास के बल की दृष्टि से</u>—जब श्वास ध्वनि सर्जन के हेतु बाहर आने के लिए सन्नद्ध होती है, तो उसके बल को सापेक्षिक दृष्टि से आँका जाता है। उस अंकन में किसी ध्वनि पर अल्प बल होता है और किसी में महत् बल। इस दृष्टि से इसके दो भेद किये जाते हैं—(१) अल्प प्राण और (२) महाप्राण।

(४) <u>श्वास की गूँज की दृष्टि से</u>—जब श्वास वायु उस स्थान पर पहुँच जाती है जहाँ से सम्बद्ध व्यञ्जन का उच्चारण होना है, तब से लेकर ध्वनि का उच्चारण समाप्त होने तक यदि गूँज बनी रहती है तो उसे सघोष कहते हैं और यदि गूँज उच्चारण स्थान पर श्वास के पहुँचने के पश्चात् से अन्त तक

हिन्दी व्यञ्जन ध्वनियाँ
वर्गीकरण

उच्चारण स्थान	स्पर्श				स्पर्श संघर्षी				नासिक्य		संघर्षी				पार्श्विक		लुण्ठित		उत्क्षिप्त		अर्धस्वर	
	अघोष		सघोष		अघोष		सघोष		सघोष		अघोष		सघोष		सघोष		सघोष		सघोष		सघोष	
	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण	अल्प प्राण	महा प्राण		
काकल्य	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	ह्	—	—	—	—	—	—	—	—
कोमल तालव्य	क्	ख्	ग्	घ्	—	—	—	—	ङ्	—	क़्	ख़्	ग़्	—	—	—	—	—	—	—	—	—
तालु वर्त्स्य	—	—	—	—	च्	छ्	ज्	झ्	ञ्	—	—	श्	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
मूर्धन्य	ट	ठ	ड	ढ	—	—	—	—	ण	—	—	ष	—	—	—	—	—	—	ड़्	ढ़्	—	—
वर्त्स्य	—	—	—	—	—	—	—	—	न्	न्ह्	—	स्	ज़्	—	ल्	ल्ह्	र्	र्ह्	—	—	—	—
दन्त्य	त्	थ्	द्	ध्	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—
दन्तौष्ठ्य	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	फ़	—	—	—	—	—	—	—	—	—	व्
ओष्ठ्य	प्	फ्	ब्	भ्	—	—	—	—	म्	म्ह्	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	व्
तालव्य	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	—	य्

नहीं सुनाई देती तो उन ध्वनियों को अघोष कहा जाता है। इस दृष्टि से इसके दो ही भेद किये जाते हैं—(१) सघोष और (२) अघोष।

हिन्दी व्यञ्जनों का सभी दृष्टियों से किया गया विभाजन पृष्ठ २४० पर दिये गये चक्र से भली प्रकार समझा जा सकता है।

हिन्दी स्वर एवं व्यञ्जन ध्वनियों की उत्पत्ति

किसी भी भाषा की ध्वनियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में जब हम बात करते हैं तब उसका तात्पर्य होता है कि उस भाषा-विशेष में पायी जाने वाली ध्वनियों का उसकी पूर्वजा भाषाओं में क्या रूप था ? कुछ स्थल अथवा यों कहिये कि कुछ शब्द ऐसे होते हैं जिनमें कोई ध्वनि-विशेष सुरक्षित चली आती है और किन्हीं में वह अपना रूप सर्वथा बदल लेती है। अतः आलोच्य भाषा की उस ध्वनि का उसी अर्थ को देने वाले तद्रूप शब्द में प्रयुक्त ध्वनि के साथ मिलान कर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अमुक ध्वनि परिवर्तित होकर अमुक ध्वनि बन गई। दूसरे रूप में—ऐसे कह सकते हैं कि अमुक ध्वनि का विकास या उत्पत्ति अमुक ध्वनि से हुई है। उदाहरण के द्वारा यों समझा जा सकता है, संस्कृत 'स्तम्भः' शब्द प्राकृत में 'खम्भो' बनता है और हिन्दी में 'खंभा'। अतः हम कह सकते हैं कि संस्कृत 'स्त' विकसित होता हुआ हिन्दी में 'ख' हो गया अथवा यों कह सकते हैं कि हिन्दी 'ख' की उत्पत्ति संस्कृत 'स्त' से हुई है। प्रस्तुत अध्याय में हम दूसरी प्रणाली के माध्यम से हिन्दी के स्वरों एवं व्यञ्जनों की उत्पत्ति पर विचार करेंगे।

हिन्दी स्वरों का विवरण पूर्व पृष्ठों पर दिया जा चुका है। उसी क्रम में एक-एक स्वर-ध्वनि की उत्पत्ति निम्न प्रकार से है :

'अ' : हिन्दी की 'अ' ध्वनि संस्कृत अ, आ, इ, ई, उ, ऋ, ए, आदि स्वरों से विकसित हुई है।

हिन्दी	**म. भा. आ.**	**प्रा. भा. आ.**
[अ]	[अ]	[अ]
आखर	अक्खर	अक्षर
अगर	अगर	अगरु
अगला	अग्गिल	अग्रिल
[अ]	[आ]	[आ]
अहीर	आहीर	आभीर
अरब	आरब	आरबः (अरब देश का रहने वाला)
असाढ़	आसाढ़	आषाढ़

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
अलान	आलाण	आलान
अहेर	आहेर	आखेट
[अ]	[अ]	[आ]
बखान	वक्खाण	व्याख्यान
अड़सठ	अट्ठसट्ठि	अष्टाषष्टि
परख	परिक्ख	परीक्षा
[अ]	[अ/इ]	[इ, ई]
बहिण	बहिणी	भगिनी
गहर/गहरा	गहिरउ	गभीरः
बनारस	वाणारसी	वाराणसी
बाहर	बहिर	बहिर्
कूख/कोख	कुक्खि	कुक्षिः
परख	परिक्ख	परीक्षा
आग	अग्गि	अग्नि
[अ]	[अ, उ]	[उ]
कांचली	कंचुलिआ	कंचुलिका
गेंद	गेंदुअ	कन्दुक
करेन	करेणु	करेणुः
कँवर	कुवार	कुमार
[अ]	[अ, इ]	[ऋ]
मट्टी	मट्टिआ	मृत्तिका
भट्ट/भाट	भट्ट/भड	भर्तृ
काट	कट्ट	कर्तृ
मयंक	मियंक	मृगाङ्क
बड़ा	वड्ड्अ	वृद्धकः
भंगार	भिंगार	भृंगार
[अ]	[ए]	[ए]
नारियल	नारिएल	नारिकेल

'आ'—हिन्दी भाषा का 'आ' प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, 'अ, आ, उ' से ही विकसित हुआ है। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने 'आ' की उत्पत्ति कुछ ऐसे रूपों से मानी है, जो उचित प्रतीत नहीं होती। आपने 'आ' की उत्पत्ति उ+अ से बताकर उसका उदाहरण 'विरूप' शब्द प्रस्तुत किया है, जिसका मध्यकालीन रूप 'वुरुअ' बताकर 'बुरा' शब्द सिद्ध किया है। इस

प्रकार 'अ+आ' के भी उदाहरण दिए हैं। इनमें भी 'आ' वर्तमान होने के कारण इसकी उत्पत्ति 'आ' से ही मानी जानी अधिक उचित है।

हिन्दी	म. भ. आ.	प्रा. भा. आ.
[अ]	[आ]	[आ]
बाईस	बावीस	द्वाविंशति
भाई	भाइअ	भ्रातृक
दावण	दामण	दामन्
धाड़ी (डाकू)	धाड़ी	धाटी
[आ]	[अ]	[आ]
काज	कज्ज	कार्य
बात	वत्ता	वार्ता
बाजा	वज्ज	वाद्य
फागुण/फागण	फग्गुण	फाल्गुन
[आ]	[अ]	[अ]
काम	कम्म	कर्म
चाम	चम्म	चर्म
पात	पत्त	पत्र
पाटी	पट्टिया	पट्टिका
[आ]	[उ]	[उ]
फरशा	फरसु	परसु
खाज	खज्जु	कच्छु
[आ]	[अ]	[ऋ]
नाच	णच्च	नृत्य
काट	कट्ट	कर्तृ

'इ'—हिन्दी भाषा में 'इ' का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा, 'अ इ, ई, ऋ तथा ए' से हुआ है। 'इ, ए' का पारस्परिक परिवर्तन संस्कृत भाषा से ही प्रारम्भ हो गया था।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[इ]	[अ]	[अ]
अंधियार	अंधयार/अंधआर	अन्धकार
करिंजा	करंज	करञ्ज (वृक्ष विशेष)
किरच	करकच/करकय/करअच	क्रकच (आरा)
घिसन	घंसण	घर्षण

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[इ]	[इ]	[इ]
वहिण	वहिणी	भगिनी
गवालिनी/ग्वालिनी	गोवालिणी	गोपालिनी
चुल्हि	चुल्लि	चुल्लि
दखिन/दाहिण	दक्खिण	दक्षिण
[इ]	[इ]	[ई]
मंगसिर	मग्गसिर	मार्गशीर्ष
सिरिस	सिरिस	शिरीष
चाँचरिया	चंचरीअ	चञ्चरीक
[इ]	[इ]	[ऋ]
सिंगार	सिंगर/सिणगार	शृंगार
खिच्चड़	किसर	कृशर
तिस	तिसा	तृषा
तिनका	तिणक	तृणकः
[इ]	[ए]	[ए]
इक्कीस	एआईस	एकविंशति
इरंड	एरंड	एरण्ड
जिमावन	जेमावण	जेमन
जिठानी	जिट्ठाणी	ज्येष्ठानी

'ई'—हिन्दी भाषा में 'ई' का विकास 'इ, ई, ऋ' से सम्पन्न हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ई]	[इ/ई]	[इ]
ईंधन	इंधण	इन्धन
ईख	इक्खु	इक्षु
इक्कीस	एक्कवीस	एकविंशति
ऊजानी	ऊज्जाणिआ	औद्यानिका
कांचली	कँचुलिआ	कञ्चुलिका
[ई]	[इ]	[ई]
चींकार	चिक्कार	चीत्कार
झीणा	झिणण	क्षीण
झीण/जीण/जीरन	जिण्ण/जीरण	जीर्ण
तीजा	तिइज्ज	तृतीय
[ई]	[ई]	[ई]
तीमर (तीमन)	तीमण	तीमन

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
दादुरी	दद्दुरी	दर्दुरी
दीवा	दीवअ	दीपक
नीड़	णिड्ड	नीड़
[ई]	[इ/ई]	[ऋ]
पीठ	पिट्ठि	पृष्ठ
मीच	मिच्चु	मृत्यु
गीध	गिद्ध	गृध्र
घी	घिअ	घृत

'उ'—हिन्दी भाषा में 'उ' ध्वनि का विकास 'उ, ऊ तथा ओ' से हुआ है। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने 'अ' से भी बताया है और उसका केवल एक उदाहरण 'विरूप>बुरुअ>बुरा' दिया है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[उ]	[उ]	[उ]
कुल्हाड़ा	कुहाडअ	कुठारक
कुम्हार	कुंभार	कुम्भकार
चुल्लू	चुलुअ	चुलुक
ठाकुर	ठक्कुर	ठक्कुर
तुझ	तुज्झ	तुभ्यम्
[उ]	[उ/ऊ]	[ऊ]
कुइया	कूविया	कूपिका
कुआ	कुवअ	कूपक
तुरी/तुरई	तुरिअ/तूर	तूर्य
पुकार	पुक्कार	फूत्कार
[उ]	[उ]	[ओ]
बुझाया	बुज्झाविय	बोधित
मुसना	मुसण	मोषण
लुहार	लोहार	लोहकार

'ऊ'—'ऊ' की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'उ, ऊ, ऋ' तथा औ, ओ ध्वनियों से हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ऊ]	[उ]	[उ]
ऊपर	उप्परि	उपरि
ऊँट	उट्ट	उष्ट्र

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
ऊपल	उप्पल	उत्पल
ऊँबर	उंबर	उदुम्बर
[ऊ]	[उ/ऊ]	[ऊ]
ऊन	उण्ण	ऊर्ण
घूम	घुम्म	घूर्ण
चून	चुण्ण	चूर्ण
[ऊ]	[उ]	[ऋ]
वूढा	वुड्ढअ	वृद्धक
झाऊ	झाउ	ध्यातृ
पूछा	पुच्छ	पृष्ट
भाऊ	भाउ	भ्रातृ
[ऊ]	[उ]	[औ, ओ]
मून	मूण	मौन
सूँडा (जाति विशेष)	सुंडिअ	शौण्डिक
पूस	पुस्स	पौष
गंडूला	गंडुल	गडोल

'ए'—'ए' ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'अ, इ ऋ, ए, ऐ' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ए]	[ए]	[अ]
गेंद	गेंदुअ	कन्दुकः
सेज	सेज्जा	शय्या
बेल	वेल्लि	वल्लि
तेरह	तेरहो	त्रयोदश
[ए]	[ए/ई]	[इ]
सेंदूर	सेंदूर	सिंदूर
केसू	किंसुअ	किंशुक
कनेर	कणिआर	कणिकार
छेद	छिद्द	छिद्र
तेपन/तरेपन	तेवण्ण/तरेवण्ण	त्रिपंचाशत
तरेसठ/तेसठ	तेसट्ठि	त्रिषष्टि
[ए]	[ए]	[ऋ]
गेही (अत्यासक्त)	गेहिअ	गृद्धिक

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
घेली/गेहली	गहिल्ली	गृहिल्लिका
वेंट	विंट/वंट	वृन्त
[ए]	[ए]	[ए]
खेत	खेत्त	क्षेत्र
खेड़ा	खेडअ	खेटक
गेह	गेह	गेह
चेरी	चेडी	चेटी
जेठ	जेट्ठ	ज्येष्ठ
[ए]	[ए]	[ऐ]
तेल	तेल	तैल
तेली	तेलि	तैलिक
देसी	देसिअ	देश्य/दैशिक
केवट	केवट्ट	कैवर्त

'ओ'—इस ध्वनि का विकास 'उ, ओ तथा औ' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ओ]	[ओ/उ]	[उ]
ओलंभ	उवालंभ	उपालम्भ
कोख	कुक्खि	कुक्षि
कोंपल	कुंपल	कुड्मल
कोढ़	कुड्ढ	कुष्ठ
[ओ]	[ओ]	[ओ]
कोयल	कोइल	कोकिल
कोठा	कोट्ठअ	कोष्ठक
गोठ	गोट्ट	गोष्ठ
गोह	गोहा	गोधा
[ओ]	[ओ, अउ]	[औ]
गोरी	गउरी/गोरी	गौरी
कोल	कउल	कौल
कोसल	कउसल	कौशल
दोवारी	दुवारिअ	दौवारिक

नोट—'ऐ और औ' का विकास अपभ्रंश 'अइ तथा अउ' से हुआ है, स्वर मध्यस्थ व्यञ्जन का लोप होकर हुआ। अतः सीधा प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं से सम्बद्ध न होने के कारण उनके उदाहरण नही दिए गए है। 'ऐ/औ' केवल तत्सम शब्दावली मे ही प्रयुक्त होते है।

हिन्दी व्यञ्जन ध्वनियों की उत्पत्ति

हिन्दी (साहित्यिक खड़ी बोली) भाषा का शब्दकोष इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि हिन्दी भाषा के प्रकाश में आने तक आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएँ प्राचीन परम्परा के आधार पर ही विकसित नहीं हो रही थी, अपितु अन्य क्षेत्रों से भी सामग्री का चयन कर रही थीं। यहाँ तक प्राकृतों की उपेक्षा कर इन भाषाओं ने अपना सीधा सम्बन्ध संस्कृत भाषा से जोड़ने का उपक्रम भी कर लिया था। यह प्रयास हिन्दी भाषा में दो रूपों में देखने को मिलता है। एक तो उसके शब्दों को ज्यों का त्यों ग्रहण करने के रूपों में, जिसको विद्वानों ने 'तत्सम शब्दावली के नाम से अभिहित किया है और दूसरे संस्कृत के कतिपय शब्दों में अपनी सुविधा के अनुसार परिवर्तन कर ग्रहण करने के रूप में। इसे 'तद्भव शब्दावली' कहते हैं। द्वितीय प्रकार के शब्द अपनी पूरी मंज़िल तय किये बिना ही सीधे हिन्दी भाषा में आ जाने के कारण मध्यकालीन आर्य भाषाओं के नियमों को चुनौती देते हुए से दिखाई देने लगे। अतः विद्वानों ने ऐसे शब्दो के लिए एक नए वर्ग की स्थापना की, जिसे 'अर्ध तत्सम' की संज्ञा मिली। इसके साथ-साथ अंग्रेज़ी, उर्दू, पोर्तगीज़, फ्रेंच आदि भाषाओं की शब्दावली ने भी हिन्दी भाषा में प्रवेश प्राप्त किया और अभी तक हिन्दी भाषा-भाषियों का यह प्रयत्न दिखाई देता है कि उनकी शब्दावली में प्रयुक्त ध्वनियों को उसी रूप में सुरक्षित रखा जाए। अतः उन ध्वनियों के सही उच्चारण को बनाए रखने के लिए हिन्दी के कतिपय ध्वनि-चिह्नों के नीचे बिन्दु लगाकर उन ध्वनि चिह्नों का निर्धारण भी किया जा चुका है; किन्तु अब भी विद्वानों में मतभेद है कि इन ध्वनियों को यथातथ्य रूप में रखा जाए अथवा इनका हिन्दीकरण कर लिया जाए। मै डॉ. देवेन्द्रनाथ से अक्षरशः सहमत हूँ कि इन ध्वनियों का हिन्दीकरण कर लेना ही अधिक श्रेयस्कर होगा।[16] इससे एक तो यह लाभ होगा कि उक्त शब्दों का विदेशीपन समाप्त हो जाएगा और दूसरे उन व्यक्तियों को भी जो फ़ारसी, अरबी आदि भाषाओं के ज्ञाता नहीं हैं, सन्देह की स्थिति से मुक्ति प्रदान करेगी। अन्यथा वे शब्दों का अशुद्ध उच्चारण कर उपहास के पात्र बनने के भागी होंगे; यथा—जलील (तुच्छ) और जलील (श्रेष्ठ)। हिन्दी में यदि इस चिह्न की स्थिति को हटा दिया जाए और ठीक उर्दू उच्चारण पर बल न दिया जाए तो श्रोता/पाठक, यथास्थिति जिस अर्थ की आवश्यकता होगी, ग्रहण कर लेगा और यदि इस पर बल

---

[16] डॉ. देवेन्द्रनाथ शर्मा, राष्ट्रभाषा-हिन्दी, समस्याएँ और समाधान, पृष्ठ ११८।

दिया गया तो फिर अल्पज्ञ व्यक्ति 'जलील' के स्थान पर 'ज़लील' बोल कर सारा गुड़गोबर कर देगा। इसके लिए यह तर्क दिया जाता है कि वक्ता लेखक को उसका ज्ञान होना चाहिए, पर सब भाषाओं का ज्ञान एक व्यक्ति को होना आवश्यक नहीं है; दूसरे हिन्दी एक जीवित भाषा है और उर्दू भी देश में प्रचलित ही है। अतः इसके शब्दों के प्रवेश पर रोक लगाना भी सरल काम नहीं है और सम्भवतः उचित भी नहीं होगा। फिर विशिष्ट उच्चारण और लेखन पर अधिक बल देना कम रुचता है। अतः मैं इस समय इन शब्दों से आगत ध्वनियों पर विचार करने नहीं जा रहा हूँ। इसे उस समय तक के लिए छोड़ रहा हूँ, जब तक कि विद्वान् किसी एक मत पर नहीं पहुँच जाते। वैसे पाठकों के ज्ञान के लिये यहाँ ध्वनि रूपों में उनका विवरण प्रस्तुत कर दिया है। नीचे क्रमशः व्यञ्जनों की उत्पत्ति दी जा रही है—

'क'—हिन्दी की यह ध्वनि अनेक स्रोतों से व्युत्पन्न हुई है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'क्, तथा स्क' ध्वनियों ने इसका रूप निर्माण किया है। यहाँ पर एक बात और स्पष्ट कर देना वाञ्छनीय होगा कि डॉ. उदयनारायण तिवारी तथा अन्य विद्वानों ने उन संस्कृत ध्वनियों से भी इसकी तथा अन्य इसी प्रकार के व्यञ्जनों की उत्पत्ति दिखाई है, जिस व्यञ्जन ध्वनि-विशेष के संयोग के कारण मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा की द्वित्व कर देने की प्रवृत्ति से व्युत्पन्न हुई हैं; जैसे 'क्क' क्य, क्व>क्क>क। पर यह उचित प्रतीत नहीं होता क्योंकि अन्त में अवशिष्ट 'क' ध्वनि तो इनमें प्रारम्भ में भी वर्तमान थी, दूसरे इससे संयुक्त अन्य ध्वनि; जैसे 'प, व, य, र' जो द्वित्वप्रवृत्ति के कारण क्रमशः 'क् क्, क्' में बदल गईं थीं, हिन्दी भाषा तक आते-आते लुप्त हो गई और प्रारम्भिक मूल ध्वनि केवल मात्र अवशिष्ट रह गई और जब हम यह दिखा देते हैं कि प्राचीन आर्य भाषा की 'क्' ध्वनि से हिन्दी से 'क्' ध्वनि उत्पन्न हुई है, तो फिर इन्हें अलग से गिनाने में कोई औचित्य दृष्टिगत नहीं होता। हाँ, ऐसी कोई संयुक्त ध्वनि (प्रा. भा. आ. की) जो मध्यकाल में किसी अन्य ध्वनि में परिवर्तित होकर पुनः उसी रूप में हिन्दी में प्रविष्ट होती है तो उसका निश्चय ही महत्त्व है और उस पर विचार भी होना चाहिए; जैसे 'स्क' ध्वनि है। प्राकृत में यह 'ख' ध्वनि में परिवर्तित होती है और अपना मूल स्वरूप पूर्णतः बदल लेती है तथा पुनः केवल 'क' ध्वनि के रूप में हिन्दी में दिखाई देती है। अतः इस 'क' को निश्चय ही पृथक् रूप में उत्पन्न हुआ दिखाया जाना चाहिए। प्रस्तुत शीर्षक में इसी सिद्धान्त को अपनाकर विवेचना की गई है। हाँ, इतना अवश्य है कि स्वर मध्यस्थ अल्पप्राण ध्वनियाँ तभी सुरक्षित रह सकी हैं, जब वे संयुक्त रही हैं, अन्यथा मध्यकाल में उनका लोप पाया जाता है।

	हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[आदि क]	कड़ुआ	कड़ुअ	कटुक
	काग	काग	काक
[मध्य क]	तिलकुटनी (चतुर्थीकाव्रत)	तिलकुट्टिणी	तिलकुट्टिनी
[पदान्त क]	चाक	चक्क	चक्र
	[क]	[क्क]	[स्क]
	कन्धा	खंधअ	स्कन्धक
	कंधार	खंधावार	स्कन्धावार
	कन्द	खंद	स्कन्द

'ख्'—हिन्दी 'ख' ध्वनि, प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'क्, ख्, क्ष्, स्क्, ष्क्, ष्, आदि ध्वनियों से उत्पन्न हुई है। 'ष' ध्वनि से 'ख' की व्युत्पत्ति सीधी संस्कृत से हिन्दी में कर ली गई है। शेष ध्वनियाँ मध्यकालीन भारतीय भाषाओं के माध्यम से विकसित होती हुई आई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[आदि ख]	[आदि ख]	[आदि ख]
खाज	खज्जु	खर्जू
खीज	खिज्ज	खिद्य
[मध्य ख]	[मध्य ख]	[मध्य ख]
लिखवाया	लिखापित	लेखापित
लेखक	लेखक	लेखकः
बखान	वक्खाण	व्याख्यान
[पदान्त ख]	[पदान्त ख]	[पदान्त ख]
दुःख	दुक्ख	दुःख
सुख	सुख	सुख
[ख]	[क्ख]	[स्क]
खंभा	खंभअ	स्कम्भक
[ख]	[क्ख]	[ष्क]
पोखर	पोक्खर	पुष्कर
सूखा	सुक्खअ	शुष्कक
[ख]	[क्ख/ख]	[क्ष]
खेत	खेत्त	क्षेत्र
आखर	अक्खर	अक्षर
चख	चक्खु	चक्षु
भखना	भक्खण	भक्षण

सूचना—जब 'क्ष' प्राचीन आर्य भाषाओं में आद्य में होता है, तो मध्य-कालीन भारतीय आर्य भाषाओं में उसे 'ख' आदेश होता है और यदि मध्य में होता है तो उसे 'क्ख' आदेश होता है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ख]	[ख]	[क]
खप्पर	खप्पर	कर्पर:
खाज	खज्जु	कच्छु:
खोजा	खुज्जअ	कुब्जक:

हिन्दी (अर्धतत्सम)	प्रा. भा. आ.
वरखा	वर्षा
भाखा	भाषा
हरख	हर्ष

'ग' : 'ग'—ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'क, ग' तथा अर्ध तत्सम शब्दों में 'ज्ञ' से उत्पन्न हुआ है। 'क्' का 'ग्' में स्वर आगे होने पर परिवर्तित होना संस्कृत में भी पाया जाता है, पर आ. भा. आ. तक स्वर का बन्धन समाप्त सा कर दिया गया है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ग]	[ग]	[ग]
गधा	गद्दह	गर्दभ:
गेंडा	गंडअ	गण्डक:
गागर	गग्गरी	गर्गरी
अंग	अंग	अंग
[ग]	[ग]	[क]
काग	काग	काक
साग	साग	शाक
सगला	सगल्लअ	सकल
[ग]	×	[ज्ञ]
ग्यान	×	ज्ञान
आग्या	×	आज्ञा
संग्या	×	संज्ञा

'घ'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में 'घ तथा 'ग' के साथ 'ह' ध्वनि होने पर 'घ' की उत्पत्ति होती है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[घ]	[घ]	[घ]
घी	घिअ	घृत
घाव	घाअ	घात
घिन	घिणा	घृणा
[घ]	[घ]	[ग+ह]
घर	घर	गृह

'ङ'—यह ध्वनि अब हिन्दी में केवल तत्सम शब्दावली में ही मिलती है और इसका सही उच्चारण भी प्रायः समाप्त सा हो गया है। इसका स्वतन्त्र प्रयोग तो संस्कृत में ही अत्यल्प हो गया था। आदि में तो इसका प्रयोग मिलता ही नहीं और मध्यकाल में आकर इसे पूरी छुट्टी दे दी गई।

'च'—'च' का विकास प्राचीन आर्य भाषा 'च, त्य' तथा कहीं-कहीं 'त्व' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[च]	[च]	[च]
चाक	चक्क	चक्र
चख	चक्खु	चक्षु
काँचली	कंचुलिअ	कञ्चुलिका
कचनार	कंचणार	कञ्चनार
पाँच	पंच	पञ्चन्
[च]	[च्च]	[त्य]
सांच/सच	सच्च	सत्य
नाच	नच्च	नृत्य
[च]	[च्च]	[त्व]
सोच	सोच्चा	श्रुत्वा

'छ'—'छ' की उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'छ', श, ष' तथा 'क्ष' से हुई है। इनके अतिरिक्त 'थ्य, श्च, त्स प्स तथा थ्व' से भी 'छ' की उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[छ]	[छ]	[छ]
छाना	छण्ण	छन्न
छावन	छाअण	छादन
छूटन	छुट्टण	छोटन

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[छ]	[छ]	[श]
छकड़ा	छक्कडअ	शकटक:
छाल	छाल	शाल (चुरादिगणीय शल्+वञ्)
[छ]	[छ]	[ष]
छः	छह्	षट्
छठा	छट्ठअ	षष्ठक:
[छ]	[छ]	[क्ष]
छमा	छमा	क्षमा
लच्छन	लच्छण	लक्षण
लिछमी/लच्छी	लच्छमी/लच्छी	लक्ष्मी:
छार	छार	क्षार
[छ]	[च्छ]	[थ्य]
राछ	रच्छ	रथ्य
पछ/पच	पच्छ	पथ्य
[छ]	[च्छ]	[श्च]
पछताव	पच्छितअ	प्रायश्चित्तक:
पच्छिम	पच्छिम	पश्चिम
पाछै/पीछे	पच्छअ/पच्छइ	पश्चक/पश्चात्
बिच्छू	बिच्छुअ	वृश्चिक:
[छ]	[च्छ]	[प्स]
इच्छित	इच्छित/इच्छिय	ईप्सित
अच्छरा	अच्छरा	अप्सरा

'ज्'—'ज्' ध्वनि 'ज्, य, र्य, द्य' से विकसित हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ज]	[ज]	[ज]
जंबू	जंबुअ	जम्बुक
जड़	जड़	जड
जमाई	जामाइअ	जामातृक:
[ज]	[ज]	[य]
जम	जम	यम
जमना	जमुणा	यमुना
जूं	जूआ	यूका
सेज	सेज्ज	शय्या

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ज]	[ज्ज]	[र्य]
काज	कज्ज	कार्य
[ज]	[ज्ज]	[द्य]
आज	अज्ज	अद्य
जुआ	जुअं	द्यूतं

'झ्'—आद्य 'झ' जो मिलता है उसमें विद्वानों का मत है कि यह प्राकृत प्रभाव है और अधिकांश देशी शब्द हैं जो संस्कृत में अपना लिए गये है और हिन्दी में भी प्रायः उसी रूप में अपना लिए गये है; यथा—झञ्झा, झिल्ली, झंकार आदि। हिन्दी में 'ध तथा ध्य' से 'झ' ध्वनि अवश्य आई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[झ]	[ज्झ]	[द/ध]
जूझ(ना)	जुज्झ	युध्
बूझ(ना)	बुज्झ	बुध्
[झ]	[ज्झ]	[ध्य]
सांझ	संज्झा	सन्ध्या
वांझ	वंज्झा	वंध्या

'ञ'—इस ध्वनि का उच्चारण हिन्दी में समाप्त हो गया है। इसका उच्चारण 'न' की तरह किया जाता है और यह केवल तत्सम शब्दावली में ही प्रयुक्त होती है। अनुस्वार के लिए सवर्णी के साथ भी इसका प्रयोग तद्भव शब्दावली में देखा जाता है, जो कि उचित नहीं है।

'ट्'—इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'ट्' और 'त्' से हुई है। विदेशी शब्दों के साथ भी 'ट्' ध्वनि का प्रवेश हिन्दी में हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ट]	[ट्ट]	[ट्ट/ट]
टूट(ना)	टुट्ट	त्रुट्
अटारी/अटाली	अट्टालिअ	अट्टालिका
घटना	घट्टण	घटना
कांटा	कट्टअ	कण्टक
[ट]	[ट्ट]	[त/र्त/र्त्म]
भट	भट्ट	भर्तृ
केवट	केवट्ट	कैवर्त
टल(ना)	टल (इ)	तर
बाट	वट्ट	वर्त्म

'ठ्'—इसकी उत्पत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'ठ्, स्थ, ष्ट, तथा न्थ' से हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ठ]	[ठ]	[ठ]
कठ	कट्ठ	कण्ठ
ठाकुर	ठक्कुर	ठक्कुर
सोंठ	सुण्ठिअ	शुण्ठिका
[ठ]	[ठ/ट्ठ]	[स्थ]
ठग	ठग	स्थग
ठान (पशुओं का स्थान)	ठाण	स्थान
[ठ]	[ठ]	[न्थ]
गाँठ	गंठि	ग्रन्थि
[ठ]	[ट्ठ]	[ष्ट]
कोठा	कोट्ठअ	कोष्ठक
मीठा	मिट्ठअ	मिष्टक
ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट

'ड्'—'ड्' ध्वनि का विकास संस्कृत 'ट, ड, द' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ड]	[ड]	[ड]
डायन	डाइण	डाकिनी
निडर	णिडर	निडर
डमरू	डमरूअ	डमरुक
[ड]	[ड]	[ट]
कड़ाह	कडाह	कटाह
कड़वा	कडुआ	कटुक
[ड]	[ड]	[द]
डाँस	डंस	दंश
डसना	डसण	दंशन
डोल (ना)	डोल	दोलय
डंडा	डंडअ	दण्डक
डाभ	डब्भ	दर्भ

नोट—प्राकृतों में प्राप्त अनादि 'ड' हिन्दी में 'ड़' हो जाता है—

कौड़ी	कवड्डिअ	कपर्दिका
घोड़ा	घोडअ	घोटक
पड़ (ना)	पड (इ)	पत

'ढ्'—संस्कृत 'ठ्' तथा ध् से इस ध्वनि का विकास हुआ है। देशी शब्दों के माध्यम से उक्त ध्वनि हिन्दी भाषा में आई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ढ़]	[ढ्]	[ठ्]
पढ़(ना)	पढ(इ)	पठ्(ति)
[ढ़]	[ढ्]	[ध्]
डेढ़	दिड्ढ	द्वि-अर्ध
बढ़(ना)	वड्ढ	वृध् (वर्धते)
बूढ़ा	वुड्ढअ	वृद्ध
ढीठ	ढिट्ठ	धृष्ट

नोट—अनादि 'ढ' को छोड़कर मध्यकालीन आर्यभाषा का 'ढ' हिन्दी में 'ढ़' उच्चरित होता है। अनादि, जैसे—ढीठ।

'ण्'—यह अनुनासिक स्पर्श ध्वनि भी 'ङ् और ञ्' की तरह हिन्दी में अपना अस्तित्व खो चुकी है। हाँ, तत्सम शब्दावली में अब इसका शुद्ध मूर्धन्य उच्चारण होता है, परन्तु तद्भव शब्दों में इसके स्थान पर प्रायः 'न' मिलता है। जब यह स्वर रहित अन्य मूर्धन्य ध्वनियों के साथ प्रयुक्त होती है, तब तो तत्सम शब्दावली में भी इसका उच्चारण 'न्' जैसा ही सुनाई देता है; यथा—'पण्डित'। परन्तु उच्चारण होता है, 'पन्डित', पुण्य>पुन्य।

'त्'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'त्, त्र्' से माना जाता है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[त]	[त/त्त]	[त]
तेल	तेल्ल	तैल
ताता	तत्तअ	तप्तक
तौंद	तुंद	तुन्द
[त]	[त्त]	[त्र]
गात	गत्त	गात्र
पात	पत्त	पत्र
पूत	पुत्त	पुत्र

'थ्'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं आदि में 'थ्' का अभाव है। मध्य में तथा पदान्त में अवश्य मिलता है। हिन्दी 'थ्' की उत्पत्ति 'थ, स्त, स्थ, से हुई है।

हिन्दी	म. भ. आ.	प्रा. भा. आ.
[थ]	[त्थ]	[त्थ/र्थ]
चौथ	चउत्थ	चतुर्थ
मथनी	मत्थणिअ	मन्थनिका
[थ]	[त्थ]	[स्त]
पोथी	पुत्थी	पुस्ती
थन	थण	स्तन
हाथी	हत्थी	हस्ती
[थ]	[त्थ]	[स्थ]
थान	थाण	स्थान
ऊथल/उथला	उत्थल/उत्थलअ	उत्स्थलक
थापना	थप्पणअ	स्थापनक
थूणी	थूणी	स्थूणी

'द'—इसका विकास संयुक्त एवं असंयुक्त 'द्' से हुआ है। संयुक्त 'द' ध्वनि से 'द' का विकास उसी अवस्था में हुआ है, जब दूसरी ध्वनि का विकास किसी अन्य में सम्भावित न था।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[द]	[द/द्द]	[द, द्र, र्द, न्द्र]
दुबला	दुब्बलअ	दुर्बलक
दु:ख	दुक्ख	दु:ख
दीवा	दीवअ	दीपक
दादुर	दद्दुर	दर्दुर
दोना	दोणअ	द्रोणक
कादा	कद्दम	कर्दम
भद्दा	भद्दअ	भद्रक
चाँद	चंद	चन्द्र

'ध'—'ध' ध्वनि का असंयुक्त और संयुक्त 'ध' ध्वनियों से विकास हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ध]	[ध/द्ध]	[ध/र्ध/ग्ध/द्ध/ध्र]
धाम	धम्म	धर्म
धाडी	धाडी	धाटी
धनी	धणिअ	धनिक
आधा	अद्धअ	अर्धक

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
दूध	दुद्ध	दुग्ध
गीध	गिद्ध	गृध्र
बँधा (हुआ)	बंधिल	बद्ध

'न'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'न्, ण्, ल्, तथा ज्ञ् से इसकी उत्पत्ति हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[न]	[ण]	[न]
नाच	णच्च	नृत्य
निबटना	णिवट्टण	निवर्तन
नारंगी	णारंगिआ	नारङ्गिका
[न]	[ण]	[ण]
कान	कण्ण	कर्ण
कनेर	कण्णिआर	कर्णिकार
नितारना	णित्थारणा	निस्तारणा
[न]	[ल]	[ल]
नोन	लोण/लूण	लवण
नोंचा (हुआ)	लुंचिअ	लुञ्चित
[न]	[ण]	[ज्ञ]
नैहर	णाइहर	ज्ञातिगृह
आन (महादेवजी की आन आदि के अर्थ में)	आणा	आज्ञा

'प'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के असंयुक्त एवं संयुक्त 'प' से इसका विकास हुआ है। संस्कृत के 'त्व' के लिए भी 'पण' का प्रयोग 'त्' से 'प' का विकास सूचित करता है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[प्]	[प्प्]	[प्, त्प, प्र, म्प, र्प]
पका	पक्कल	पक्वक
पाँख	पक्ख	पक्ष
ऊपल	उप्पल	उत्पल
पैर	पयर	प्रदर
काँप(ना)	कंप	कम्प्
साँप	सप्प	सर्प
खप्पर	खप्पर	कर्पर

'फ'—इसकी उत्पत्ति भी प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के असंयुक्त और संयुक्त 'फ्' से हुई है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[फ]	[फ]	[फ्, स्फ, प]
फाग	फग्गु	फल्गु
फूल	फुल्ल	फुल्ल
फूंकाड़	फुक्कार	फूत्कार
फोड़(ना)	फोड	स्फोट
फूट(ना)	फुट्ट	स्फुट्
फरशा	फरसु	परशु

व्'—इसका विकास मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा के 'व्, व्, द्व' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा· आ.
[व]	[व]	[व]
वेर	वयर	वदरी
वाँझ	वझा	वन्ध्या
वहरा	वहिरअ	वधिरक
[व]	[व]	[व]
वाँदर	वाणर	वानर
वनिया	वणिअ	वणिक्
वड	वड	वटः
[व]	[व]	[द्व]
घरवार	घरवार	गृहद्वार
वारह	वारह	द्वादश

'भ्'—इसका विकास संयुक्त और असंयुक्त 'भ' से हुआ है। डॉ. तिवारी ने 'म, व' से भी इसकी उत्पत्ति प्रदर्शित की है; यथा—भेप>वेप>भैस> महिपः।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[भ्]	[भ्]	[भ, भ्य]
भीत	भित्ति	भित्ति
भोज	भुज्ज	भूर्ज
भंडार	भंडाआर	भाण्डागार
भीतर	भितर	आभ्यन्तर

'म्'—असंयुक्त और संयुक्त 'म्' से हिन्दी 'म्' व्युत्पन्न हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा आ.
[म्]	[म्/म्म्]	[म्, र्म्, म्र, श्म्, म्ब]
मीत	मित्त	मित्र
माह(उड़द की दाल)	मास	माष
घाम	घम्म	घर्म
काम	कम्म	कर्म
आम	आम्म	आम्र
कैम	कअम्व	कदम्ब
मसान	मसाण	श्मशान

'य'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की 'य्' ध्वनि हिन्दी तक आते-आते 'ज्' रूप में उच्चरित होने लग गई। कुछ तद्भव शब्दों में ही इसका रूप देखने को मिलता है। पर उद्वृत्त स्वरों के साथ आई हुई 'य' ध्वनि लगभग हिन्दी में सुरक्षित है; यथा—लिये, पाया, गया, अंधियारा आदि।

'र्'—इस ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के 'र्' से हुआ है। संख्यावाचक शब्दों में प्राप्त 'र्' की व्युत्पत्ति के लिए स्पष्ट रूप में कुछ कहना खतरे से खाली नहीं है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[र]	[र]	[र]
रात	रत्ति	रात्रि
रुपया	रुप्पय	रूप्यक
रोस	रोस	रोष
गहरा	गहिरअ	गभीरक
क्वारी	कुआरी	कुमारी

'ल्'—इसका विकास 'ल्, ड्, र्' तीन ध्वनियों से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ल]	[ल]	[ल]
लौंग	लउंग/लवंग	लवंग
लंगूर	णांगूल	लाङ्गूल
लास	लास्स/लास	लास्य
[ल]	[ल]	[ड]
सोलह	सोडस	षोडश
[ल]	[ल]	[र]
चालीस	चालीस	चत्वारिंशत्
लेखा	लेखा/लेहा	रेखा
टल(ना)	टल(इ)	तर्

'व'—इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'व् तथा म्' से हुआ है, किन्तु साहित्यिक हिन्दी में 'म' से व्युत्पन्न शब्दों के प्रयोग का प्रचलन नहीं के बराबर है। उन शब्दों के स्थान पर प्रायः तत्सम शब्दों का प्रयोग अधिक मिलता है। वैसे प्रायः देखा यह जाता है कि कतिपय स्थलों को छोड़कर अधिकांश लोग (विद्वान् भी) 'व' का उच्चारण 'ब' सदृश ही करते हैं। 'कुमार' शब्द से बना कँवर तथा कमल से बने 'कंवल' का प्रयोग प्रायः नहीं के बराबर है। संस्कृत 'वन' को अच्छे-अच्छे विद्वान् 'बन' ही कहते सुने जाते हैं। अतः कहा जा सकता है कि 'व' की स्थिति अभी अस्थिर सी ही है।

'स'—हिन्दी भाषा में लिखने में 'श्, ष्, स्' तीन का ही प्रयोग देखा जाता है; पर उच्चारण में केवल 'श, स' अवशिष्ट हैं। 'ष्' का उच्चारण प्रायः 'श्' की तरह किया जाता है। 'श्' का लेखन एवं उच्चारण बस केवल तत्सम शब्दों में ही देखने को मिलता है। अतः कहा जा सकता है कि हिन्दी में 'स' ध्वनि ही उत्पत्ति की दृष्टि से अपना महत्त्व रखती है। इसका विकास असंयुक्त एवं संयुक्त 'श्, ष्, स्' से सम्पन्न हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[स]	[स]	[श, र्श, श्व]
दस	दस	दश
सौ/सैं	सअ	शत
पास	पस्स	पार्श्व
परमेसर	×	परमेश्वर
[स]	[स]	[ष, र्ष]
कसनी	कस्सणी	कर्षणी
पूस	पोस	पौष
[स]	[स]	[स, स्य]
सात	सत्त	सप्त
साँप	सप्प	सर्प
हास	हस्स	हास्य

'ह'—'ह' ध्वनि का विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा 'ह्, श्, ख्, घ्, थ्, ध् तथा भ्' से हुआ है।

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
[ह]	[ह]	[ह]
हाथ	हत्थ	हस्त
हरि	हरि	हरि
हास	हस्स	हास्य

हिन्दी	म. भा. आ.	प्रा. भा. आ.
हिंगलू	हिंगुल	हिङ्गुल
[ह]	[ह]	[श]
बारह	बारह	द्वादश
तेरह	तेरह	त्रयोदश
[ह]	[ह]	[ख, घ, थ, ध, भ]
सहेली	सही+ली	सखी
नूह	णह	नख
रहट	रहट्ट	अरघट्ट
नाह	णाह	नाथ
सौंह	सवह/सउह	शपथ
वहू	वहू	वधू
वीरवहूटिका	वीरवधूटिका	वीरवधूटिका
अहीर	आहीर	आभीर
हुआ	हूआ	भूत

हिन्दी भाषा की स्वरूप निर्मात्री प्रवृत्तियाँ—जैसाकि पूर्व पृष्ठों में देख चुके है, हिन्दी भाषा का स्वरूप निर्माण ईसा की आठवीं-नवीं शताब्दी से प्रारम्भ हो गया था, फिर भी उसका स्पष्ट रूप हमें बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी के आस-पास से 'मियाँ अमीर खुसरो' और 'कबीर' के साहित्य में देखने को मिलता है, पर इसके तुरन्त बाद हिन्दी साहित्य के सिंहासन पर ब्रजभाषा को आसीन करा दिया गया और खड़ी बोली केवल एक प्रदेश-विशेष की ही बोली बन कर रह गई। इसके कुछ समय पश्चात् यह मुसलमान लोगों के साथ दक्षिण मे चली गई और वहाँ पर रेख़्ता के नाम से पलती रही और फिर साहित्य में उर्दू के नाम से प्रादुर्भूत हुई। जब यह 'उर्दू' के नाम से प्रख्यात हुई, उस समय इसका स्वरूप अरबी-फ़ारसी की शब्दावली से इतना आवृत्त हो गया था कि डॉ. धीरेन्द्र वर्मा को यह कहना पड़ा कि खड़ी बोली ने जब 'बुर्क़ा' पहन लिया तो उर्दू कहलाई। इधर विक्रम की उन्नीसवी शताब्दी के उत्तरार्ध में, अथवा यों कहिए कि अन्तिम वर्षों में उत्तर भारत की इस समर्थ भाषा की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट हुआ और इसे साहित्यिक सिंहासन पर आरूढ़ करने का उपक्रम इन्होने प्रारम्भ किया।

विक्रम की बीसवी शताब्दी भारत के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनीतिक उत्थान की शताब्दी है। इसी सदी में राजा राममोहन राय, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसे समाज सुधारक बंगाल में और स्वामी दयानन्द सरस्वती जैसे प्रकाण्ड पण्डित एवं मनीषी गुजरात में अवतरित हुए और इन्होंने

क्रमशः ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज की स्थापना की, जिसके माध्यम से विस्मृत जनता को उनके गौरवमय अतीत का प्रत्यभिज्ञान कराना ही इनका परमोद्देश्य था। अतः संस्कृत भाषा के अध्ययन और अध्यापन का कार्य तीव्रता के साथ प्रारम्भ हुआ। इधर शृंगार की रसिकता से आलिप्त ब्रजभाषा को, आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने, साहित्य के आसन से च्युत कर खड़ी बोली का साहित्याभिषेक किया। खड़ी बोली को साहित्य की भाषा बनाने का एकमात्र उद्देश्य था—सोयी हुई जनता को जगाना, क्योंकि खड़ी बोली में पौरुष की झलक थी और मानव हृदय की शिथिल तन्त्रियों को झंकृत करने की शक्ति। अतीत के प्रति आस्था ने खड़ी बोली के कोष को संस्कृत शब्दावली से आपूरित कर दिया और परिणाम स्वरूप आज की साहित्यिक हिन्दी में ७५% तत्सम शब्द आ गये। बुद्धिजीवी वर्ग की इस संस्कृत प्रियता का प्रभाव जनसाधारण पर भी पड़ा और ये लोग अपने प्रतिदिन के जीवन में संस्कृत शब्दावली का प्रयोग करने में गौरव का अनुभव करने लगे। यह बात दूसरी है कि वे लोग अपनी अज्ञता अथवा अशिक्षा के कारण उन शब्दों का शुद्ध उच्चारण नहीं कर पा रहे थे। परिणामतः हिन्दी आदि आधुनिक भाषाओं में इस प्रकार की शब्दावली का भी जाने-अनजाने में प्रवेश होने लगा और विद्वानों ने इन्हें 'अर्ध तत्सम' शब्द कहा। कुछ अर्ध तत्सम शब्द सीधे प्राकृत से भी इन भाषाओं में आये है, परन्तु बाहुल्य प्रथम प्रकार की शब्दावली का ही है। इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि हिन्दी भाषा को विकसित करने में हमारी सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति भी सक्रिय रही है।

सांस्कृतिक पुनरुत्थान की प्रवृत्ति ने संस्कृत भाषा के प्रति जो अनुराग की भावना जागरित की, उसका प्रभाव भाषा पर भी पड़ा और उसके दो परिणाम हमारे सामने आये—(१) व्यञ्जन ध्वनियों के प्रति अनुराग। (२) पास-पास में आये स्वरों का समीकरण। यदि अर्ध तत्सम शब्दावली का हम सूक्ष्म अध्ययन करें तो प्रतीत होगा कि उनमें स्वरों के लोप, आगम आदि तो हुए, पर व्यञ्जन ध्वनियों को सुरक्षित रखा गया; यथा—'तीक्ष्ण' शब्द लीजिये। प्राकृत भाषा के नियमों के अनुसार 'तीक्ष्ण>तिक्ख>तीखा' बनना चाहिए, पर इसका 'तिखिण' रूप भी हिन्दी में प्रचलित हो गया। इसी प्रकार 'चन्द्र' शब्द का 'चाँद' और 'इन्द्र' का इन्द/ईद बनना चाहिए, पर प्रयुक्त होते है चन्दर, इन्दर आदि। 'कृष्ण' शब्द का 'किशन' पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है। वरसा, विसणु, सुरसती आदि अनेक शब्द उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते है।

संस्कृत भाषा में व्यञ्जनों को सुरक्षित रखने तथा दो स्वरों को साथ-साथ न आने देने की प्रवृत्ति इस भाषा की सर्वज्ञात प्रवृत्ति है। यद्यपि संस्कृत-प्रियता की इस प्रवृत्ति का उन्मेष तो मुग़ल शासनकाल से ही प्रारम्भ हो गया

था, क्योंकि यह काल भी सांस्कृतिक संघर्ष का काल कहा जा सकता है, तथापि इसकी दुर्बलता यह रही कि राजनैतिक दृष्टि से हम अति शीघ्र ही धराशायी हो गए और यह प्रवृत्ति जनसाधारण तक न पहुँच सकी। फलतः उदीयमान भाषाओं पर जो उचित प्रभाव उस समय पड़ना चाहिए था, वह नहीं पड़ सका। बीसवी शताब्दी की कहानी इससे पूर्णतः भिन्न रही। एक तरफ़ साहित्यकार एवं समाज सुधारक सांस्कृतिक पुनरुत्थान में तल्लीन थे, दूसरी ओर बालगंगाधर तिलक और महात्मा गाँधी जैसे महापुरुष पूर्ण स्वराज्य की माँग प्रस्तुत कर रहे थे। उस युग में और इस युग जो सैद्धान्तिक अन्तर था, वह यह था कि मध्यकाल धार्मिक संघर्ष का युग था और उसके प्रतिनिधि थे केवल आभिजात्य वर्ग के लोग, जो जनसाधारण को स्वयं कोई महत्त्व देने को तैयार न थे, परन्तु इस युग के महापुरुष समस्त जनता में एक नई चेतना की लहर दौड़ा देना चाहते थे। प्रत्येक व्यक्ति को समान स्तर पर ले आना चाहते थे। संक्षेप में कहा जा सकता है कि हम समस्त दबावों से मुक्त होना चाहते थे और इस मुक्ति का सबसे बड़ा अस्त्र था प्राचीन गौरव। उपरिकथित दोनों महापुरुष सस्कृत ग्रन्थों एवं उसकी संस्कृति को लेकर ही आगे बढ़ रहे थे। गीता के प्रति इनकी श्रद्धा इसका सबल प्रमाण है। अतः सांस्कृतिक पुनरुत्थान की इस प्रवृत्ति को आधुनिक भाषाओं के ध्वनि-विकास का मूल कारण कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति ने भाषा की ध्वनियों को विकसित करने की निम्न प्रणालियों को जन्म दिया—(१) द्वित्व को समाप्त करना; (क) पूर्व स्वर को दीर्घ बनाकर, (ख) बिना पूर्व स्वर को दीर्घ किये ही। (२) महाप्राण ध्वनियों की सुरक्षा (केवल उन भाषाओं में जो विशेषकर बीसवीं शताब्दी में अत्यधिक मात्रा में विकसित हुई)। (३) स्वरभक्ति (विशेषकर अर्धतत्सम शब्दावली में)। (४) समीकरण की प्रणाली। (५) विपर्यय की प्रणाली।

एकादश अध्याय

हिन्दी भाषा का रूपात्मक विकास

प्राचीन भारत में भाषा-अध्ययन के प्रकार—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात—संज्ञा, वचन, लिङ्ग, कारक, परसर्ग—सर्वनाम—विशेषण—आख्यात—धातु—सिद्ध और साधित—अकर्मक, सकर्मक, प्रेरणार्थक और नामधातुओं का विकास—काल विस्तार—कृदन्त काल और तिङन्त काल—पूर्वकालिक क्रियायें; क्रियात्मक संज्ञायें; संयुक्त क्रियायें; उपसर्ग से तात्पर्य, तद्भव उपसर्ग—अव्यय—क्रिया विशेषण, और अन्य अव्यय ।

प्राचीन भारत में भाषा-अध्ययन के प्रकार

प्राचीन भारत में भाषा के अध्ययन को तीन भागों में विभाजित किया गया था : (१) शिक्षा, (२) निरुक्त और (३) व्याकरण। शिक्षा में भाषा की ध्वनियों पर, निरुक्त में शब्दों की व्युत्पत्ति पर और व्याकरण में शब्द के रूपों पर विचार किया गया है। आज की पद्धति के अनुसार शिक्षा को ध्वनि-विज्ञान, निरुक्त को व्युत्पत्ति-विज्ञान और व्याकरण को रूप-विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है। भाषा के रूपात्मक अध्ययन में उसके प्रकृति और प्रत्यय का, अथवा यों कहिये कि उसके अर्थतत्त्वों एवं सम्बन्धतत्त्वों का अध्ययन प्रस्तुत किया जाता है। इन्हीं तत्त्वों का संयोग और वियोग भाषा के रूप का निर्माण करता है। किन्हीं भाषाओं में दोनों तत्त्व मिले हुए होते हैं और किन्हीं में ये पृथक्-पृथक् रहते हैं, अथवा कुछ सम्बन्धतत्त्व अर्थतत्त्व से मिल जाते हैं, कुछ पृथक् ही रहते हैं। इन सब बातों एवं इनके कारणों का विश्लेषण करना ही भाषा का रूपात्मक अध्ययन होता है। इसे दो रूपों में प्रस्तुत किया जाता है : (१) विश्लेषण और (२) विकास। विश्लेषण में आलोच्य भाषा के उक्त तत्त्वों की उस भाषा में क्या स्थिति है ? उनका पारस्परिक सम्बन्ध तथा उनके स्थान का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। विकास में इन तत्त्वों के मूल रूपों का अध्ययन कर यह भी देखा जाता है कि इन्हें प्रस्तुत रूप, स्थिति एवं स्थान प्राप्त करने में कितने उत्थान-पतनों का साम्मुख्य करना पड़ा है। प्रस्तुत अध्ययन में हम हिन्दी भाषा के रूप का इन दोनों दृष्टिकोणों से ही विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेंगे।

महर्षि यास्क ने समस्त शब्दों को चार भागों में विभाजित किया है; यथा—'नामाख्याते-चोपसर्गनिपाताश्च' अर्थात् (१) नाम, (२) आख्यात, (३) उपसर्ग, और (४) निपात। नाम के अन्तर्गत तीन प्रकार के शब्दों की गणना की जाती है—(१) संज्ञा, (२) सर्वनाम, और (३) विशेषण। आख्यात के अन्तर्गत क्रियापद आते हैं। उपसर्ग, शब्द के आदि में लग कर अर्थ में परिवर्तन प्रस्तुत करते हैं। 'निपात' के अन्तर्गत अव्यय शब्द लिये जाते है। नाम के अन्तर्गत शब्द के दो रूप बनाये गये हैं—(१) प्राति-पदिक और (२) पद। प्रातिपदिक वे शब्द होते है जो अर्थवान् हैं, पर न धातु हैं और न प्रत्यय। इसके साथ-साथ कृदन्त, तद्धितान्त तथा समस्त (समास युक्त) शब्द भी प्रातिपदिक ही होते हैं। महामुनि पाणिनि ने इसके लिए दो सूत्र प्रस्तुत किये हैं—(१) अर्थवदधातुरप्रत्ययः

प्रातिपदिकम् ।[1] (२) कृत्तद्धितसमासाश्च ।[2] आधुनिक शैली में प्रातिपदिक को अर्थतत्त्व कहा जा सकता है। 'पद' उसे कहते हैं जब प्रातिपदिक के साथ 'सुप्' (विभक्ति प्रत्यय) प्रत्यय जोड़ दिये जाते हैं। इसी प्रकार 'धातु' के साथ 'तिङ्' प्रत्यय जोड़ देने पर 'धातु' की भी 'पद' संज्ञा हो जाती है।[3] चूंकि हिन्दी प्रयोगात्मक भाषा है, इसलिए इसमें 'पद' की वैसी व्यवस्था नहीं है, जैसी संस्कृत भाषा में। अतः इसमें सभी के लिए 'शब्द' शब्द का प्रयोग किया जाता हैं। 'नाम' शब्दों का प्रयोग तीन वचनों, तीन लिङ्गों एवं आठ कारकों में किया जाता है। संज्ञा शब्दों में प्रत्येक शब्द का लिङ्ग निश्चित है; यथा—देव, (पुल्लिङ्ग); लता (स्त्रीलिङ्ग); फल (नपुंसकलिङ्ग) प्रत्येक लिङ्ग के शब्द एकवचन, द्विवचन और बहुवचन में यथास्थिति प्रयुक्त होते हैं। आठों कारकों में भिन्न-भिन्न विभक्ति-प्रत्ययों के सहयोग से इनका रूप निर्माण होता है और प्रत्येक कारक तीन वचनों में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार एक शब्द के कुल मिलाकर '२४' रूप बनते हैं। सर्वनाम एवं विशेषण शब्दों की स्थिति इनसे कुछ भिन्न है। 'अस्मद् तथा युष्मद्' सर्वनाम शब्दों को छोड़कर जो तीनों लिङ्गों में समान रूप रहते हैं; शेष सर्वनाम एवं विशेषण शब्द त्रिलिङ्गी हैं अर्थात् एक शब्द के रूप पुल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्ग तीनों लिङ्गों में चलते हैं; यथा 'तद्' शब्द लीजिये—

	एकवचन	द्विवचन	बहुवचन
पुल्लिङ्ग—कर्ताकारक	सः	तौ	ते
स्त्रीलिङ्ग—कर्ताकारक	सा	ते	ताः
नपुंसकलिङ्ग—कर्ताकारक	तत्	ते	तानि

इसी प्रकार संस्कृत में विशेषण शब्दों का लिङ्ग और वचन विशेष्य के अनुसार चलता है।

उपर्युक्त विवेचन से हम इस निर्णय पर पहुँचते हैं कि 'नाम' शीर्षक के अन्तर्गत (१) वचन, (२) लिङ्ग, और (३) कारकों का अध्ययन भी अपेक्षित है।

संज्ञा—संज्ञा शब्द किसी व्यक्ति, जाति और उनके समूह तथा भाव का द्योतन कराते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में संज्ञा शब्द दो रूपों में उपलब्ध होते हैं; एक तो स्वरान्त और दूसरे व्यञ्जनान्त। मध्यकालीन भाषाओं में, जैसा कि पहले बताया जा चुका है, स्वरों के प्रति अनुराग और

---

[1] अष्टाध्यायी, १/२/४५।

[2] वही, १/२/४६।

[3] सुप्तिङन्तं पदम्—पाणिनि अष्टाध्यायी, १/४/१४।

अलक्षित है। मध्यकाल में आते-आते द्विवचन का अस्तित्व समाप्त हो गया और केवल 'एकवचन और बहुवचन' दो वचन ही शेष रह गये। हिन्दी भाषा ने मध्यकालीन भाषाओं का ही अनुसरण कर दो वचनों (एकवचन, बहुवचन) की स्थिति को ही बनाये रखा। वचनों के क्षेत्र में एक बात और विचारणीय है। प्राचीन काल में कुछ मात्रा में मध्यकाल में भी वचनों का भाग्य विभक्ति-प्रत्ययों के साथ अधिक जुड़ा हुआ था; यथा—कर्ता-कारक के बहुवचन का रूप कुछ और होता था और कर्म-कारक का कुछ और। हाँ! सम्प्रदान और अपादान कारकों में अवश्य ही इनका रूप समान रहता था। प्राकृतों में यह केवल तीन वर्गों में विभाजित हो गया और हिन्दी तक आते-आते 'वचन' ने अपना रूप स्थिर कर लिया और कुछ ऐसे प्रत्ययों का निर्माण हो गया, जो प्रत्येक कारक में उपस्थित रहने लगे। संक्षेप में कह सकते है कि 'वचन' ने सरलीकृत रूप धारण कर लिया।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं के वचनों की कुल मिला कर २० की औसत निकाली जा सकती है, जो घिसती-पिटती आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं तक ४/५ तक ही रह गई। हिन्दी इसमें सब से सरल है। हिन्दी में वचन सूचक केवल पाँच प्रत्यय हैं, जिनका प्रयोग भी अत्यन्त सरल है। वचन के दो रूप हैं एक ऋजु और दूसरा तिर्यक्। इन दोनों आधारों पर इन प्रत्ययों का प्रयोग निम्न प्रकार से हो सकता है—

प्रातिपदिक	ऋजु रूप		तिर्यक् रूप	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
आकारान्त पुल्लिङ्ग	शून्य	ए	ए	ओं (अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है)
ईकारान्त पुल्लिङ्ग	शून्य	शून्य	शून्य	यों
स्वरान्त व व्यञ्जनान्त (पुल्लिङ्ग)	शून्य	शून्य	शून्य	ओं (अन्त्य 'आ' का लोप हो जाता है)

सूचना—ईकारान्त और ऊकारान्त प्रातिपदिक जब बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं, तब क्रमशः इकारान्त और उकारान्त हो जाते हैं; यथा—'हाथी' का 'हाथियों' (ब. व.) 'उल्लू' का 'उल्लुओं' आदि। स्त्रीलिङ्ग में भी यही नियम लागू होता है।

प्रातिपदिक	ऋजु रूप		तिर्यक् रूप	
	एकवचन	बहुवचन	एकवचन	बहुवचन
इकारान्त, ईकारान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	याँ	शून्य	यों
ऐकारान्त, ओकारान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	शून्य	शून्य	ओं
शेष स्वरान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	एँ	शून्य	ओं
व्यञ्जनान्त—स्त्रीलिङ्ग	शून्य	एँ ('अ' लोपहो जाता है, लेखन के अनुसार)	शून्य	ओं (अ लोप)

उपर्युक्त चक्र को दृष्टि में रखते हुए विशुद्ध भाषा-वैज्ञानिक पद्धति के अनुसार हम कह सकते हैं कि हिन्दी में केवल पाँच प्रत्यय वचन सूचक हैं; यथा—(१) ए, (२) एँ. (३) आँ (४) ओं, (५) ए/'य्' श्रुति का आगम प्रातिपदिक में वर्तमान 'इ, ई' के कारण हो जाने से इनमें 'यों, याँ' दिखने लगते हैं और इसी आधार पर इन्हें पाँच कहा गया है।

प्रत्ययों का विकास—एकवचन का सूचक प्रत्यय केवल 'ए' है जो तिर्यक रूप में प्रयुक्त होता है और शेष शून्य प्रत्यय होते हैं।

शून्य प्रत्यय—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के 'सु' प्रत्यय से इसका विकास हुआ है। प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में कर्ता-कारक एकवचन में 'सु' को विसर्ग हो जाती है। यही विसर्ग प्राकृत काल में 'ओ' और अपभ्रंश काल में 'उ' के रूप में सामने आती हैं। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में पदान्त स्वर-लोप के नियम के अधीन 'उ' का लोप कर दिया जाता है और इस प्रकार शून्य प्रत्यय निष्पन्न होता है। वैसे कर्ता-कारक एकवचन में व्यञ्जनान्त शब्दों में तथा आकारान्त और ईकारान्त स्त्रीलिङ्ग शब्दो में शून्य प्रत्यय का प्रारम्भ हो गया था, जो अपभ्रंश काल में आकर अपनी चरम परिणति में दृष्टिगत होता है। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में, विशेषकर हिन्दी में, प्रायः सभी प्रातिपदिकों और कारकों के एकवचन में शून्य प्रत्यय का प्रयोग इस प्रवृत्ति की लोक-प्रियता का सूचक है।

'ए'—हिन्दी में आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के एकवचन में तिर्यक् रूप के लिए 'ए' प्रत्यय का प्रयोग मिलता है। इसकी व्युत्पत्ति विद्वान् लोग सप्तमी

के सर्वनाम रूप 'स्मिन्' से मानते है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में 'कर्म, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण' आदि कारकों में 'हि' का प्रयोग होने लगा था। आगे चल कर 'ह्' लोप की प्रवृत्ति ने अकारान्त शब्दों के साथ 'इ' का प्रयोग ही प्रारम्भ कर दिया और यही 'अइ' आगे चल कर 'ए' प्रत्यय के रूप में सामने आया; यथा—स्मिन्>हि/हिं>इ>अ+इ=ए।

बहुवचन प्रत्यय :

'एँ'—इस प्रत्यय का विकास नपुंसक रूप 'आनि' (कर्ता, कर्म बहुवचन) से हुआ है; यथा—(सं.) आनि>म. भा. आ. आइँ>हि. एँ।

'आँ'—इसका विकास भी नपुंसक लिङ्ग के बहुवचन रूप 'आनि' से ही हुआ है। (सं.) आनि>(म. भा. आ.) आइँ>(हि.) आँ।

'ओं'—इसका विकास संस्कृत सम्बन्ध कारक बहुवचन के प्रत्यय 'आनाम्' से बताया जाता है। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं को इसके घिसे हुए रूप के साथ 'हु' भी लगाया जाने लगा और इस प्रकार हिन्दी का 'ओं' प्रत्यय सामने आया; यथा—

(सं.) आनाम्>(म. भा. आ.) आनं>आणं+हु>अउँ>(हि.) ओं।

'ए'—इस प्रत्यय के विकास में विद्वानों का मतभेद है। हार्नले ने विकारी एकवचन के प्रत्यय 'ए' को ही बहुवचन में प्रयुक्त माना है, परन्तु डॉ. चाटुर्ज्या इसकी व्युत्पत्ति करण कारक के बहुवचन प्रत्यय 'एभिः' से करते है; यथा—

(सं.) एभिः>(म. भा. आ.) अहि/अही>(अप.) अइ>(हि.) ए।

'लिङ्ग'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में तीन लिङ्ग पाये जाते है; (१) पुल्लिङ्ग, (२) स्त्रीलिङ्ग और (३) नपुंसकलिङ्ग। मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में भी तीन ही लिङ्ग है, परन्तु ऐसा लगता है कि अपभ्रंश काल तक आते-आते लिङ्ग व्यवस्था कुछ शिथिल हो गई थी। प्रसिद्ध वैयाकरण हेमचन्द्र ने इसका संकेत दिया है।[4] अपभ्रंश में पुल्लिङ्ग शब्दों का प्रयोग नपुसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग में होने लगा था और इन लिङ्गों का पुल्लिङ्ग में। इस प्रकार कुछ आपसी घोल-मेल होने लग गया था इस पारस्परिक मिश्रण ने ही सम्भवतः नपुंसकलिङ्ग की जड़ें हिला दीं और गुजराती, मराठी आदि भाषाओं को छोड़ कर शेष आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने नपुंसकलिङ्ग का पल्ला छोड़ दिया। हिन्दी में केवल दो लिङ्ग है—(१) पुल्लिङ्ग और (२) स्त्रीलिङ्ग।

---

4 लिङ्गमतन्त्रम्, हेमशब्दानुशासन, सूत्र संख्या ४४५।

हिन्दी भाषा की लिङ्ग व्यवस्था को लेकर विद्वत्समाज में बड़ी आलोचना एवं प्रत्यालोचना होती है। उनका कहना है कि हिन्दी की लिङ्ग व्यवस्था ठीक नहीं है। इसमें एक शब्द पुल्लिङ्ग है और उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द स्त्रीलिङ्ग। इसी प्रकार समान धर्म का सूचक एक शब्द पुल्लिङ्ग और दूसरा स्त्रीलिङ्ग। साथ ही यह भी कहना है कि हिन्दी की क्रियाओं में भी लिङ्ग घुसा हुआ है। अन्य भाषाओं में ऐसा नहीं है। इन तीनों तर्कों को यदि हम युक्ति की कसौटी पर कसते हैं, तो खरे नहीं उतरते। कारण स्पष्ट है कि ये तर्क अध्ययन के आधार पर नहीं, बल्कि हिन्दी भाषा का मज़ाक़ उड़ाने के लिये कहे जाते हैं। इससे पूर्व कि इन तर्कों का उत्तर दिया जाय, एक बात स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'लिङ्ग' का अर्थ होता है चिह्न। इन चिह्नों का निर्धारण दो प्रकार से होता है, एक प्रकृति के द्वारा और दूसरा व्याकरण के द्वारा। पहले को 'लौकिक लिङ्ग व्यवस्था' और दूसरे को 'व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था' कहते हैं। लोक के अनुसार पुरुष चिह्नों से युक्त चेतन तत्त्व पुल्लिङ्ग और स्त्री चिह्नों से युक्त चेतन तत्त्व स्त्रीलिङ्ग और अचेतन पदार्थ नपुंसक लिङ्ग होता है। लेकिन भाषाएँ इस व्यवस्था से निर्देशित नहीं हो सकतीं। अतः उसमे व्याकरणिक लिङ्ग व्यवस्था को महत्त्व मिलता है। वैयाकरण लोक-व्यवस्था को दृष्टि में रखता हुआ अन्य दूसरे उपादानों से भी संचालित होता है; यथा—(१) व्याकरणिक प्रत्यय, (२) वस्तुओं का धर्म, (३) अन्य भाषाओं का प्रभाव। इन सब का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् भी यदि भाषा में लिङ्ग निर्धारण ठीक नहीं बैठता है, तो कहा जा सकता है कि अमुक भाषा में कहीं न कहीं कोई न कोई अव्यवस्था है। हिन्दी भाषा के लिये कहा जा सकता है कि इसमें कहीं पर लिङ्ग व्यवस्था दूषित नहीं है।

अब उपर्युक्त तर्कों पर विचार कीजिये कि वे कहाँ तक युक्तिसंगत हैं। दो शब्द हैं, एक 'पुस्तकम्' और दूसरा 'ग्रन्थ'। एक नपुंसक लिङ्ग है, दूसरा पुल्लिङ्ग। क्या कारण है कि एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले ये दो शब्द भिन्न लिङ्गी हैं। उत्तर स्पष्ट है कि प्रथम में 'कन्' प्रत्यय लगा है, जो नपुंसक लिङ्ग शब्दों का भी निर्माण करता है और दूसरे में 'घञ्' प्रत्यय है, जो पुल्लिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है और यही कारण है कि दोनों शब्दों का एक अर्थ होते हुए भी लिङ्ग भिन्न-भिन्न है। अब ये शब्द मंजिल तय करते हुए हिन्दी में भी आए। 'ग्रन्थ' शब्द का लिङ्ग वही रहा, पर 'पुस्तक' स्त्रीलिङ्ग बन बैठी। संस्कृत में उक्त अर्थ के लिए एक शब्द और आता है, और यह है, 'पुस्ती', जिसे मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने 'पुत्थी' रूप में स्वीकार किया और हिन्दी में 'पोथी' बना। उक्त शब्द संस्कृत में स्त्रीलिङ्ग था। अतः इसका तद्भव रूप भी स्त्रीलिङ्ग ही रहा और इसके पश्चात् सांस्कृतिक

पुनरुत्थान ने 'पुस्तक' 'शब्द दिया तो हिन्दी में नपुंसक लिङ्ग के अभाव के कारण इसे 'पोथी' के यहाँ आश्रय मिला और स्त्रीलिङ्ग बन बैठा। इसी प्रकार अन्य शब्दों को भी समझा जा सकता है। यही स्थिति समानधर्मी शब्दों की भी है। जहाँ तक क्रियाओं में लिङ्ग व्यवस्था की बात है, वह तो बिल्कुल ही स्पष्ट है। हिन्दी भाषा संस्कृत भाषा का विकसित रूप है। संस्कृत में क्रियाओं के दो रूप प्रचलित थे, एक तिङन्त और दूसरा कृदन्त। संस्कृत में तिङन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था नहीं है, अर्थात् वे सभी लिङ्गों में एकरूप रहते हैं; यथा—सः चलति, सा चलति आदि। कृदन्त रूपों के साथ लिङ्ग व्यवस्था है; यथा—तेन खादितः, तया पक्वालुः (आलू की टिकिया) द्राक्षा च (अंगूर) खादिता। ठीक यही स्थिति हिन्दी की भी है। जो शब्द (क्रिया) तिङन्त रूपों से विकसित होकर आये हैं, उनके लिए लिङ्ग का झगड़ा नहीं है और जो कृदन्तों से विकसित होकर आये हैं उनके लिए लिङ्ग का ध्यान रखना परमावश्यक है; यथा—सीता खाये, राम खाये। इनमें 'खाये' क्रिया संस्कृत की 'खाद्' धातु के विधिलिङ्ग का विकसित रूप है, अतः लिङ्ग की उलझन नहीं है। परन्तु जब हम कहते हैं, 'सीता खाती है' तो कहना पड़ेगा कि 'राम खाता है'। 'खाना' क्रिया में लिङ्ग का निर्धारण कर्ता के अनुसार हो गया। कारण स्पष्ट है कि इसका विकास संस्कृत के 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्त 'खादत्' से हुआ है। अब तुलना कीजिये—

हिन्दी	संस्कृत
सीता खाये	सीता खादेत्
राम खाये	रामः खादेत्
सीता खाती हुई है	सीता खादन्ती अस्ति (यद्यपि अर्थ में कुछ भिन्नता अवश्य रहेगी)
राम खाता हुआ है	रामः खादन् अस्ति।

हिन्दी में लिंग निर्धारण की प्रणाली—हिन्दी भाषा में लिङ्ग निर्धारित करने से पूर्व हमें उसके शब्दकोश पर विचार करना चाहिये। हिन्दी में मुख्यतः पाँच प्रकार के शब्द मिलते है—(१) तत्सम, (२) अर्ध तत्सम, (३) तद्भव, (४) देशज और (५) विदेशज—

(क) अरबी, फ़ारसी, तुर्की,

(ख) अंग्रेज़ी, फ्रेंच, पुर्तगाली।

(१) तत्सम शब्द—तत्सम शब्दों का लिङ्ग वही है, जो उनका संस्कृत में था। केवल नपुंसक लिङ्ग शब्द हिन्दीं में पुल्लिङ्ग हो गये हैं। कुछ नपुंसक लिङ्ग शब्द अवश्य ऐसे हैं, जो हिन्दी में आकर स्त्रीलिङ्ग भी हुए है; जैसे—वस्तु, शरण, दधि आदि। इन पर क्रमशः अन्य शब्दों का प्रभाव दिखाई देता है;

यथा—'वस्तु' पर 'चीज़' का, 'शरण' पर 'पनाह' का और 'दधि' के विकसित रूप 'दही' पर 'छाछ' का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। अन्यथा संस्कृत तत्सम शब्दावली में प्राकृतिक लिङ्गों को छोड़ कर आकारान्त ईकारान्त, 'क्तिन्' प्रत्ययान्त तथा 'ता' प्रत्ययान्त शब्द हिन्दी में स्त्रीलिङ्ग होंगे; शेष सब शब्द पुल्लिङ्ग। संस्कृत के 'घञ्' प्रत्ययान्त तथा ल्यु (अन) प्रत्ययान्त शब्द पुल्लिङ्ग होंगे; यथा—हास, नाश, लाभ, काल और करण, भरण, तरण आदि।

अर्ध तत्सम शब्द—इन पर भी उपर्युक्त नियम ही लागू होगा, किन्तु तब तक, जब तक उनके साथ हिन्दी का कोई कृदन्त अथवा तद्धित प्रत्यय न लगाया गया हो; क्योंकि इन प्रत्ययों के लगने पर लिङ्ग परिवर्तन का अवसर उपस्थित हो सकता है। यथा—(सं.) चातुर्य (नपुंसक) (हि.) चतुराई (स्त्रीलिङ्ग)। यहाँ पर हिन्दी का तद्धित 'आई' प्रत्यय लगने से उक्त शब्द स्त्रीलिङ्गवाची हो गया।

तद्भव—तद्भव शब्दों ने [जहाँ तक अन्य भाषाओं का प्रभाव और हिन्दी तद्भव प्रत्ययों के योग से दूर रहे हैं, वहाँ तक] अपने तत्सम रूपों के लिङ्गों को ही बनाये रखने का प्रयत्न किया है। हिन्दी प्रत्ययों के अनुसार लिङ्ग व्यवस्था इस प्रकार हो सकती है—जिस शब्द के साथ तद्धित प्रत्यय 'पन, पा, ना, अन्त, इला, अन, अता, अक्कड़' आदि का प्रयोग होगा, वे पुल्लिङ्ग होंगे। इनके क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हो सकते हैं; यथा—लड़कपन, बुढ़ापा, ढकना, गढ़न्त, रंगीला, चलन, उड़ता, घुमक्कड़ आदि। इसी प्रकार जिन शब्दों के साथ, अती, ती, वट, हट, आई, आरी, आल्, आवनी, आस, आइन, इन, अक, इक, उक, जी, ड़ी, ती, थी आदि प्रत्यय युक्त शब्द प्रायः स्त्रीलिङ्ग होंगे। ऐसे ही अन्य प्रत्ययों को भी लिङ्गानुसारी उपस्थित किया जा सकता है।

देशज/विदेशज—इन शब्दों का लिङ्ग भी इनकी मूल प्रवृत्ति के अनुसार ही हिन्दी में अपनाया गया है; अन्य शब्दों के प्रभाव से युक्त शब्दों को छोड़ कर।

उपर्युक्त विवरण से इतना अवश्य स्पष्ट है कि हिन्दी भाषा में अनेक स्रोतों से शब्दों का आगमन हुआ है और वे अपने साथ, रूप के साथ-साथ अपने लिङ्ग और वचन भी लेकर आये और हिन्दी भाषा ने अपनी उदारनीति के कारण उन्हें उसी रूप में स्वीकार भी कर लिया। अतः हिन्दी भाषा के विद्यार्थी को इन बातों का ध्यान भी रखना पड़ेगा।

स्त्रीलिंग निर्माता प्रत्यय—स्त्रीलिङ्ग बनाने वाले केवल सात प्रत्यय हिन्दी में पाये जाते हैं। (१) आ, (२) ई, (३) आनी, (४) नी, (५) इन, (६) आइन और (७) इया।

'आ'—यह प्रत्यय अधिकतर तत्सम शब्दों में पाया जाता है। संस्कृत में

इस प्रत्यय को 'टाप्' की संज्ञा दी है। 'अजाद्यतस्टाप्' सूत्र पुल्लिङ्ग शब्दों में 'आ' बढ़ा कर स्त्रीलिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है। हिन्दी में अन्य उद्गम से भी यह प्रत्यय आया है, जो विशेषण शब्दों का निर्माण करता है; यथा—प्यासा, भूखा, रूखा, सूखा आदि स्त्रीलिङ्ग शब्द; यथा—बाला, अजा, अध्यापिका आदि।

'ई'—यह भी संस्कृत का 'ङीप्' प्रत्यय है जो संस्कृत 'ई' के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी में यह सबसे अधिक लोक-प्रिय प्रत्यय है। तत्सम शब्दों के साथ-साथ तद्भव शब्दों में भी इसका प्रयोग धड़ल्ले के साथ किया जाता है। क्रियाओं का तो एकमात्र प्रत्यय यही है; यथा—खाती, जाती, रोती, बैठती आदि। तद्भव शब्द; यथा—कुल्हाड़ी, चाची, मामी, दादी, कुबड़ी (सं. कुब्जा), घोड़ी आदि। अन्य उद्गम से आया हुआ 'ई' प्रत्यय पुल्लिङ्ग शब्दों का निर्माण करता है; यथा—माली, धोबी, तेली आदि व्यापार सूचक शब्द।

'आनी'—यह प्रत्यय भी संस्कृत से निसृत है। संस्कृत में भवानी, रुद्राणी, इन्द्राणी आदि अनेक शब्द स्त्रीलिङ्गवाची मिलते है। अतः इन तत्सम शब्दों के आधार पर तद्भव शब्दों में भी इसका प्रयोग चल पड़ा; यथा—देवरानी, जेठानी, कुँवरानी आदि।

'नी'—संस्कृत में 'इनी' प्रत्यय का प्रयोग बहुलता से मिलता है और उन तत्सम शब्दों का प्रयोग मध्यकाल में भी कुछ विकास के साथ चलता रहा, पर अपभ्रंश तक आते-आते 'इ' अपनी सत्ता खो बैठी और केवल 'नी' शेष रह गया। 'इ' ध्वनि के लोप के उदाहरण 'क्त' 'क्त' प्रत्यय में भी लक्षित किये जा सकते है। अतः हम कह सकते है कि 'नी' 'इनी' का ही विकसित रूप है। तत्सम शब्द, यथा—भट्टिनी, विसिनी, भामिनी, कामिनी, लेखिनी आदि। तद्भव शब्द; यथा—मोरनी, ऊँटनी, जाटनी, शेरनी, कुलच्छनी।

'इन'—यह प्रत्यय भी संस्कृत 'इनी' के अन्त्य स्वर का लोप होकर हिन्दी में आया है। इसका तद्भव रूप भी मिलता है और हिन्दी में अपनी ओर से भी लगा दिया जाता है। तात्पर्य यह है कि संस्कृत में जिस शब्द के साथ 'इनी' न लगकर कोई और प्रत्यय लगा हुआ है, वहाँ हिन्दी मे 'इन' लगा दिया गया है। तद्भव रूप में विकसित शब्द; यथा—(सं.) भगिनी>(प्राकृत) बहिणी>(अपभ्रंश) बहिणी>(हिन्दी) बहिन; (सं.) योगिनी>(प्रा.) जोगिणी>(अपभ्रंश) जोगिणी>(हि.) जोगिन आदि। संस्कृत से भिन्न शैली में प्रयुक्त प्रत्यय वाले शब्द—(सं.) नापिती>(हि.) नाइन, (सं.) धौतिका>(हि.) धोबिन, (सं.) साध्विका>(हिन्दी) साधण/साधनी।

'आइन'—यह प्रत्यय भी 'इनी' का ही विकसित रूप है जो हिन्दी में जाति-

वाचक शब्दों में प्रयुक्त होता है; यथा—ठकुराइन, पण्डिताइन (सं. पण्डिता), बनियाइन आदि।

'इया'—इया प्रत्यय भी स्त्रीलिङ्ग शब्द बनाने में काम आता है। इसका विकास सम्भवतः संस्कृत प्रत्यय 'इका' से हुआ है। संस्कृत में यह लघुता सूचक प्रत्यय था, जो स्त्रीलिङ्गवाची रहा है; (इका>इआ>इया) यथा—घटी>घटिका, मक्षी>मक्षिका, वाटी>वाटिका आदि। हिन्दी में ऐसा क्रम है, पर इसके साथ कोमलता का भाव भी जोड़ दिया गया है। हिन्दी 'बाछा' (गाय का बच्चा) के दो स्त्रीलिङ्ग रूप प्रचलित हैं; (१) बाछी, (२) बछिया। इसी तरह गाय के लिए गइया (गैया) शब्द भी चलता है। मटका>(१) मटकी, (२) मटकिया आदि। लघुता के बोधन में, पर पुल्लिङ्ग रूप में ही; घड़ा>घड़िया (छोटा मटका), भाई>भइया (भैया); पुल्लिङ्ग से स्त्रीलिङ्ग; यथा—गढ़>गढ़इया, लोटा>लुटिया आदि। ये शब्द लघुता का बोध भी कराते हैं।

'कारक'—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में कारकों की संख्या आठ थी। अपभ्रंश तक आते-आते यह संख्या तीन रह गई। हिन्दी में केवल दो ही कारक हैं; (१) ऋजु, (२) तिर्यक्। प्रथम वे कारक जिनमें कारक चिह्नों[5] का प्रयोग नहीं होता और दूसरे वे जिनमें कारक चिह्नों का प्रयोग होता है; यथा—राम खाता है (ऋजु)। राम ने खाया (तिर्यक्)। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं में किसी न किसी रूप में कारक विभक्तियाँ वर्तमान थीं, पर हिन्दी तक आते-आते इनका स्थान कुछ शब्दांशों ने ले लिया और भाषाविदों ने उन शब्दांशों को 'परसर्ग' की संज्ञा दी। इन परसर्गों का स्थूल रूप उत्तरकालीन संस्कृत में दिखाई पड़ने लगता है; यथा—कार्यस्य कृते, रामस्यार्थे, अस्मात् कारणात् आदि। धीरे-धीरे ये विकसित होते रहे और अपभ्रंश भाषा के व्याकरण में हेमचन्द्राचार्य को इसकी पर्याप्त लम्बी सूची देनी पड़ी। संस्कृत एवं अपभ्रंश (विशेषकर) के व्याकरण इस बात के साक्षी हैं कि इन परसर्गों का प्रयोग प्रारम्भ में सविभक्तिक शब्द के साथ किया जाता था। इसका कारण यह हो सकता है कि प्रारम्भ में विभक्ति-प्रत्यय पूर्णतः घिस तो नहीं गए थे, पर वे अपना पूर्ण अर्थ द्योतन कराने में असमर्थ से होने लगे थे। इस प्रकार एक ओर तो ये प्रत्यय अपनी अर्थबोधन-शक्ति से हाथ धोते जा रहे थे और दूसरी ओर इनके रूप का भी क्षय होता जा रहा था। हिन्दी भाषा तक आते-आते कुछेक स्थानों को छोड़कर ये प्रत्यय पूर्णतः लुप्त हो गए और कारकों का बोधन पूर्णतः परसर्गों के हाथ में आ गया। अन्य आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की तुलना में हिन्दी ने कम से कम परसर्गों

---

5 कारक चिह्नों का विवरण एवं विकास नवम अध्याय में दे दिया गया है।

को अपनाया। हिन्दी में इन परसर्गों का प्रयोग प्रातिपदिक के साथ भी होता है और सविभक्तिक शब्दों के साथ भी। इससे स्पष्ट है कि हिन्दी में कुछ विभक्ति-प्रत्यय अब भी अवशिष्ट है। ऋजु रूपों में बहुवचन में केवल आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों के साथ ही विभक्ति-प्रत्यय अवशिष्ट है और वह भी कर्ता और कर्म कारक के द्योतन में। तिर्यक् रूपों में केवल आकारान्त एकवचन में ही विभक्ति-प्रत्यय के साथ परसर्ग प्रयुक्त होते है। शेष प्रातिपदिकों के साथ विभक्ति के स्थान पर परसर्गों से ही काम लिया जाता है; यथा—लड़के ने, लड़के को, लड़के से, लड़के के लिए आदि। अन्य रूप, यथा—राम ने, मुनि को, भानु से, पाण्डे के लिए आदि। पुल्लिङ्ग बहुवचन में समस्त प्रातिपदिक सविभक्ति होकर परसर्ग का आश्रय लेते है और तब अर्थबोध कराते हैं। स्त्रीलिङ्ग शब्दों में ऋजु रूप के एकवचन में सभी शब्द प्रातिपदिक रूप में ही रहते हैं, पर बहुवचन में ऐकारान्त और ओकारान्त शब्दों को छोड़कर शेष सभी प्रातिपदिक विभक्ति-प्रत्यय के साथ वाक्य में प्रयुक्त होते हैं। जहाँ तक तिर्यक् रूपों का सम्बन्ध है, समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द एकवचन में प्रातिपदिक रूप रहते हैं और परसर्गों की सहायता से कारक-बोध कराते है। बहुवचन में समस्त स्त्रीलिङ्ग शब्द विभक्ति-प्रत्यय के साथ होते हैं और परसर्ग के माध्यम से कारक का बोध कराते हैं। संक्षेप में यों कहा जा सकता है कि प्राचीन भारतीय आर्य भाषा काल और मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा काल में, जो विभक्ति-प्रत्यय कारक और वचन दोनों का बोध कराते थे, उन प्रत्ययों के घिसे हुए रूप जो हिन्दी में मिलते हैं, वे अब केवल मात्र वचन का बोध कराने की ही सामर्थ्य रखते हैं। कारकों का बोध या तो स्थान के द्वारा, अथवा परसर्ग के द्वारा और कभी-कभी क्रिया रूपों के द्वारा ही हिन्दी भाषा में होता है।

परसर्गों के लिखने की समस्या—हिन्दीजगत् में एक समस्या बड़े जोरों से चल रही है कि परसर्गों को शब्द के साथ जोड़कर लिखा जाए अथवा मूल शब्द से हटाकर पृथक् लिखा जाए। इसमें भिन्न-भिन्न विद्वानों के तीन मत हैं। एक तो वे जो परसर्गों को शब्द से सटाकर लिखने के हामी हैं, दूसरे वे जो परसर्गों को शब्द (मूल) से हटाकर पृथक् रूप में लिखने के समर्थक है और तीसरे वे जो संज्ञा शब्दों के साथ सटाकर और सर्वनाम शब्दों से हटाकर लिखना चाहते है। इन तीनों मतों में दूसरा मत मेरी बुद्धि में अधिक समीचीन है। जहाँ तक पहले मत का सम्बन्ध है, इस मत के मानने वालों के मस्तिष्क में संस्कृत के विभक्ति प्रत्ययों का प्रभाव है और वे परसर्गों को भी विभक्ति प्रत्ययों की तरह प्रत्यय ही मानकर चलते हैं, जो कि उचित नहीं हैं। इन विद्वानों का तर्क है कि यदि हम परसर्गों को हटाकर पृथक् रूप में लिखेंगे तो सर्वनाम 'हमारा' को भी हम आरा, 'मेरा' को 'मे रा' और 'इसे' को 'इस ए' लिखना

पड़ेगा, जो कि अर्थबोध की दृष्टि से ठीक नहीं है। सम्भवतः यही डर तीसरे मत के समर्थकों को भी है, इसलिए वे सर्वनाम शब्दों में परसर्गों को सटाकर लिखने की बात करते हैं। किन्तु यह तर्क अत्यन्त खोखला है। उपर्युक्त शब्दों में प्रयुक्त 'आर' तथा 'ए' परसर्ग नहीं हैं, अपितु 'आर' तो सम्बन्ध-सम्बन्धी प्रत्यय हैं[6] और 'ए' विभक्ति-प्रत्यय है, जो आकारान्त पुल्लिङ्ग शब्दों में वर्तमान है। अतः इन्हें मूल शब्द से पृथक् लिखने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। उधर परसर्ग प्रत्यय नहीं हैं, अपितु मूल शब्दों के घिसे हुए रूप हैं। अनेक परसर्ग तो अब भी अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व रखते हैं। अतः ऐसे शब्दों एवं शब्दांशों के समास को छोड़कर कभी भी सटाकर नहीं लिखा जा सकता और न ही लिखना चाहिये। हटाकर क्यों लिखे जाएँ ? इसके लिए एक सबल तर्क यही है कि अनेक बार मूल शब्द और परसर्ग के बीच में हम अन्य शब्द का भी प्रयोग करते हैं और यह प्रयोग इस बात की पुष्टि करता है कि परसर्ग स्वतन्त्र मूल शब्द का अभिन्न अंग नहीं। यथा—'राम ने कहा', राम ही ने कहा। 'राम से पूछा' तथा राम ही से पूछा आदि। मेरी दृष्टि में परसर्गों को मूल शब्दों से हटाकर स्वतन्त्र शब्द के रूप में ही लिखा जाना चाहिये और हिन्दी भाषा की वियोगात्मक प्रवृत्ति भी इसका ही समर्थन करती है।

'ने' तथा 'को' परसर्गों का प्रयोग—हिन्दी में अन्य परसर्ग तो सर्वत्र प्रयुक्त होते हैं, किन्तु 'ने और को' परसर्ग सर्वत्र प्रयुक्त नहीं होते। अतः हिन्दी भाषा पर दोषारोपण किया जाता है कि हिन्दी में अजीब बात है कि कहीं ये परसर्ग प्रयुक्त हो जाते हैं और कहीं नहीं होते, पर यह थोड़ा-सा समझ का ही फेर है; अन्यथा इनके प्रयोगों में कोई उलझन नहीं है। जहाँ तक 'ने' परसर्ग के प्रयोग की बात है, यह केवल अपूर्ण भूत को छोड़कर भूत काल के सभी भेदों में सकर्मक क्रिया के साथ प्रयुक्त होता है और अन्य स्थानों पर कर्ता-कारक में 'ने' का प्रयोग नहीं होता। यथा—राम खाता है, राम खायेगा, राम खाए; पर भूतकाल में—राम ने खाया, राम ने खाया था, राम ने खाया होगा आदि रूप होते हैं। अकर्मक क्रिया होने पर भूतकाल में भी 'ने' का प्रयोग नहीं होगा; यथा—राम हँसा, राम गया आदि। सकर्मक क्रिया में भी 'बोलना, भूलना, बकना' क्रियाओं के साथ 'ने' नहीं लगेगा।

'को' 'कर्म-कारक' का सूचक प्रत्यय है। सम्प्रदान के लिए भी इसका प्रयोग होता है। 'को' परसर्ग के आधार पर डॉ. उदयनारायण तिवारी ने हिन्दी में नपुंसकलिङ्ग का अवशेष देखा है, पर यह उचित नहीं प्रतीत होता। डॉ. तिवारी ने उदाहरण दिये हैं—'धोबी को बुलाओ, गाय को खोल दो' आदि

---

[6] ''युष्मदादेरीयस्य डारः'' हेमशब्दानुशासन, ८.४३४।

तो कहा जाता है, पर 'घास को काटो और कपड़ों को लाओ' नहीं कहा जाता है; क्योंकि ये दोनों शब्द नपुंसकलिङ्ग के द्योतक हैं। यहाँ विचारणीय है कि उपर्युक्त "घास" और "कपड़ा" शब्द नपुंसकलिङ्ग नहीं है। 'घास' संस्कृत के 'घासः' से विकसित पुल्लिङ्ग शब्द है। प्राकृत में भी 'घास' पुल्लिङ्ग है, फिर हिन्दी में जहाँ नपुंसकलिङ्ग है ही नहीं तो फिर यह नपुंसकलिङ्ग कैसे है? इसी प्रकार 'कर्पटः' शब्द संस्कृत में 'पुल्लिङ्ग' है और प्राकृत में भी इसका तद्भव रूप 'कप्पड' पुल्लिङ्ग है। जहाँ तक 'को' परसर्ग के प्रयोगाभाव का सम्बन्ध है, वह क्रिया-कारण है; जैसे—'मैंने एक लड़का देखा' या 'मैंने एक लड़की देखी' दोनों वाक्यों में 'को' परसर्ग का प्रयोग नहीं है, पर ये नपुंसकलिङ्ग भी नहीं है। 'को' न होने का कारण है 'हिन्दी का कर्मणि प्रयोग। जब इसका कर्तृ प्रयोग होगा तो 'को' आ जायेगा, यथा—हरि ने एक लड़की को देखा—कर्तृ प्रयोग। हरि ने लड़की देखी—कर्मणि प्रयोग। अतः कह सकते है कि कर्मणि प्रयोग और द्विकर्मक क्रिया के दूसरे कर्म को छोड़कर, सर्वत्र 'को' का प्रयोग होना चाहिये।

सर्वनाम—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा में सर्वनामों की संख्या ३५ थी, जो घटते-घटते हिन्दी में केवल दस रह गयी। हिन्दी के सर्वनाम सबसे सरल है। संस्कृत में 'अस्मद् और युष्मद्' को छोड़कर सब सर्वनाम प्रायः त्रिलिङ्गी हैं, जबकि हिन्दी में सर्वनामों में लिङ्ग उलझन है ही नहीं; यथा—मैं जाता हूँ, मैं जाती हूँ, तुम जाते हो, तुम जाती हो, यह जाता है और यह जाती है, आदि।

हिन्दी में सर्वनाम शब्दों को निम्नलिखित प्रकार से विभाजित किया गया है—

(१) पुरुषवाचक, (२) सम्बन्धवाचक, (३) प्रश्नवाचक, (४) अनिश्चय वाचक और (५) निजवाचक।

(१) **पुरुषवाचक सर्वनाम**—व्यक्ति के साम्मुख्य और असाम्मुख्य को लेकर पुरुषवाचक सर्वनाम के तीन भेद किये जाते है—(१) उत्तम पुरुष, (२) मध्यम पुरुष तथा (३) अन्य पुरुष।

उत्तम पुरुष—जो व्यक्ति किसी को कुछ कहता है, उस कहने वाले का अपने लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष वाचक सर्वनाम कहलाता है; यथा 'मैं'। इसका बहुवचन होता है 'हम'। इसके भी दो रूप होते है (१) ऋजु और (२) तिर्यक्।
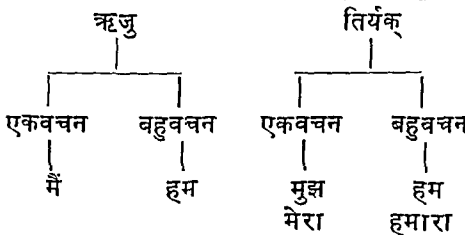
'मैं'—मैं की व्युत्पत्ति संस्कृत 'मया' शब्द से हुई है। अपभ्रंश में तृतीया एकवचन का रूप 'मया' के स्थान पर मइं मिलता है, जो हिन्दी में 'मैं' बन जाता है। अपभ्रंश में यह करण कारक के साथ-साथ कर्म तथा अधिकरण कारक में भी प्रयुक्त होने लगा और हिन्दी में यह कर्ता कारक के लिए ही स्वीकृत हो गया।

'हम'—हम की उत्पत्ति संस्कृत 'वयं' से न होकर वैदिक संस्कृत के 'अस्मे' शब्द से हुई है; यथा—(छा.) अस्म>(म.भा.आ.) अम्ह>हम। बीच में एक रूप 'हम्म' को भी विद्वान् स्वीकार करते हैं, पर यह रूप कभी प्रयुक्त हुआ हो, यह संदिग्ध है।

'मुझ'—'मुझ' की उत्पत्ति संस्कृत 'मह्यम्' से हुई है; यथा (सं.) मह्यम्> (म. भा. आ.) मज्झ >(हि.) मुझ।

'मेरा'—'मेरा' की उत्पत्ति 'मम केर' से की जाती है। पर मेरी दृष्टि में इसकी व्युत्पत्ति 'महार' से की जाए तो उत्तम रहे, क्योंकि 'मम केर' में प्रथम संस्कृत शब्द है और दूसरा अपभ्रंश। इस प्रकार से शब्द-निर्माण का प्रचलन पाया नहीं जाता। अतः इसकी व्युत्पत्ति यों सम्भव हो सकती है कि संस्कृत के सम्बन्ध-सम्बन्धी 'ईय्' प्रत्यय के स्थान पर अपभ्रंश में 'डार' प्रत्यय होता है। 'ड्' का लोप होने पर 'आर' बच जाता है और जब इसे पंचमी के साथ लगाते हैं तो 'महार' बनता है और 'ह' के लोप पर 'मेआर' बनेगा, जिससे स्वर-विपर्यय से 'मेअरा' 'मेरा' बन जायेगा। 'ए' के आदेश का जहाँ तक सम्बन्ध है, यह प्रवृत्ति आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में प्रचलित हो गयी थी। आधुनिक मारवाड़ी में सर्वत्र 'ह्' के लोप के पश्चात् उसके पूर्ववर्ती 'अ' को 'ऐ' कर दिया जाता है। कहीं-कहीं 'ए' भी मिलता है। यह मेरी दृष्टि में अधिक वैज्ञानिक है, क्योंकि द्वितीया और तृतीया में इसका प्रयोग विशेषणवत् भी होता है।

'हमारा'—इसकी व्युत्पत्ति विद्वान् लोग 'अस्मकेर' से करते आये हैं, जो उचित नहीं। जब 'हम' की व्युत्पत्ति—'अम्ह' से मानी जाती है—तो 'हमारा' की व्युत्पत्ति अपभ्रंश 'अम्हार' से मानी जानी चाहिये। (अप.) अम्हार> हम्मार>(हि.) हमारा।

मध्यम पुरुष—मध्यम पुरुष वहाँ होता है जहाँ वक्ता श्रोता के लिए सर्वनाम शब्द का प्रयोग करता है; यथा—तू। बहुवचन होगा 'तुम' और तिर्यक् रूप होंगे 'तुझ और तुम्ह' तथा 'तेरा और तुम्हारा'।

'तू'—'तू' की उत्पत्ति संस्कृत 'त्वं'>(म.भा.आ.) तुअं>(अप.) तुहं> (हि.) तूं>(सा. हि.) तू' से हुई है। 'ह्' के लोप के कारण 'उ' का दीर्घ हो जाना अधिक वैज्ञानिक है।

'तुम'—'तुम' की व्युत्पत्ति प्राकृत 'तुम्ह' से 'ह्' के लोप होने पर निष्पन्न होती है।

'तुझ'—'तुझ' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'तुभ्यम्' से स्पष्ट रूप में हो सकती है; यथा—(सं.) तुभ्यम् > (म.भा.आ.) तुज्झ > (हि.) तुझ।

'तेरा'—'तेरा' की व्युत्पत्ति 'तवकेर' से दिखाई जाती है, पर मेरी दृष्टि में इसकी व्युत्पत्ति भी 'तुहार > तहार > तेरा' इस प्रकार होनी चाहिए।

'तुम्हारा'—इसकी व्युत्पत्ति 'युष्मकेर' से की जाती है। इसकी व्युत्पत्ति 'तुम्हार' (अपभ्रंश) से अधिक उपयुक्त है।

अन्य पुरुष—जिसके सम्बन्ध में वक्ता और श्रोता वार्तालाप करते हैं, उसके लिए प्रयुक्त किया गया सर्वनाम शब्द अन्य पुरुषवाचक सर्वनाम कहलाता है। यह दो प्रकार का होता है; (१) समीपवर्ती और (२) दूरवर्ती। समीपवर्ती—यह, दूरवर्ती—वह। इनके बहुवचन क्रमशः 'ये और वे' होते है और तिर्यक् रूप—इस (एकवचन), इन (बहुवचन), उस (एकवचन), उन्ह, उन (बहुवचन) होते हैं।

'यह'—'यह' की उत्पत्ति संस्कृत 'एषः' से हुई है। संस्कृत 'एष': प्राकृत में 'एसो' तथा अपभ्रंश में 'एहो' से 'ए' का 'य' होकर पदान्त स्वर-लोप से 'यह' बना है। (सं.) एषः > (प्रा.) एसो > (अप.) एहो > (हि.) यह।

'ये'—'ये' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एते' से हुई है। संस्कृत 'एते' प्राकृत में 'एए' मिलता है और अपभ्रंश में 'एह'; इसमें सम्भवतः 'य' श्रुति का आगम हुआ है और 'ह्' लोप से 'ये' निष्पन्न हुआ होगा। यह व्युत्पत्ति कुछ संदिग्ध ही है। इतना अवश्य है कि मध्यकालीन हिन्दी में एकवचन में 'एहा'[7] मिलता है और बहुवचन में 'ए'[8]। अतः अनुमान लगाया जा सकता है कि पार्थक्य दिखाने के लिए 'बहुवचन' के 'ह' का लोप कर दिया गया है।

'इस'—'इस' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एतस्य' से निम्न प्रकार से हुई है :

(सं.) एतस्य > (प्रा.) एअस्स > (हिन्दी) इस।

'इन/इन्ह'—इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एतेषाम्' से हुई है :

(अनुमानित) 'एतानाम्' (म. भा. आ.) एआणं > (अप.) एण्ह (हि.) इन्ह/इन।

'वह'—'वह' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'असौ' से निम्न प्रकार से की जाती है :

(सं.) असौ > (प्रा.) असो > (अप.) अहो > (हिन्दी) वह।

---

7 सब कर फल एहा। डॉ. सरनामसिंह शर्मा—हिन्दी भाषा : रूप-विकास, पृष्ठ ३०३ से उद्धृत।

8 ए बिचरहि मग बिच त्राना। वही, पृष्ठ ३०४ से उद्धृत।

'उस'—'उस' की व्युत्पत्ति 'अमुष्य' से सम्पन्न होती है; (सं.) अमुष्य>(प्रा.) अमुस्स>(हिन्दी) उस।

'वे'—अपभ्रंश में 'अदस्' को 'ओइ' रूप [करण कारक में] मिलता है। बहुत सम्भव है 'ओइ' से 'व' श्रुति का आगम होकर 'वे' शब्द बना हो।

'उन/उन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति प्राकृत 'अउणं' से सम्भावित है; यथा—

(प्रा.) अउणं (अप./का.) उण्ह>(हि.) उन/उन्ह।

(२) सम्बन्धवाचक—ये दो वस्तुओं अथवा व्यक्तियों का सम्बन्ध बताते हैं। इसके ऋजु रूप में 'जो' (एकवचन) 'जो' (बहुवचन) बनते हैं और तिर्यक् रूप में 'जिस' (एकवचन) 'जिन/जिन्ह' (बहुवचन) में बनते हैं।

'जो'—'जो' का विकास संस्कृत 'यः' से हुआ है; (सं.) यः>(प्रा.) जो>(हि.) जो।

'जिस'—व्युत्पत्ति—(सं) यस्य>(प्रा.) जस्स>(हि.) जिस।

'जिन'—(सं.) 'येषां' से बतायी जाती है। 'जिन्ह' की भी 'येषां' से है। मेरी दृष्टि में ये व्युत्पत्तियाँ संदिग्ध हैं।

(३) प्रश्नवाचक—जो सर्वनाम शब्द व्यक्ति के सम्बन्ध में जिज्ञासा की सूचना देते हैं, वे प्रश्नवाचक सर्वनाम कहलाते हैं। इसके ऋजु रूप 'कौन' (एकवचन); 'कौन', (बहुवचन); तिर्यक् रूप—किस (एक वचन); किन/किन्ह (बहुवचन) आदि बनते है।

'कौन'—इस शब्द की व्युत्पत्ति 'कः पुनः' संस्कृत शब्द से मानी जाती है; यथा—(सं.) कः पुनः>(प्रा.) कवृण>(अप.) कउण>(हि.)कौन।

किस'—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'कस्य' से निष्पन्न होती है; यथा—(सं.) कस्य>(म. भा. आ.) कस्स/किस्स>(हि.) किस।

'किन/किन्ह'—इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'केषाम्' से बतलाते हैं, पर यह अभी संदिग्ध है।

(४) अनिश्चयवाचक—जहाँ किसी वस्तु या व्यक्ति की अनिश्चयता सूचित की जाती है, वहाँ पर इस सर्वनाम का प्रयोग किया जाता है। इसका ऋजु रूप एकवचन और बहुवचनों में 'कोई' होता है और तिर्यक् रूप 'किसी' (एकवचन); किन्हीं (बहुवचन) होता है।

'कोई'—इसकी उत्पत्ति संस्कृत 'कः अपि' 'कोऽपि' से हुई है; यथा—(सं.) कोऽपि>(प्रा.) कोपि>(अप.) कोवि>(हि.) कोई।

'किसी'—इस शब्द की व्युत्पत्ति निम्नप्रकार से मानी जाती है; यथा—(सं.) कस्यापि>(प्रा.) कस्सवि>(अप.) कस्सई>(हि.) किसी।

'किन्ही'—इसकी व्युत्पत्ति 'केषामपि' से बताई जाती है।

(५) **निजवाचक सर्वनाम**—अपने लिए जब सर्वनाम शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब उन्हें 'निजवाचक सर्वनाम' कहते हैं। संस्कृत के हलन्त 'आत्मन्' शब्द का प्रयोग हिन्दी में सर्वनाम की तरह प्रयुक्त होने लग गया। संस्कृत 'आत्मन्' शब्द के प्राकृत में दो रूप मिलते हैं, एक 'अत्त' और दूसरा 'अप्प'; अपभ्रंश में 'अप्पण' भी बनता है। हिन्दी में प्राकृत 'अप्प' से आप और अपभ्रंश 'अप्पण' से 'अपना' शब्द बने हैं। 'अप्पण' शब्द का सम्बन्ध प्राकृत 'अप्पणअ' और संस्कृत 'आत्मानक:' से जोड़ा जा सकता है।

(सं.) आत्मन्>(म. भा. आ.) अप्प>(हि.) आप।

(सं.) आत्मानक:>(प्रा.) अप्पणअ>(हि.) अपना।

विशेषण—जो शब्द संज्ञाओं की विशेषता प्रकट करते हैं, उन्हें विशेषण कहा जाता है। ये शब्द कभी किसी वस्तु के गुण को कभी उसके परिमाण को तो कभी संख्या को प्रकट करते हैं। अत: इन्हें गुणवाचक, परिमाणवाचक और संख्यावाचक विशेषण आदि तीन भागों में बाँट सकते हैं। परिमाणवाचक विशेषण में भी प्रयोग तो संख्या शब्दों का ही होता है, पर विशेष्य के आधार पर ज्ञात होता है कि इसकी गणना नहीं हो सकती, बल्कि नाप या तोल होता है। अत: कुछ विद्वान् मूलत: विशेषण को संख्यावाचक बनाकर उसके दो भेद करते हैं—(१) गणना मूलक संख्यावाचक विशेषण और (२) परिमाण मूलक संख्यावाचक विशेषण। उपर्युक्त तीनों भेदों के अनिश्चयात्मक रूप भी होते हैं; यथा—'कैसा लड़का, ऐसा लड़का, वैसा लड़का' आदि। ऐसे वाक्यों से गुण का बोध तो होता है, किन्तु उस गुण के निश्चित रूप की प्रतीति नही होती। इसी प्रकार 'इतना दूध, कितने लड़के, जितनी पुस्तकें' आदि में भी संख्या की निश्चयात्मकता का ज्ञान नही होता। अत: उक्त तीनों भेदों में से प्रत्येक को निश्चयात्मक और अनिश्चयात्मक रूप में और विभाजित कर सकते हैं और इस प्रकार व्याकरण की दृष्टि से विशेषण के छ: भेद हो जाते हैं, परन्तु भाषा-वैज्ञानिक विवेचन के लिए हम तीन ही भेद लेकर चलते हैं—(१) गुणवाचक विशेषण, यथा—काला, गोरा आदि; (२) संख्यावाचक विशेषण; दो, तीन, चार, तीसरा, तीनों, चौगुना आदि; (३) सार्वनामिक विशेषण अर्थात् जिन विशेषण शब्दों के मूल में सर्वनाम शब्दों की स्थिति पायी जाती हो।

प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं और मध्यकालीन आर्य भाषाओं में विशेषण के लिङ्ग, वचन और कारक उसके विशेष्य के अनुसार चलते थे, पर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इस प्रवृत्ति का परित्याग कर दिया गया है। डॉ. उदयनारायण तिवारी की यह बात उचित प्रतीत नहीं होती कि केवल साहित्यिक हिन्दी ने प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की इस प्रवृति को सुरक्षित

रखा है।[9] प्रायः समस्त आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में केवल लिङ्ग के क्षेत्र में ओकारान्त एवं आकारान्त भाषाओं के ओकारान्त विशेषण और आकारान्त विशेषण शब्द विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार बदल जाते हैं। हाँ, पंजाबी भाषा तो साहित्यिक हिन्दी से एक कदम और आगे बढ़ती है कि उसके स्त्रीलिङ्ग विशेषण शब्द विशेष्य के वचन का भी अनुसरण करते हैं। उपर्युक्त इस कथन की पुष्टि उदाहरण के द्वारा इस प्रकार हो सकती है :

आकारान्त भाषाएँ (हिन्दी) :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छा लड़का	अच्छे लड़के	अच्छे लड़के	अच्छे लड़कों
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी लड़की	अच्छी लड़कियाँ	अच्छी लड़की	अच्छी लड़कियों

आकारान्त पंजाबी भाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छा मुंडा	अच्छे मुंडे	अच्छे मुंडे	अच्छे मुंडा
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी कुड़ी	अच्छियाँ कुड़ियाँ	अच्छी कुड़ी	अच्छिआँ (याँ) कुड़ियाँ

आकारान्त मराठी भाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	काला घोड़ा	काले घोड़े	काल्या घोड्या	काल्या घोड्या
स्त्रीलिङ्ग—	काली घोड़ी	काली घोड्यां	काली घोड़ी	काली घोड्यां

उपर्युक्त उदाहरणों के आधार पर हम कह सकते हैं कि आकारान्त प्रधान भाषाओं के विशेषण शब्द (केवल आकारान्त) विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार चलते है, पर तिर्यक् रूप के बहुवचन में विशेषण शब्द विशेष्य की प्रणाली मे नहीं चलकर तिर्यक् रूप के एकवचन में ही रहता है; अथवा यों कहिये कि ऋजु रूप के बहुवचन की स्थिति में ही रहता है। स्त्रीलिङ्ग में विशेषण सर्वत्र वचन की दृष्टि से एकरूप रहता है, केवल पंजाबी भाषा को छोड़ कर।

औ/ओकारान्त भाषाएँ (मारवाड़ी) :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	भलो छोरो	भला छोरा	भला छोरा	भला छोरां
स्त्रीलिङ्ग—	भली छोरी	भली छोर्याँ	भली छोरी	भली छोर्याँ

---

[9] डॉ. उदयनारायण तिवारी—हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृ० ४३५।

व्रजभाषा :

	ऋजु रूप एकवचन	ऋजु रूप बहुवचन	तिर्यक् रूप एकवचन	तिर्यक् रूप बहुवचन
पुल्लिङ्ग—	अच्छो/छो	अच्छे	अच्छे	अच्छे
	पामरो/रो	पामरे	पामरे	पामरें न्
स्त्रीलिङ्ग—	अच्छी	अच्छी	अच्छी	अच्छी
	पामरी	पामरी	पामरी	पामरिन्/रीन्

गुजराती :

पुल्लिङ्ग—	सारो छोकरो	सारा छोकरा	सारा छोकरा	सारा छोकराओं
स्त्रीलिङ्ग—	सारी छोकरी	सारी छोकरीओं	सारी छोकरी	सारी छोकरीओं

उपर्युक्त उदाहरणों में भी आकारान्त प्रधान भाषाओं की प्रणाली का ही अनुगमन किया गया है। आकारान्त विशेषणों के अतिरिक्त सभी विशेषण शब्द हिन्दी मे एक रूप रहते है, विशेष्य के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित नहीं होते; यथा—सुन्दर बालक, सुन्दर बालिका, सुन्दर बालकों, सुन्दर बालिकाओं/बालिकाएँ आदि। संस्कृत भाषा के अनुकरण पर तथा सौन्दर्य की दृष्टि से कही-कही 'मतुप्, इन्, विन्, क्त, ईयस् तथा मय आदि प्रत्ययान्त तत्सम विशेषण शब्द अपने विशेष्य के लिङ्ग के अनुसार' वदल जाते है; यथा—मनोहारी पुरुष और मनोहारिणी स्त्री, बलवान् भाव और बलवती इच्छा आदि, किन्तु हिन्दी में इसके लिए कट्टरता नहीं बरती जाती; यथा—'राम विद्यार्थी है' और सीता विद्यार्थी है, राम धनी पुरुष है और सीता-धनी स्त्री है, आदि।

संख्यावाचक विशेषण—संख्यावाचक विशेषणों में 'ग्यारह, बारह, तेरह और पन्द्रह' को छोड़कर सभी संख्यावाचक शब्दों की उत्पत्ति संस्कृत संख्याओं से सम्पन्न हो जाती है। यद्यपि उक्त तीनों शब्दों की व्युत्पत्ति भी विद्वान् लोग संस्कृत 'एकादश, द्वादश और त्रयोदश' से ही करते है, तो भी उनका 'र' की व्युत्पत्ति के लिए दिया गया तर्क गले नहीं उतरता। कुछ लोग 'द्' के लिए 'र्' का आदेश बताते है, कुछ लोग 'द्' का लोप कर 'र्' का आगम करते है, पर यह क्लिष्ट कल्पना ही है; क्योंकि 'द्' को 'ड्' का आदेश तो प्राकृतों में मिलता है पर 'द्' को 'र्' का आदेश केवल इन तीन स्थलों को छोड़कर कही नही मिलता। पाली भाषा में हम देखते है कि उसके ध्वनि-नियम के अनुसार 'द्वादश' का 'दुवादस' तो मिलता ही है, साथ ही 'बारस' भी मिलता है, यह रूप एकदम कहाँ से आ गया ? विचारणीय विषय है और स्मरणीय बात यह है कि आगे की भाषाओं ने इसी रूप को सर्वाधिक मात्रा में अपनाया भी है। इसी आधार पर 'ग्यारह और तेरह' का भी रूप निर्धारित हुआ ज्ञात होता है। उक्त व्युत्पत्ति में 'श' का 'ह्' तो जंचता है पर 'द्' का 'र्' बिल्कुल समझ में नही

आता। हाँ, 'त्' के साथ 'र्' आगम (मुख्यतया और सम्भवतः 'त्र' के मिथ्या सादृश्य के आधार पर) के उदाहरण मध्यकालीन राजस्थानी में बहुतायत से मिलते हैं। अतः बहुत सम्भव है कि 'त्' के साथ 'र्' के आगम की प्रवृत्ति प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं की किसी बोली-विशेष में रही हो और उस बोली में सर्वप्रथम 'सप्तदश' के स्थान पर 'सत्तरह्' का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और फिर अन्य ये चार शब्द भी वहीं से आ गए हों, पर इसमें 'चौदह्' की समस्या बनी रह जाती है। अतः इस पर कुछ अधिक सूक्ष्मता और तुलनात्मक शैली से अध्ययन की आवश्यकता है। शेष शब्द निम्न प्रकार से व्युत्पन्न हैं—

हिन्दी	म० भा० आ०	प्रा० भा० आ०
एक	एक्क	एक
दो	दु[10] (द्वि, पालि)	द्वि
तीन	तिणि	त्रीणि
चार	चत्तारो/चत्तारि	चत्वारि
पांच	पंच	पञ्च
छः	छह्	षट् (षष्)
सात	सत्त	सप्त
आठ	अट्ठ	अष्ट
नौ	नउ	नव
दस	दस	दश
बीस	वीसअ/वीसइ	विंश
तीस	तीसअ	त्रिंशत्
चालीस	चत्तालीसा	चत्वारिंशत्
पचास	पंचासा	पञ्चाशत्
साठ	सट्ठि	षष्टिः
सत्तर	सत्तरि	सप्ततिः
अस्सी	असीइ	अशीतिः
नब्बे	नब्बए	नवतिः
सौ	सउ	शतम्
लाख	लक्ख	लक्ष
करोड़	कोडि	कोटि
अरब	×	अर्बुद
खरब	×	खर्व

---

[10] हेमचन्द्र कृत हेम शब्दानुशासन, १/९४।

(ख) **क्रमवाचक विशेषण**—क्रमवाचक बनाने के लिए प्रथम में 'ला'; द्वितीय, तृतीय में 'सरा'; चतुर्थ में 'था'; छठे में 'आ' और शेष सब में 'वाँ' प्रत्यय लगाये जाते है। 'ला' की व्युत्पत्ति संदिग्ध है, 'सर' 'सृत' से, 'आ' 'अ' से, 'वाँ' संस्कृत 'म:' से 'अ' के स्थान पर 'आँ' बढ़ाकर व्युत्पन्न किये जाते हैं।

(ग) **समानुपाती संख्यावाचक**—इन विशेषण शब्दों के साथ प्राय: 'गुना' शब्द जोड़कर निष्पन्न कर लिया जाता है; यथा—दुगुना, तिगुना, दसगुना आदि। 'गुना' शब्द संस्कृत 'गुणक:>(म. भा. आ.) गुणअ>(हि.) गुना से व्युत्पन्न हुआ है।

सार्वनामिक विशेषण—सार्वनामिक विशेषण वे शब्द होते है जिनका मूल सर्वनाम शब्दों में निहित होता है। ये दो प्रकार के होते है—(१) गुण-वाचक, (२) अनिश्चित संख्यावाचक, जो गणना और परिमाण दोनों में प्रयुक्त हो सकते है। डॉ. उदयनारायण तिवारी का इन्हें केवल परिमाणवाचक कहना उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'इतना दूध' कह सकते है तो 'इतने लड़के' भी कहा जा सकता है।

(क) **गुणवाचक सार्वनामिक विशेषण**—'गुण' को व्यक्त करने वाले सार्वनामिक विशेषण शब्द हिन्दी में लगभग पाँच है—(१) ऐसा, (२) कैसा, (३) वैसा, (४) तैसा और (५) जैसा।

व्युत्पत्ति :

(१) **ऐसा**—'ऐसा' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत 'एतादृशक:' से हुई है; यथा—(सं.) एतादृशक:>(म. भा. आ.) एइसअ>(अप.) अइसअ>(हि.) ऐसा।

(२) **कैसा**—(सं.) कीदृशक:>(प्रा.) कइसअ, (अप.) कइसअ> (हि.) कैसा।

(३) **वैसा**—(सं.) ओतादृशक:>(म. भा. आ.) उइसअ>(हि.) वैसा।

(४) **तैसा**—(स.) तादृशक:>(म. भा. आ.) तइसअ>(हि.) तैसा।

(५) **जैसा**—(स.(यादृशक:>(म. भा. आ.) जइसअ>(हि.) जैसा

(ख) **अनिश्चित संख्यावाचक सार्वनामिक विशेषण**—ये शब्द गणना परिमाण को सूचित करते है, जिनकी संख्या निश्चित नही है। ये भी संख्या में पाँच ही है। इनका रूप 'त्ता' अन्त वाला है, पर हिन्दी मे 'ना' प्रत्यय[11] और जोड़ देने से इनके रूप—(१) इतना, (२) उतना, (३) जितना, (४) कितना, (५) तितना (यह शब्द साहित्यिक हिन्दी मे प्रयुक्त नही होता) बन जाते है।

---

[11] 'ना' प्रत्यय को बीम्स ने लघुतावाचक प्रत्यय माना है, पर यह अपना अर्थ खो बैठा है। [डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४५७ के अनुसार]।

(१) **इतना**—(सं.) इयत्तकः>(म. भा. आ.) एत्तिअ>(हिन्दी) इत्ता+ना=इतना।

(२) **उतना**—(सं.) उयत्तकः>(म. भा. आ.) उत्तिअ>(हिन्दी) उत्ता+ना=उतना।

(३) **जितना**—(म. भा. आ.) जेत्तिअ>(हि.) जित्ता+ना जितना। पिशल ने इसके लिए 'यमत्तकः' शब्द की संस्कृत भाषा में होने की कल्पना की है।[12]

(४) **कितना**—(सं.) कियत्तकः>(म. भा. आ.) केत्तिअ>(हि.) कित्ता+ना=कितना।

(५) **तितना**—(सं.) तित्तकः (कल्पित)>(म. भा. आ.) तेत्तिअ>(हि.) तित्ता+ना=तितना।

आख्यात—आख्यात के मूल रूप को 'धातु' कहते हैं। प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में दो प्रकार की धातुएँ उपलब्ध होती हैं—(१) सिद्ध धातुएँ अर्थात् मूल धातुएँ, (२) साधित/साध्य धातुएँ अर्थात् प्रत्यय इत्यादि लगाकर बनाई गई धातुएँ। सिद्ध धातुओं के अन्तर्गत संस्कृत में भाषा की अकर्मक, सकर्मक तथा द्विकर्मक धातुएँ आती हैं। संस्कृत में धातुएँ मूलतः अकर्मक; यथा—हस्, स्वप्, विश्, चल् आदि। सकर्मक; यथा—खाद्, कृ, क्री, तन् आदि तथा द्विकर्मक; यथा—दुह्, चि, ब्रू, शास् आदि, होती है। इनमें कोई भी प्रत्यय लगाकर सकर्मक अथवा द्विकर्मक बनाने की प्रणाली संस्कृत में नहीं है। साधित धातुओं से तात्पर्य है किसी सिद्ध धातु या नाम के साथ प्रत्यय आदि जोड़कर भिन्नार्थक धातु का निर्माण करना; यथा—प्रेरणार्थक, सन्नन्त तथा यङ्लुङन्त आदि।

हिन्दी भाषा में इस प्रक्रिया को कुछ परिवर्तित कर दिया दिखाई देता है। अनेक विद्वानों—हार्नले, ग्रियर्सन, डॉ. चाटुर्ज्या, डॉ. तिवारी तथा डॉ. सरनामसिंह ने हिन्दी धातुओं को भी दो भागों में ही विभाजित किया है—(१) सिद्ध धातुएँ; (२) साधित धातुएँ। डॉ. उदयनारायण तिवारी ने इनका विवरण निम्न प्रकार से दिया है—

वर्गीकरण

(१) सिद्ध धातुएँ :

(१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ—(क) साधारण धातुएँ, (ख) उपसर्गयुक्त धातुएँ।

---

[12] पिशल—प्राकृत व्याकरण, नियम सं. १४५, अनुवादक हेमचन्द्र जोशी, डी. लिट्। पिशल ने अनेक काल्पनिक शब्दों से विकास दिखलाया है। जैसे—उपर्युक्त 'ओतादृशकः' संस्कृत में नहीं मिलता। इसी प्रकार अन्य शब्द (उयत्तकः) भी दर्शनीय है।

(२) संस्कृत णिजन्त से आई हुई सिद्ध धातुएँ।

(३) संस्कृत से पुनः व्यवहृत तत्सम, और अर्धतत्सम धातुएँ।

(४) संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली देशी धातुएँ।

(२) साधित धातुएँ :

(१) आकारान्त णिजन्त (प्रेरणार्थक)

(क) तद्भव—(१) प्राचीन (उत्तराधिकार सूत्र से प्राप्त)।
(२) नवीन (पुरानी तथा आधुनिक हिन्दी मे बनी हुई)।

(२) नामधातु—

(ख) तत्सम

(ग) तद्भव।

(३) मिश्रित अथवा संयुक्त एवं प्रत्यय युक्त (तद्भव)।

(४) ध्वन्यात्मक अथवा अनुकार ध्वनिज धातुएँ।

(५) सदिग्ध व्युत्पत्ति की धातुएँ।

उपर्युक्त वर्गीकरण यद्यपि सर्वमान्य सा हो गया है, तथापि इसमे एक कमी दृष्टिगत होती है। जैसा कि संस्कृत धातुओं के विभाजन मे निवेदन किया गया है कि सस्कृत भाषा मे सकर्मक और द्विकर्मक धातुएँ सिद्ध धातुएँ है, वहाँ इनके लिए साधित प्रणाली का प्रावधान नही है। कारण स्पष्ट है कि संस्कृत भाषा की प्रवृत्ति ही ऐसी है। हिन्दी भाषा मे अकर्मक धातुओं को सकर्मक बनाया जाता है तथा सकर्मक को द्विकर्मक। अतः साधित धातुओ मे उक्त धातुओ का प्रावधान भी होना चाहिये। उदाहरण के द्वारा इन्हे यो स्पष्ट किया जा सकता है—हिन्दी में 'हँस' अकर्मक धातु है, इसका सकर्मक रूप बनेगा 'हँसा'; यथा—(१) बच्चा हँसता है। (२) माँ बच्चे को हँसाती है। श्री किशोरीदास वाजपेयी इसे द्विकर्तृ अथवा प्रेरणा कहते है, और (३) 'माँ बच्चे को नौकर से हँसवाती है' को कहेगे प्रेरणा की प्रेरणा। यदि कोई कहे 'हँसवावती है' तो इसे वाजपेयी जी कहेंगे 'प्रेरणा की प्रेरणा की प्रेरणा' और इस प्रकार इस प्रेरणा का कोई अन्त न होगा। यहाँ वाक्य नं० २ मे वक्ता का अभिप्राय 'हँसने' के 'कर्तृत्व' को बताना नही है, अपितु 'हँसाने' का कर्तृत्व बताने की अभिलाषा है। फलतः कर्ता 'माँ' होगी, न कि बच्चा। जब कि वाजपेयीजी 'माँ' को गौण कर्ता का स्थान देते है। इसका एक मात्र कारण वाजपेयी जी की दृष्टि का 'सिद्ध धातु' पर टिके रहना ही है। वस्तुतः 'प्रेरणा' में, किसी से काम करवाने की इच्छा मात्र निहित होती है और वह प्रेरक कर्ता केवल प्रेरणा का काम मात्र करता है और मूल क्रिया से सर्वथा असम्पृक्त हो जाता है, जबकि सकर्मक प्रयोग में वह किसी न किसी रूप मे क्रिया के साथ

सम्पृक्त रहता है। उदाहरण से इसे यों समझा जा सकता है—'राम रोता है,' का अर्थ होगा कि उसकी आँखों में से आँसू आ रहे हैं अथवा उसका मुख ऐसा बना हुआ है जिससे लगता है कि वह रोने की क्रिया कर रहा है। इसमें कर्ता 'राम' है। अब मान लीजिए कि एक बच्चा माँ को शिकायत कर रहा है 'अशोक पप्पू को रुलाता है' तो उक्त वाक्य में बच्चा माँ को यह बताने में इतना उत्सुक नहीं है कि 'पप्पू रो रहा है' बल्कि यह बताने में अधिक उत्कट है कि 'अशोक' 'पप्पू' को किन्हीं चेष्टाओं के द्वारा रोने के लिए बाध्य कर रहा है। अतः 'अशोक' का कर्तृत्व स्वतः सिद्ध हो जाता है। अब प्रश्न यह शेष रह जाता है कि 'पप्पू' को क्या मानें ? क्या यह विशुद्ध कर्म है ? वास्तव में 'पप्पू' विशुद्ध कर्म है। रुलाने का फल 'पप्पू' को ही मिल रहा है। अस्तु, उपर्युक्त वर्गीकरण में इतना संशोधन अपेक्षित कि आकारान्त अकर्मक से बनी सकर्मक धातुएँ तथा सकर्मक से बनी द्विकर्मक धातुएँ भी साधित धातुओं में सम्मिलित की जानी चाहियें और प्रेरणार्थक धातुओं को उपरिकथित सकर्मक द्विकर्मक आदि धातुओं से अन्तर स्पष्ट करने के लिए, 'अव/अवा' प्रत्ययान्त धातुएँ कहना चाहिये, न कि आकारान्त णिजन्त।

(१) सिद्ध धातुएँ[13]—वे अकर्मक, सकर्मक एवं द्विकर्मक धातुएँ, जो अपने मूल रूप में प्रयुक्त होती हैं, सिद्ध धातुएँ कहलाती है। इन्हें पूर्व पृष्ठों* में पाँच भागों में विभाजित किया गया है—

(१) साधारण तद्भव सिद्ध धातुएँ—√काँप, √काढ़, √गल, √चल, √काट, √कह आदि।

(२) उपसर्ग युक्त सिद्ध धातुएँ—√उपज, √उजड़, √ उतर, √निरख, √परख, √पखाल आदि।

(३) णिजन्त से आई सिद्ध धातुएँ—√मार, √उखाड़, √तार, √ताप, √पसार, √हार आदि।

(४) अर्धतत्सम शब्दों से आई हुई—√गरज, √अरज, √तज, √दुह, √रच आदि।

(५) संदिग्ध व्युत्पत्तिवाली धातुएँ—√टोह, √टोक, √लोट, √लड़, √फड़क आदि।

(२) साधित धातुएँ—सिद्ध धातुओं तथा नाम आदि के साथ प्रत्यय लगाकर जिन धातुओं का निर्माण किया जाता है उन्हें साधित धातुएँ कहा

---

[13] विस्तार के लिए देखें—हार्नले कृत हिन्दी धातुएँ और डॉ. उदयनारायण कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४६७ से ४७२ तक।

* वर्गीकरण—उदयनारायण तिवारी द्वारा प्रदत्त।

जाता है। हिन्दी में साधित धातुएँ क्रमशः इस प्रकार विवेचित की जा सकती हैं।

(१) **आकारान्त सकर्मक और द्विकर्मक तथा प्रेरणार्थक धातुएँ**—हिन्दी में अकर्मक धातुओं और सकर्मक धातुओं को क्रमशः सकर्मक, द्विकर्मक और प्रेरणार्थक बनाया जाता है। इसके लिए मूल धातु के साथ *'आ तथा वा'* प्रत्यय लगाये जाते हैं। 'आ तथा वा' प्रत्ययों का विकास संस्कृत के 'णिजन्त' रूप से हुआ ज्ञात होता है। डॉ. उदयनारायण तिवारी[14] और डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने[15] णिजन्त धातुओं में 'आय्' प्रत्यय की बात कही है, पर संस्कृत के 'णिजन्त' में 'आय्' प्रत्यय कहीं पर भी दृष्टिगत नहीं होता। संस्कृत में 'णिच्' के' ण और च्' का लोप होकर 'इ' बचता है, और प्रत्यय के बाद भ्वादि गण के 'अ' विकरण को रखा जाता है और 'इ' को गुण (ए) हो जाता है। आगे पड़े हुए 'अ' के कारण 'ए' को 'अय्' हो जाता है और इस प्रकार 'णिच्' का 'अय्' रूप होता है, पर 'आय्' कदापि नहीं। विद्वानों का 'आय्' का भ्रम सम्भवतः बहुत सी धातुओं में आद्य अक्षर में 'आ' होने के कारण अथवा आद्य अक्षर के 'अ' को 'आ' कर देने के कारण हुआ लगता है, पर संस्कृत में 'आद्य' अक्षर के 'अ' को हुए 'आ' के और 'अय्' प्रत्यय के बीच में कोई न कोई स्वर या व्यञ्जन अवश्य रहता है, जहाँ 'आ' के पश्चात् एकदम 'अय्' प्रत्यय आ भी जाता है, वहाँ संस्कृत की प्रकृति के अनुसार 'प' या 'ल' का आगम हो जाता है। अतः यह प्रश्न पूर्णतः विचारणीय है तथा मननीय भी। इसे उदाहरणों से यों स्पष्ट किया जा सकता है—

(क) जहाँ आद्य अक्षर के 'अ' को 'आ' कर दिया जाता है—√वद्+णिच्=√वादय्, √सद्+णिच्=√सादय्, √अद्+णिच्=आदय्, √तड्+णिच्√ताडय् आदि।

(ख) जहाँ 'अ' को 'आ' नहीं होता—√रक्ष+णिच्=√रक्षय्, √कथ्+णिच्=√कथय्, √भक्ष्+णिच्=√भक्षय्, √गम्+णिच् गमय्।

(ग) आद्य अक्षर में 'आ' अथवा 'ऐ' होने पर, जबकि धातु में केवल एक व्यञ्जन या संयुक्त व्यञ्जन के साथ उक्त स्वर हों; यथा—दा, पा, ग्लै आदि। इनमें 'प्' या 'ल्' का आगम होता है; यथा—

---

[14] उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास, पृष्ठ ४७३ (द्वितीय संस्करण)।

[15] डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण' कृत हिन्दी भाषा : रूप विकास, पृष्ठ ३२४।

'प्'—√स्था+णिच्=√स्थापय्, √ज्ञा+णिच्=ज्ञापय्√दा+णिच्=√दापय, √पा (पीना)+णिच्=√पायय्।

'ल्'—√पा+णिच्=पालय्

संस्कृत भाषा में सामान्यतः यह भी देखा जाता है कि धातु के साथ णिच्' प्रत्यय लगाने पर आद्य अक्षर की 'इ' को 'ए'; 'ई' का आय्; 'उ' को 'ओ' तथा आव्; 'ऋ' को 'अर्' और 'आर्'; 'ऐ' को 'आ' हो जाता है। (आ हो जाने से 'प्' का आगम हो जाता है।) कुछ धातुओं की 'इ, ई' को' भी 'आ' हो जाता है और फिर 'प्' का आगम। कहीं-कहीं 'उ' को 'ऊ' भी होता है। यथा—

'इ' को 'ए'—√इष्+णिच्=√एषय्, √क्लिश्+णिच्=√क्लेशय्, √क्षिप्+णिच्=√क्षेपय्।

'ई' को आय्—√नी+णिच्+√नायय्, √शी+णिच्=√शायय्, √भी+णिच्=√भायय्।

'उ' को ओ—√चुर+णिच्=√चोरय्, √मुद+णिच्√मोदय्, √मुप+णिच्=√मोपय्, √युज्+णिच्=√योजय्।

'उ' को आय—√हु + णिच=√ हावय् √स्तु + णिच्=स्तावय, √श्रु+णिच√श्रावय्, √सु+णिच्=√सावय्।

'ऋ' को अर/आर्—√वृध्+णिच्=√वर्धय्, वृत्+णिच्=√वर्तय्, √भृ+णिच्√भारय्, √कृ+णिच्=कारय्।

'ऐ' को आ(+प)—√ग्लै+णिच्=√ग्लापय्, √गै+णिच्=√गापय्, √म्लै+णिच्=√म्लापय्, √ध्यै+णिच्=√ध्यापय्।

'इ, ई' को आ—√जी+णिच्=√जापय, √क्री+णिच्=√क्रापय्, √अधि+इ+णिच्=√अध्यापय्।

'उ' को ऊ:—√गुह्+णिच्=√गूहय।

उपर्युक्त उदाहरणों का अध्ययन करने पर एक बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि संस्कृत भाषा में धातु को णिजन्त बनाते समय 'आ' ध्वनि का बहुत बड़ा योग रहता है। किसी न किसी रास्ते से जैसे-तैसे करके अधिकांश णिजन्त धातुओं के आद्य अक्षर में 'आ' आ ही जाता है और 'आ' के आने पर अथवा पूर्वस्थिति 'आ' के कारण 'प्' का आगम भी हो जाता है। इस प्रकार 'आ' अकेले और 'आप्' ने आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यदि यह कहा जाय कि इनका प्रभाव इतना बढ़ गया कि मुख्य प्रत्यय 'अय्' को भी मुँह की खानी पड़ी और मध्यकाल में ही णिजन्त धातुओं में 'आव' या 'अव' का प्रयोग प्रारम्भ हो गया जो 'आप' का स्पष्टतः विकसित रूप ही कहा जा सकता है जो आज तक हिन्दी भाषा में सुरक्षित है

तथा इसका प्रयोग 'णिच्' प्रत्यय के स्थान पर वड़ल्ले से होने लगा। भाषा-वैज्ञानिक विकास को दृष्टि में रखते हुए 'आव्' का विकास 'अय्' की अपेक्षा 'आप्' से अधिक सटीक बैठता है। हिन्दी में यह स्थिति दो रूपों में आई—एक स्वतन्त्र 'आ' के रूप में और दूसरी 'आव्' के रूप में। 'आ' ने अकर्मक धातुओं को सकर्मक बनाया और सकर्मक धातुओं को द्विकर्मक तथा 'आव्' ने प्रेरणार्थक क्रियाओं का निर्माण किया। प्राकृतों का यह 'आव्' स्थान-विपर्यय से 'अवा' हो जाता है तथा ग्रामीण प्रयोगों में 'आव्' भी मिलता है। इसकी व्याख्या यों भी कर सकते हैं कि 'आव्' के 'आ' का लोप होकर पूर्व प्रत्यय 'आ' आगे आ बैठा और इस प्रकार दो प्रत्ययों से प्रेरणार्थक का निर्माण हुआ। इनमें प्रथम व्याख्या ही अधिक ठीक लगती है, क्योंकि भाषाओं में इस प्रकार का विकास-क्रम अन्य स्थानों पर भी देखने को मिलता है। विकास का एक रूप हिन्दी में यह भी है जिसका संकेत पहले दिया जा चुका है कि संस्कृत में यह 'आगम' धातु के कलेवर में होता था और हिन्दी में यह धातु के अन्त मे लगाया जाता है। इसीलिए संस्कृत के इस 'आगम' को प्रत्यय की संज्ञा दी गई है। 'ल' की स्थिति हिन्दी में भी संस्कृत के समान ही है। वहां भी इसका आगम होता था और हिन्दी में भी कुछ धातुओं में इसका आगम ही होता है; जैसे √खा+आ=√खिला, √नहा+आ=√नहला, √दे+आ=√दिला आदि।

इस विषय में एक बात और कहनी है कि हिन्दी में प्रेरणार्थक धातु बनाते समय आद्य व्यञ्जन के स्वर का विकास संस्कृत से बिल्कुल विपरीत दिशा मे होता है। उपर्युक्त उदाहरणों में आप देखेंगे कि संस्कृत में 'इ' को 'ए' और 'उ' को 'ओ' तथा 'इ' को 'आ' होता है, पर हिन्दी में 'ए' को 'इ', 'ओ' को 'उ' और 'आ' को 'इ' किया जाता है—

'ए' को 'इ'—√भेज+वा=√भिजवा (ग्रा. भिजाव्), √दे+वा ('ल' का आगम)=√दिलवा।

'ओ' को 'उ'—√रो+वा=√रुलवा, √फोड़्+वा=√फुड़वा, √रोंद्+वा=√रुंदवा।

'आ' को 'इ'—√खा+वा ('ल' का आगम)=√खिलवा।

संक्षेप में कह सकते हैं कि संस्कृत की प्रकृति ह्रस्व को दीर्घ करने की थी और हिन्दी की प्रवृत्ति दीर्घ को ह्रस्व कर देने की ओर है; यथा : √नहा+वा=√नहलवा आदि।

(२) नामधातु—संज्ञाओं एवं क्रियामूलक विशेषणों के साथ जब धातु-मूलक प्रत्यय लगाकर उनका क्रियाओं की तरह प्रयोग किया जाता है, तब उन क्रियाओं के मूल रूप को धातु कहा जाता है। (१) कुछ तो मध्यकालीन

भारतीय आर्यभाषाओं से उत्तराधिकार में प्राप्त हुई हैं; यथा—बैठना (उपविष्ट), पीटना (पिष्ट), काटना (कृष्ट) आदि प्राकृतों से मिली हुई हैं। (२) **नवीन नामधातुओं का निर्माण**—हिन्दी-नवीन नामधातुओं का निर्माण संस्कृत के दो प्रत्ययों के आधार पर हुआ है। संस्कृत में नामधातु बनाने के लिए अनेक प्रत्ययों का प्रयोग होता था। उनमें से दो को लीजिये—(१) क्यच् और (२) णिच्। 'क्यच्' प्रत्यय की मुख्य विशेषता है कि इसमें केवल 'य' शेष रहता है और जब 'य' प्रत्यय को अकारान्त अथवा आकारान्त नामों के साथ जोड़ा जाता है तब अन्तिम 'अ/आ' के स्थान पर 'ई' हो जाता है। इस प्रकार रूप बनता है—पुत्र+क्यच्=पुत्रीय। णिच् का 'आ' पहले से ही सुरक्षित था। अतः कहीं अकेले 'आ' से काम लिया गया है और कहीं 'क्यच्' के 'ईय' को 'इय' बनाकर तथा उसके साथ 'आ' जोड़कर। इस प्रकार 'नामधातु' सर्जक दो प्रत्यय हिन्दी में चलते हैं—(१) 'आ' और (२) 'इया'।

उपरिकथित, बैठना पीटना आदि मध्यकालीन आर्यभाषाओं से आई हुई उन नामधातुओं को छोड़कर जो हिन्दी मे सिद्ध धातुओं जैसी लगती हैं, शेष हिन्दी की नामधातुओं का सर्जन इन्हीं प्रत्ययों से हुआ है।

(क) **'आ' प्रत्ययान्त नामधातुएँ**—चपत+आ=√चपता(ना), गर्व+आ√गरवा(ना), लहर+आ√लहरा(ना), लोभ+आ√लुभा(ना) आदि।

(ख) **'इया' प्रत्ययान्त नामधातुएँ**—लात+इया√लतिया(ना), हाथ+इया=√हथिया(ना), बाँध+इया=√बँधिया(ना), साठा+इया=√सठिया(ना), बात+इया=√बतिया(ना)।

(३) **तत्सम शब्दों से बनी नामधातुएँ**—(सं.) आकुल+आ=√अकुला, (सं.) आलाप, √अलाप आदि।

(४) **विदेशी शब्दों से बनी नामधातुएँ**—शर्म+आ√शरमा/शर्मा(ना) गर्म+आ√गर्मा(ना) आदि।

(३) **संयुक्त एवं प्रत्यययुक्त धातुएँ**—ये वे धातुएँ है जो या तो दो धातुओं के मेल से बनी है या फिर कोई प्रत्यय उनके साथ जोड़कर निर्मित की गई है—

(१) **संयुक्त धातुएँ**—दो समानार्थी धातुओं ने एक साथ मिलकर एक धातु का रूप धारण कर लिया हो, वहाँ उसे संयुक्त धातु कहा जाता है।

(२) **प्रत्यययुक्त धातुएँ**—इन धातुओं के साथ कोई न कोई प्रत्यय लगा हुआ मिलता है। इन प्रत्ययों के विकास का अभी पूर्ण ज्ञान नहीं हो सका है। ऐसे प्रत्यय जो हिन्दी धातुओं के साथ मिलते हैं, संख्या में पाँच हैं—(१) क, (२) ट, (३) ड़, (४) र और (५) ल।

(१) 'क' प्रत्ययान्त—अटकना, सटकना, गटकना, झपकना, पिचकना आदि।

(२) 'ट' प्रत्ययान्त—घिसटना, चिपटना, रिपटना, झपटना, लिपटना आदि।

(३) 'ड़' प्रत्ययान्त—रगड़ना, झगड़ना, पकड़ना, सुकड़ना आदि।

(४) 'र' प्रत्ययान्त—ठहरना, पुकारना, बहारना (झाड़ू लगाना) आदि।

(५) 'ल' प्रत्ययान्त—उगलना, टहलना, बहलाना, दहलना आदि।

(४) **ध्वन्यात्मक धातुएँ**—वे धातुएँ, जिन्हें वस्तु की ध्वनि को आधार मानकर बना ली गई हों; यथा—फूँकना, टपकना, खड़खड़ाना, भिनभिनाना, फुसफुसाना आदि।

(५) **संदिग्ध व्युत्पत्ति वाली धातुएँ**—ऐसी धातुएँ जिनका हिन्दी में प्रयोग तो होता है पर उनकी व्युत्पत्ति संदिग्ध है; यथा—अँटना, चौंकना, झाँकना, झाड़ना आदि।

प्रयोग—प्रयोग की दृष्टि से क्रियाओं के तीन भेद होते हैं—(१) कर्तरि प्रयोग, (२) कर्मणि प्रयोग और (३) भावे प्रयोग।

(१) **कर्तरि प्रयोग**—कर्तरि प्रयोग से तात्पर्य होता है, जहाँ क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्ता के अनुसार हो, अर्थात् जहाँ पर क्रिया और कर्ता का सीधा सम्बन्ध हो; यथा—लड़का खाता है, लड़के खाते हैं, लड़की खाती है और लड़कियाँ खाती है। इन वाक्यों में 'खाना' क्रिया कर्ता के लिङ्ग और वचन के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। अतः यहाँ पर क्रिया का कर्तरि प्रयोग है।

(२) **कर्मणि प्रयोग**—क्रिया के कर्मणि प्रयोग में क्रिया का लिङ्ग और वचन कर्म के अनुसार होते हैं अर्थात् क्रिया का सीधा सम्बन्ध कर्ता से न होकर कर्म से होता है; यथा—लड़के ने पुस्तक पढ़ी, लड़कों ने पुस्तकें पढ़ीं, लड़की ने ग्रन्थ पढ़ा और लड़कियों ने ग्रन्थ पढ़े। इन चार वाक्यों में क्रिया के लिङ्ग, वचन और कर्ता का अनुगमन न करके कर्म का कर रहे हैं। अतः यहाँ पर कर्मणि प्रयोग होगा। इन वाक्यों में प्रयुक्त 'ने' परसर्ग मूलतः तृतीया का ही सूचक है।

(३) **भावे प्रयोग**—जिन प्रयोगों में क्रिया, कर्ता और कर्म में से किसी का भी अनुगमन न कर सर्वदा एक रूप रहती है वहाँ क्रिया का भावे प्रयोग कहा जाता है; यथा—लड़के ने लड़कियों को देखा, लड़कों ने लड़की को देखा, लड़की ने लड़कों को देखा और लड़कियों ने लड़के को देखा। उक्त चारों वाक्यों में 'देखा' क्रिया सभी अवस्थाओं में एक समान रही है। अतः यह क्रिया का भावे प्रयोग कहा जायेगा।

वाच्य—हिन्दी में मूलतः भूतकाल में वाच्य परिवर्तन होता है; पर उसे हमने कर्मणि प्रयोग में दिखा दिया है। हिन्दी में संस्कृत और अंग्रेज़ी के अनुसार

वाच्य परिवर्तन होता है। संस्कृत में कर्मवाच्य के लिए धातु में 'य' जोड़ा जाता है। मध्यकाल में यह 'इय्य' बना अपभ्रंश में 'इज्ज' जो राजस्थानी में आज भी 'ईज' के रूप में वर्तमान है। हिन्दी में कर्मवाच्य के लिए 'भूतकालिक कृदन्त के साथ कालानुसार 'जाना' क्रिया को जोड़ा जाता है, वर्तमानकाल—खाया जाता है, रोया जाता है। भूतकाल—रोया गया, खाया गया। भविष्यत् काल—रोया जायेगा, खाया जायेगा आदि।

काल रचना—प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में काल तथा प्रकारों की रचना को 'लकार' कहा जाता था। इसे यह नाम वस्तुतः पाणिनि ने दिया था। इससे पूर्व सम्भवतः काल रचना को लकार के नाम से अभिहित नहीं किया जाता था। ये लकार संख्या में दस हैं, जिनका प्रयोग तीन कालों (१) भूतकाल, (२) वर्तमानकाल और (३) भविष्यत्काल के लिये और दो प्रकारों—(१) आज्ञार्थक और (२) विध्यर्थक के लिये किया जाता था। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ् लकार का प्रयोग मिलता है। 'लट्'[16] लकार का प्रयोग वर्तमानकाल का सूचक है। 'लङ्'[17] लुङ्[18] और 'लिट्'[19] तीनों लकारों का प्रयोग कुछ-कुछ भिन्नताओं के साथ भूतकाल के लिये होता है। लुट्[20] और लृट्[21] भविष्यत्काल के सूचक हैं। 'लोट्'[22] आज्ञा, विनय आदि भावप्रकार के लिये प्रयोग में लाया जाता है। लिङ्[23] का प्रयोग विधि, निमन्त्रण, आमन्त्रण आदि के भावप्रकार के लिये होता है। आशीर्वाद आदि के लिये आशीर्लिङ्[24] का प्रयोग किया जाता है। 'लृङ्'[25] क्रिया की अतिपत्ति के लिये काम में लाया जाता है और 'लेट्'[26] लकार, इच्छा की तीव्रता के लिए, केवल वेदों में प्रयुक्त हुआ है।[27] इनमें प्रत्येक लकार के तीन पुरुष और प्रत्येक पुरुष के तीन वचन होते हैं। इस प्रकार एक लकार में एक के नौ रूप बनते हैं और इस प्रकार ग्यारहों लकारों के ९९ रूप हो जाते हैं। इन रूपों की रचना के लिए ९ आत्मनेपद के प्रत्ययों और ९ परस्मैपद के प्रत्ययों का विधान है,

---

16 वर्तमाने लट् ३/२/१२३। 17 अनद्यतने लङ् ३/२/१११।

18 अद्यतने (भूतार्थे) लुङ्। 19 परोक्षे लिट् ३/२/११५।

20 अनद्यतने लुट् ३/३/१५। 21 लृट् शेषे च ३/३/१३।

22 लोट् च ३/४/९८।

23 विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसम्प्रश्नप्रार्थनेषु लिङ् ३/३/१६१।

24 लिङाशिषि ३/४/११६। 25 लृङ् क्रियातिपत्तौ।

26 लिङर्थे लेट् ३/४/७।

27 लट् वर्तमाने लेट् वेदे भूते लुङ् लङ् लिटस्तथा।
विध्याशिषोस्तु लिङ्लोटौ—लुट् लृट् लृङ् च भविष्यति॥

जिन्हें तिङ् प्रत्यय कहा जाता है। जब धातु के साथ इन प्रत्ययों को जोड़ दिया जाता है, तब धातु की 'आख्यात' संज्ञा हो जाती है।

तिङन्त कालों के अतिरिक्त प्राचीन भारतीय आर्य भाषाओं में कृदन्तकालों का भी प्रचलन था। ये कृदन्तकाल भी भूतकाल, वर्तमानकाल और भविष्यत्-काल का सूचन कराते थे। भूतकाल के लिए 'क्त और क्तवत्' प्रत्ययों का, वर्तमान के लिए 'शतृ और शानच्' प्रत्ययों का तथा भविष्यत् काल के लिए तव्य, अनीय र् आदि प्रत्ययों का विधान है। तिङन्त रूपों में वचन और पुरुष का अनुसरण किया जाता है और कृदन्त रूपों में कारक, वचन और लिङ्ग के अनुसार क्रिया के रूप की रचना होती है; यथा—स गतः, सा गता, ते गताः, ताः गताः आदि।

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषाओं ने भूतकाल के सूचक 'तिङ्' प्रत्ययों का सर्वथा बहिष्कार कर दिया और भूतकाल का सूचन कृदन्त रूपों से किया जाने लगा। भविष्यत्काल के लिए 'लृट्' के रूपों को अपनाया और लुट् को छुट्टी देदी गई। 'लेट्' लकार तो संस्कृत मे ही अवकाश ग्रहण कर चुका था और प्रकारों में भी विधिलिङ् का पल्ला हल्का हो चला था अथवा यों कहिये कि 'लोट्' लिङ् और आशीर्लिङ् आपस में घुलने-मिलने लग गए थे। इस प्रकार अपभ्रंश काल के अन्तिम चरण तक केवल तीन ही लकारों की सत्ता अवशिष्ट रह पाई थी। हिन्दी भाषा ने कुछ विशेष विकास का परिचय दिया है। भविष्यत् काल के जो 'स' परक या 'ह' परक रूप राजस्थानी, व्रज, अवधी ने अपभ्रंश भाषा से ग्रहण कर लिए, हिन्दी ने उन्हें भी छोड़ दिया और अपनी प्रकृति के अनुसार भविष्यत्काल की रचना की। इसके साथ वर्तमानकाल के सूचन के लिए अपभ्रंश ने जिन शतृ आदि प्रत्ययों को ग्रहण किया था, हिन्दी भाषा ने उन्हें ससम्मान स्वीकार किया और भूतकाल के लिए भी अपभ्रंश गृहीत कृदन्त रूपों को ही अपनाया।

उपर्युक्त विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है कि हिन्दी ने काल रचना के लिए परम्परागत तिङ् और कृत् दोनों रूपों को अपनाया। इन रूपों के साथ-साथ काल रचना का विस्तार हिन्दी ने अपनी प्रकृति के अनुसार सहायक क्रियाओं के माध्यम से किया। इस प्रकार व्युत्पत्ति की दृष्टि से हिन्दी काल रचना को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—(१) तिङन्त काल, (२) कृदन्त काल, (३) यौगिक काल अथवा सहायक क्रियाओं से युक्त कृदन्त काल।

इससे पूर्व कि हम काल-रचना विवेचन में प्रविष्ट हों, यह आवश्यक होगा कि हम सहायक क्रियाओं के सम्बन्ध में कुछ विचार-विमर्श कर लें। हिन्दी में सहायक क्रियाओं का बहुत प्रचलन है। प्रायः सभी भाषाओं में सहायक क्रियायें

होती हैं, संस्कृत में भी हैं, पर हिन्दी इस क्षेत्र में इनसे कुछ आगे है। हिन्दी में दो प्रकार की सहायक क्रियायें, प्रयुक्त होती है। एक तो वे, जिन्होंने मूल क्रिया के लिए अपना सर्वस्व त्याग दिया और केवल काल सूचन का भार अपने ऊपर ले लिया। जैसे है, था, गा आदि और दूसरी वे जो अपना अस्तित्व बनाए हुए हैं या बनाए रखती है और आवश्यकता पड़ने पर केवल उस प्रयोग-विशेष में अपना स्वार्थ त्याग भी देती हैं; यथा—जा, आ, सक, चुक, पा आदि। अतः इनमें एक तात्त्विक अन्तर दृष्टिगत होता है। इनके अन्तर को स्पष्ट करने के लिए पहले वर्ग की क्रियाओं को सहायक क्रियायें और दूसरे वर्ग की क्रियाओं को संयोगी क्रियायें कहा जाए, तो अधिक उत्तम रहेगा। इसी सिद्धान्त के आधार पर इन पर विचार भी किया जायगा।

वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'है' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'अस्ति' से मानी जाती है। संस्कृत का यह 'अस्ति' शब्द 'अस्' धातु का लट् लकार में बना प्रथम पुरुष का एकवचन है, जिसका प्राकृतों में 'अत्थि' और अपभ्रंश में 'अहि' रूप बनता है। इसी की 'इ' को वृद्धि होकर 'अहै' बनता है और 'अ' लोप से हिन्दी 'है' बन जाता है।

(सं.) अस्ति>(प्रा.) अत्थि>(अप.) अहि>(आ. भा. आ.) अहइ/अहै>(हि.) है।

'हैं'—हिन्दी का बहुवचनान्त रूप है। बहुवचन बनाने के लिए हिन्दी में अनुस्वार का प्रयोग एक प्रख्यात तथ्य है। अतः इसकी उत्पत्ति के लिए प्रा. भा. आ. में खोजने से कोई लाभ नहीं है।

'हो'—मध्यम पुरुष बहुवचन के इस रूप की व्युत्पत्ति भी 'अस' धातु से की जाती है, परन्तु इसका विकास यदि 'भू' धातु में खोजा जाए तो अधिक उत्तम रहेगा। प्राकृत भाषाओं में 'भवति' का एक रूप 'होति/होदि' भी बनता है और अपभ्रंश में मध्यम पुरुष एकवचन में 'होहि' और 'होइ' दो रूप बनते हैं। इसमें 'इ' का लोप होकर 'हो' व्युत्पन्न होता है; यथा—

(सं.) भवसि>(प्रा.) होसि>(अप.) होहि/होइ>(हि.) हो।

उत्तम पुरुष एकवचन की वर्तमानकालिक सहायक क्रिया 'हूँ' की व्युत्पत्ति संस्कृत की 'अस्' धातु के उत्तम पुरुष के (वर्तमानकाल) एकवचन रूप 'अस्मि' से की जाती है। 'अस्मि' का प्राकृत में 'अम्हि' रूप बनता है। इससे हिन्दी का 'हूँ' बन गया, पर यह व्युत्पत्ति संदिग्ध है। 'इ' का 'ऊ' बन जाना कुछ समझ में नहीं आता। यदि 'स्मः' के साथ इसका सम्बन्ध जोड़ा जाये, तो हम वस्तुस्थिति के अधिक समीप होंगे। 'स्मः' का प्राकृतों में 'म्हो' बनता है और

अपभ्रंश में नियमानुसार 'म्हुँ' बनेगा, जिसमें 'म्' लोप और 'उँ' के दीर्घीकरण से 'हूँ' बन जायेगा।

(सं.) स्मः>(प्रा.) म्हो>(अप.) म्हुँ>(हि.) हूँ।

'भूतकालिक सहायक क्रिया 'था' का सम्बन्ध भाषाविद् 'स्था' से जोड़ते हैं। यह तो सर्वमान्य है कि हिन्दी का 'था' किसी कृदन्त क्रिया का विकसित रूप है, क्योंकि इसमें लिङ्ग परिवर्तन होता है। अतः इसकी व्युत्पत्ति हमें किसी कृदन्त रूप में ही खोजनी चाहिए, पर 'स्था' तो धातु है, इसका कृदन्त (भूतकालिक) रूप बनता है 'स्थितः'। इससे 'था' का विकास सिद्ध नहीं होता। कुछ इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत शब्द 'असन्त' से बताते हैं, पर 'असन्त' कहाँ से आया, इसका उनके पास कोई उत्तर नहीं है। अतः मेरे विचार से इसकी व्युत्पत्ति संस्कृत 'भूतः' से माननी चाहिए। हेमचन्द्र शब्दानुशासन, २.९९ के अनुसार प्राकृत में 'भूतः' का 'हूत' तथा 'हुत्त' बनते हैं, जिनके अपभ्रंश में 'हुव/हुअ' बनते हैं, जिनसे हिन्दी 'हुआ' और 'हुवा' का विकास हुआ है। उधर अपभ्रंश में 'हूत' भी चलता रहा होगा, जिसका ब्रजभाषा में 'हुतो' बनता है—'एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस'। यही 'हुतो' आगे चलकर 'हतो' (एक. व.) 'हता' (बहु. व.) और 'हती' स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होने लगा। 'ऊ' का लोप होकर 'अ' का आगम होगया अथवा 'ऊ' को 'अ' का आदेश हो गया। आगे चलकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं में इसके दो रूप हो गए; यथा—हो, हा, ही और तो, ता, ती। तीसरा रूप 'ह' के प्रभाव के कारण है जो आधुनिक भाषाओं की एक प्रमुख ध्वन्यात्मक विशेषता है—अल्पप्राण+ह= महाप्राण-व्यञ्जनविपर्यय के प्रभाव के साथ-साथ 'त' का महाप्राणीकरण होकर 'था' बन गया। बहुवचन और एकवचन का व्यत्यय भी अपभ्रंश तथा आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की एक विशेषता है। अतः इसका विकास निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

(सं.) भूतः>(प्रा.) हूतो>(अप.) हुतो>(आ. भा. आ.) हतो (बहु. व.) हता>(हि.) था।

भविष्यत्कालिक प्रत्यय अथवा सहायक क्रिया 'गा' की व्युत्पत्ति विद्वान् लोग भूतकालिक कृदन्त 'गतः' से करते हैं, यह भी उचित प्रतीत नहीं होती। इसमें दो आपत्तियाँ आती हैं; एक तो भूत और भविष्यत् का क्या सम्बन्ध? क्या ऐसी प्रवृत्ति कहीं भाषा में मिलती है, जहाँ 'भूत' का प्रयोग भविष्यत् में किया गया हो? दूसरे गत्यर्थक 'गम' धातु केवल भविष्यवाची प्रत्यय का रूप भाषा के कौनसे स्तर पर धारण करती है, स्पष्ट नहीं है। अतः 'गा' की व्युत्पत्ति 'गतः' से मानना युक्तिसंगत नहीं हो सकता। अभी तक यह भी स्पष्ट नहीं है कि इसकी उत्पत्ति कैसे हुई, किन्तु यदि किसी शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट

नहीं है, तो इसका तात्पर्य यह भी नहीं है कि उसकी ग़लत उत्पत्ति स्वीकार कर ली जाए। हाँ, यह एक ध्रुव सत्य है कि हिन्दी में भविष्यत्काल का बोध कराने के लिए वर्तमान इच्छार्थक के साथ 'गा, गे, गी' आदि प्रत्यय लगाये जाते हैं।

सहायक क्रियाओं की व्युत्पत्ति पर विचार कर लेने के पश्चात् अब हम हिन्दी भाषा के काल-रूपों की व्युत्पत्ति पर विचार करेंगे। जैसाकि बताया जा चुका है, हिन्दी में कालों की रचना तीन प्रकार की पायी जाती है। (१) संस्कृत के तिङन्त रूपों से विकसित काल, (२) संस्कृत के कृदन्त रूपों से विकसित काल और (३) संस्कृत के कृदन्त रूपों के साथ सहायक क्रियाओं को लगा कर बनाए गए यौगिक काल।

तिङन्तों से विकसित प्रकार तथा काल—तिङन्त रूपों से अवशिष्ट दो प्रकार के काल हिन्दी भाषा में उपलब्ध होते हैं; एक तो विशुद्ध तिङन्त और दूसरे प्रत्यय संयोगी तिङन्त काल। प्रथम को प्रकार की दृष्टि से तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(१) निर्देशक, (२) इच्छार्थक और (३) आज्ञा। निर्देशक और आज्ञा में केवल वक्ता के कहने के ढंग का ही अन्तर हिन्दी में पाया जाता है, कोई विकासात्मक अन्तर नहीं है। इनका विकास संस्कृत 'लट्' लकार के रूपों और मध्यम पुरुष एकवचन का विकास संस्कृत 'लोट्' लकार के मध्यम पुरुष एकवचन से सम्पन्न हुआ है। विकासात्मक दृष्टि से इन रूपों को निम्न प्रकार से दिखाया जा सकता है—

	हिन्दी	अपभ्रंश	प्राकृत	संस्कृत
	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष	उत्तम पुरुष बहुवचन (लट् लकार)
एकवचन	चलूँ	चलहुँ	चलमु	चलामः
बहुवचन	चलें	चलउँ/चलमि/ चलउँ (बहुवचन)	चलमि (एक व.)	चलामि (एकवचन)
	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष	मध्यम पुरुष (लोट् लकार)
एकवचन	चल	चल	चल	चल (लट्)
बहुवचन	चलो	चलउ/चलहु	चलह	चलथ
	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष	अन्य पुरुष (लट् लकार)
एकवचन	चले	चलइ	चलदि	चलति
बहुवचन	चलें	चलइँ/चलहिं	चलंदि/चलंति	चलन्ति

आदरसूचक आज्ञा का विकास संस्कृत भाषा के विधिलिङ् के रूपों से हुआ है। हिन्दी भाषा में इसके रूप केवल मध्यम पुरुष बहुवचन में ही उपलब्ध होते हैं। हिन्दी भाषा में इसका विकास प्राचीन भारतीय आर्य भाषा के आशीर्लिङ् के 'या' प्रत्यय से हुआ है। 'या' का मध्यकालीन भाषाओं में 'एय्य और एज्ज' में विकास हुआ है। अपभ्रंश में यह 'इय तथा इज्ज' में विकसित हो गया था। हिन्दी भाषा में केवल कुछ ही शब्दों में 'ईज' का प्रयोग मिलता है; यथा—कीजिये, दीजिये, लीजिये और पीजिये। राजस्थानी भाषा में इसका सर्वाधिक प्रचार है। एक बात ध्यान में रखनी है कि 'प्राकृतों' में 'एज्ज' को प्रत्यय न मानकर 'तिङ्' प्रत्यय के स्थान पर आदेश विकल्प से माना है। उपर्युक्त शब्दों के अन्त का 'इय' प्रत्यय संस्कृत के कर्मवाच्य के 'य' प्रत्यय से विकसित है। संस्कृत कर्मवाच्य 'य' प्रत्यय प्राकृतों में 'इय/इय्य/ईय और अपभ्रंश में 'इज्ज' बन गया जो मारवाड़ी, सिंधी आदि में सुरक्षित है। हिन्दी भाषा ने इसके 'इय' रूप को ही सुरक्षित रखा है और इस प्रकार 'कीजिये' आदि शब्दों का 'लट्' लकार के विकसित प्रत्यय के योग से निर्माण हो जाता है। हिन्दी में 'चलिये, करिये, बैठिये आदि में इसी का योग दृष्टिगत होता है। वैसे इन्हें 'आशीर्लिङ्' के प्राकृत प्रत्यय 'एय्य+इय' से भी व्युत्पन्न हुआ माना जा सकता है।

प्रकारों के अतिरिक्त वर्तमान इच्छार्थक और वर्तमान आज्ञार्थक कालों की व्युत्पत्ति भी उपर्युक्त प्रणाली से ही हुई है। सम्भाव्य भविष्यत् की उत्पत्ति भी संस्कृत 'लट्' लकार से ही हुई है। डा. देवेन्द्र नाथ शर्मा सम्भाव्य भविष्यत् की व्युत्पत्ति संस्कृत के 'विधिलिङ्' रूपों से करते हैं। इन का सम्बन्ध हिन्दी के अन्य पुरुष एवं मध्यम पुरुष और उत्तम पुरुष बहुवचन के रूपों के साथ ठीक बैठता है, पर उत्तम पुरुष एकवचन में फिर वही कठिनाई उपस्थित होती है। इसके अतिरिक्त प्राकृत वैयाकरणों के अनुसार प्राकृत भाषाओं में भी विधिलिङ् के रूप 'लट् लकार' के अनुरूप चलने लग गये थे। अतः डॉ. देवेन्द्र नाथ का 'ए' (विधिलिङ् की) के प्रति जो मोह है, वह निर्मूल सिद्ध हो जाता है। 'अइ' से हिन्दी 'ए' की व्युत्पत्ति अधिक वैज्ञानिक है। अतः मेरी दृष्टि में उक्त शब्द रूपों की व्युत्पत्ति 'लट्' लकार के रूपों से ही सम्पन्न हुई है।

सामान्य भविष्यत् काल के सूचक हिन्दी रूपों की व्युत्पत्ति वर्तमान आज्ञार्थक के रूपों के साथ 'गा, गे, गी' आदि प्रत्यय लगा कर की जाती है। अतः इसे भी तिङन्त काल ही कहा जाता है।

कृदन्त काल—संस्कृत के कृदन्त रूपो से हिन्दी में सामान्य भूतकाल और सम्भाव्य भूतकाल के रूपों का विकास हुआ है। सामान्य भूतकाल के रूप संस्कृत के 'क्तान्त' कृदन्त रूपों से विकसित हुए है; यथा—

(सं.) पठितः>(म. भा. आ.) पढ्ढिअ>(हिन्दी) पढ़ा। बहुवचन सूचक प्रत्यय 'ए' से 'पढ़े' और स्त्री प्रत्यय 'ई' के योग से 'पढ़ी' शब्द व्युत्पन्न होते हैं।

सम्भाव्य भूतकाल के रूपों का विकास संस्कृत के 'शतृ' प्रत्ययान्त कृदन्तों के रूपों से हुआ है। संस्कृत में जब धातु के साथ 'शतृ' प्रत्यय का योग होता है तब 'शतृ' का केवल 'अत्' शेष रहता है और प्रातिपदिक बनता है 'पठ्+अत्= पठत्'। इसी रूप के प्रथमा विभक्ति के बहुवचन रूप 'पठन्तः' से हिन्दी में 'पढता' बनता है; यथा—(सं.) पठन्तः>(म. भा. आ.) पठंत>(हि.) पढ़ता।

यौगिक काल—उपर्युक्त इन रूपों के साथ हिन्दी में विकसित 'है और था' तथा इनके विकृत रूपों का पुरुषानुसारी प्रयोग कर हिन्दी के विभिन्न कालों की रचना की जाती है। सामान्य वर्तमान काल के लिए, 'शतृ' प्रत्यय से विकसित, सम्भाव्य भूतकाल के शब्द 'पढ़ता' के साथ 'है, है, हो, हूँ' आदि का प्रयोग होता है; यथा—पढ़ता है, पढ़ता हूँ, आदि। अपूर्ण भूतकाल के लिए उक्त शब्द रूप के साथ 'था, थे, थी' आदि लगा दिये जाते हैं; यथा—पढ़ता था, पढ़ती थी, पढते थे आदि। अपूर्ण भविष्यत्काल अथवा संदिग्ध वर्तमानकाल के लिए सहायक क्रिया के भविष्यत्कालीन रूप 'होगा, हूँगा, होंगे' आदि को सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ जोड़ दिया जाता है; यथा—पढ़ता होगा, पढ़ता हूँगा आदि। इसी प्रकार सम्भाव्य वर्तमानकाल के लिए सम्भाव्य भूतकाल के रूप के साथ 'होउँ, होवे' आदि जोड़ दिये जाते है; यथा—पढ़ता होउँ, पढ़ता होवे। आसन्न भूतकाल के लिए उक्त रूप के साथ होता, होते आदि जोड़े जाते है; यथा—पढ़ता होता, खेलते होते आदि।

'शतृ' प्रत्ययान्त रूपों के साथ जिस प्रकार सहायक क्रियाओं को जोड़कर भिन्न-भिन्न कालों का बोध करवाया जाता है, ठीक उसी प्रकार सहायक क्रियाओं के उन्ही रूपों को उसी प्रकार 'क्तान्त' प्रत्यय वाले शब्दों से विकसित शब्दों के साथ जोड़कर कालों की पूर्णता इत्यादि का द्योतन करवाया जाता है।

सम्भाव्य वर्तमान का बोध कराने वाली सहायक क्रियाएँ संस्कृत 'भू' धातु के लट् लकार के रूपों से व्युत्पन्न हुई है। प्राकृत में 'भू' को 'हव' आदेश हो जाता है और अपभ्रंश में 'हो' और इनके साथ लगे 'तिङ्' प्रत्ययों के कारण 'होऊँ, होवे' आदि की उत्पत्ति होती है।

सम्भाव्य भूतकाल की सहायक क्रिया संस्कृत की शतृ प्रत्ययान्त 'भू' धातु के 'भवन्तः' से व्युत्पन्न है; यथा (सं.) भवन्तः>(म. भा. आ.) होंतो>(हि) होता।

सम्भाव्य भविष्यत् की सहायक क्रियायें सम्भाव्य वर्तमान के क्रिया रूपों के साथ 'गा, गे, गी' लगाकर निष्पन्न की जाती हैं; यथा—होऊँगा/हूँगा, होगा, होंगे आदि।

भविष्यत्काल आज्ञार्थक का केवल एक ही रूप 'नान्त' मध्यम पुरुष बहुवचन में मिलता है, यथा—चलना, पढ़ना, खाना आदि। हिन्दी क्रिया का औत्सर्गिक रूप ही इसे कहा जा सकता है।

पूर्वकालिक क्रियाएँ—प्राचीन भारतीय आर्य भाषा की छान्दस की भाषा में क्रिया के इस रूप को व्यक्त करने के लिए अनेक प्रत्ययों को काम में लाया जाता था। संस्कृत में इसके लिए केवल दो प्रत्ययों—(१) क्त्वा और (२) ल्यप् का ही विधान कर दिया गया और उसमें भी अनुपसर्ग धातु के साथ 'क्त्वा' और उपसर्ग सहित धातु के साथ 'ल्यप्' को निश्चित कर दिया गया। छान्दस में इस प्रकार के नियम का पालन नहीं मिलता। प्राकृतों में उक्त प्रत्ययों के लिए महाराष्ट्री में, 'तुम्' अत्, तूण और तुआण; शौरसेनी में, इय और दूण और मागधी अवन्ती में 'तूण' आदेश होने लगे। अपभ्रंश में इसके लिए आठ प्रत्ययों का विधान मिलता है; यथा—इ, इउ, इवि, अवि, एप्पि, एप्पिणु, एवि तथा एविणु। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं ने इनमें से केवल 'इ' को विशेष महत्त्व दिया। साथ ही क्रिया के मूल रूप का भी प्रयोग इस अर्थ में किया जाने लगा। हिन्दी भाषा ने उपर्युक्त प्रणाली से भिन्न रूप में अपना विकास किया और क्रिया के मूल रूप के साथ 'कर' शब्द जोड़कर इस अर्थ का द्योतन कराने लगी; यथा—खाकर, जाकर, रहकर आदि। ग्रामीण रूप में इस अर्थ के लिए 'के' का प्रयोग होता है, यथा—खा के। हिन्दी के साहित्यक रूप में भी 'कर' के साथ 'के' का ही प्रयोग किया जाता है। सम्भवतः द्विरुक्ति से बचने के लिए। राजस्थानी में 'करि' मिलता है। 'कर' की व्युत्पत्ति संस्कृत 'कृत' से की जाती है।

हेत्वर्थक क्रियाएँ—'हेतु' का बोध कराने के लिए संस्कृत भाषा में 'तुमुन्' प्रत्यय धातु के साथ जोड़ा जाता है। प्राकृतों में इसके लिए अन्य प्रत्ययों के साथ-साथ 'अण' प्रत्यय जोड़ा जाने लगा। अपभ्रंश में यह पर्याप्त मात्रा में लोकप्रिय हुआ। इसके साथ-साथ अपभ्रंश में 'हेतु-बोध' के लिए, एवं अणहं, अणहिं, एप्पि, एप्पिणु, एवि और एविणु का विधान मिलता है। इसके 'एवि' के विकसित रूप को राजस्थानी भाषा ने अपनाया। हिन्दी भाषा ने प्रत्ययों का सहारा छोड़कर क्रिया के औत्सर्गिक रूप के साथ 'के लिए' जोड़कर क्रिया के हेतु का बोध कराना प्रारम्भ किया। हिन्दी की सरलता का यह सर्वोपरि प्रमाण है।

संयुक्त क्रियापद[२३]—हिन्दी में दो-दो तीन-तीन क्रियाएँ एक साथ लाकर

---

[२३] डॉ. उदयनारायण तिवारी कृत हिन्दी भाषा का उद्गम और विकास पृष्ठ ४९२-९३।

भिन्न-भिन्न अर्थों का बोध कराया जाता है। विद्वानों ने विकास क्रम को दृष्टि में रखकर इनके पाँच भेद किये हैं—

(१) पूर्वकालिक कृदन्त पदयुक्त; यथा—फाड़ देना, जा सकना।

(२) आकारान्त क्रिया-मूलक विशेष्य पद युक्त; यथा—जाया करना, बजा चाहना, बोला चाहना।

(३) असमापिका पद युक्त; यथा—जाने देना, खाने देना, आदि।

(४) वर्तमानकालिक कृदन्त युक्त—जाता रहना, घटता रहना, आदि।

(५) विशेष्य अथवा विशेषण पद युक्त—भोजन करना, सुख देना, आदि।

अव्यय—संस्कृत भाषा में अव्यय का विधान पाया जाता है। महामुनि यास्क के द्वारा प्रस्थापित उपसर्ग[29] और निपात[30] की पाणिनि ने अव्यय संज्ञा की है। अव्यय शब्द का निर्वचन विद्वान् लोग इस प्रकार करते हैं—'नास्ति व्ययः=विनाशः=विकृतिर्यस्य, यस्मिन् वा तद् अव्ययम्' अर्थात् जिस शब्द में लिङ्ग, वचन और कारक के अनुसार कोई विकृति न हो—प्रत्येक अवस्था में एक रूप रहता हो—उसे अव्यय कहते हैं। इसीलिए प्राचीन दार्शनिकों ने ब्रह्म को अव्यय कहा है। गोपथ ब्राह्मण में ब्रह्म परक स्तुति में 'अव्यय' की विस्तृत व्याख्या इस प्रकार से की है—

"सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु, यन्न व्येति तदव्ययम्॥"[31]

हिन्दी भाषा में इनका अध्ययन दो वर्गों में विभाजित कर किया जाता है—(१) उपसर्ग, और (२) अव्यय। अव्ययों को भी क्रिया विशेषण, सम्बन्ध बोधक, समुच्चय बोधक तथा विस्मयादि बोधक आदि वर्गों में विभाजित किया जाता है। हिन्दी में एक दूसरा प्रकार भी प्रचलित है, जिसके अनुसार शब्दों के रूप की दृष्टि से दो भाग किये जाते हैं—(१) विकारी और (२) अविकारी। विकारी के अन्तर्गत, संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण तथा क्रिया की गणना की जाती है और अविकारी के अन्तर्गत अव्ययों (उपरिकथित चारों भाग) को लेते हैं। पहले यहाँ हिन्दी उपसर्गों और तत्पश्चात् अव्ययों का विकासात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपसर्ग—हिन्दी भाषा में विद्वानों ने तीन प्रकार के उपसर्गों को चिह्नित

---

[29] प्रादयः "उपसर्गाः क्रियायोगे।" पाणिनि अष्टाध्यायी, १/४/५८। प्राग्रीश्वरान्निपाताः, १/४/५६ तथा चादयो सत्वे, १/४/५७।

[30] स्वरादिनिपातमव्ययम्, १/१/३६ तथा चादयो सत्वे, १/४/५७।

[31] भीमसेन शास्त्री कृत हिन्दी टीका, लघुसिद्धान्त कौमुदी, पृष्ठ ६३५ से उद्धृत।

क्रिया है; (१) तत्सम, (२) तद्भव और (३) विदेशी। जहाँ तक तत्सम उपसर्गों का सम्बन्ध है, वे संस्कृत भाषा से ज्यों के त्यों ग्रहण कर लिए गये हैं, परन्तु उनका प्रयोग भी, एक दो उपसर्गों को छोड़कर तत्सम शब्दों के साथ ही किया जाता है। पाणिनि के अनुसार 'प्रादिक' शब्दों का प्रयोग, जब क्रिया के साथ किया जाता है, तब उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा होती है। इससे यह भी लक्षित होता है कि जब वे क्रिया के योग में नहीं आते हैं, तब उनकी 'उपसर्ग' संज्ञा नहीं होगी और उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी तो उनकी अव्यय संज्ञा भी नहीं होगी और जब अव्यय संज्ञा नहीं होगी तो उनके साथ कारक, लिङ्ग, वचन का भी प्रयोग होगा; यथा—'वि' प्रादिकों में आता है और क्रिया के साथ योग होने पर यह उपसर्ग बन जायेगा और इससे निपात संज्ञा के कारण अव्यय हो जायगा। तब इसके साथ विभक्ति प्रत्यय नहीं लगेंगे और यह इसी रूप में क्रिया के साथ युक्त हो जायगा; वि+कस्+घञ्=विकास।

महर्षि पतञ्जलि ने इसमें सुधार कर पाणिनि के उक्त सूत्र के दो भाग कर क्रिया भाव में भी प्रादिकों की निपात संज्ञा की है। अतः प्रादिक निपात संज्ञक होते हैं; केवल असत्त्व अर्थ को छोड़कर। जब प्रादिकों में से कोई शब्द द्रव्यार्थ (सत्त्व) देता है, तब उसकी निपात संज्ञा नहीं होती है; यथा— विः=पक्षी। विं पश्य (पक्षी को देखो) अतः सिद्ध हुआ कि संस्कृत के उक्त प्रादिकों की उपसर्ग संज्ञा क्रिया के ही योग में असत्त्व अर्थ में प्रयुक्त होते समय होती है, अन्यथा नहीं। प्रादिक संख्या में २२ हैं। यथा—(१) प्र, (२) परा, (३), अप, (४) सम, (५) अनु, (६) अव, (७) निस, (८) निर्, (९) दुस्, (१०) दुर्, (११) वि, (१२) आङ्, (१३) नि, (१४) अधि, (१५) अभि, (१६) अति, (१७) सु, (१८) उत्, (१९) अभि, (२०) प्रति, (२१) परि और (२२) उप्।

हिन्दी भाषा में भी उपसर्ग की परिभाषा लगभग इसी प्रकार से की जाती है। 'उपसर्ग' उस अक्षर या अक्षर-समूह को कहते हैं जो शब्द रचना के निमित्त शब्द के पहले लगाया जाता है।[32] उपसर्ग के साथ यह तथ्य भी जुड़ा हुआ होता है कि वह शब्द के मूल अर्थ में परिवर्तन ला देता है। संस्कृत मे इससे संबद्ध तीन मत प्रचलित थे।[33] प्रथम मत के लोग यह मानते थे कि 'अनेकार्थाः धातवः' के कारण धातु के अनेक अर्थ होते हैं, पर उपसर्ग के योग से पूर्व वे गुप्त रहते है और उपसर्ग का योग हो जाने पर प्रकाश में आ जाते हैं। वस्तुतः उपसर्ग अपना कोई अर्थ नहीं रखते। दूसरे मत के अनुसार उपसर्ग

---

32 डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २२३।

33 वामन शिवराम आप्टे कृत संस्कृत-हिन्दी कोश, पृष्ठ, २१२।

अपना स्वतन्त्र अर्थ रखते हैं, वे धातुओं के अर्थों में सुधार करते हैं, बढ़ाते हैं और कई उनके अर्थों को बिल्कुल बदल देते हैं। तीसरे मत के अनुसार कुछ उपसर्ग धातु के मूल अर्थ में बाधा उपस्थित करते हैं, कुछ धातु के अर्थ का ही अनुगमन करते हैं और कुछ अन्य ही विशिष्ट अर्थ प्रकट कर देते हैं। इन सब को मिलाकर संक्षेप में कहा जा सकता है कि उपसर्ग शब्द के मूल अर्थ में वैशिष्ट्य लाते हैं और इसीलिए शब्द से पूर्व इनका योग किया भी जाता है।

हिन्दी के तद्भव उपसर्ग निम्नलिखित हैं—

'अ'—इस उपसर्ग का विकास संस्कृत 'अ' (नञ्) से ही हुआ है। अन्तर केवल इतना है कि इसका प्रयोग तद्भव शब्दों के साथ भी किया जाता है; अथाह, अजान।

'औ'—इसका विकास संस्कृत के 'अव' उपसर्ग से हुआ है। संस्कृत 'अव' प्राकृतों में 'अउ' और हिन्दी में 'औ' हो जाता है। अर्थ होता है 'हीन'। प्रयोग—औघट, औगुन।

'अन'—इसका उद्भव संस्कृत 'अन्' (नञ्) से हुआ है। संस्कृत भाषा में स्वरों से पूर्व 'अ' को 'अन्' आदेश हो जाता है; यथा—अनास्था, अनार्य आदि। इसी 'अन्' को स्वरान्त कर हिन्दी में तद्भव की तरह प्रयुक्त किया जाता है और इसका प्रयोग व्यञ्जन से पूर्व भी होने लगा। स्वर के साथ; यथा—अनाड़ी (अनार्य), अनाखर (अनक्षर) आदि। व्यञ्जन के साथ; यथा—अनहोनी, अनसखरी (पवित्र), अनसमझ आदि।

'दु'—'दु' उपसर्ग का विकास संस्कृत 'दुर्/दुस्' से व्युत्पन्न हुआ है। इसका अर्थ होता है 'बुरा'। अभाव अर्थ में भी इसका प्रयोग होता है। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने 'दुबला' शब्द में 'दु' का बुरे अर्थ में प्रयोग माना है। मेरे विचार से यहाँ पर इसका अभाव अर्थ में प्रयोग है। जिसमें बल का अभाव हो गया हो, वह है दुबला (सं. दुर्बलकः) संस्कृत कोश में भी 'दुर्बल' का अर्थ 'शक्तिहीन' या 'बलहीन' दिया है। 'दुकाल' में इसका प्रयोग बुरे अर्थ में है; यथा—बुरा है जो समय वह है 'दुकाल'। डॉ. धीरेन्द्र वर्मा और डॉ. सरनामसिंह शर्मा ने 'दु' (दो के अर्थ में) को उपसर्ग मानते हुए 'दुधारा, दुमुहाँ' आदि उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। मेरे विचार में यहाँ 'दु' उपसर्ग नहीं है, बल्कि द्विगु समास मूलक बहुव्रीहि समास के लिए प्रयुक्त हुआ है और इसी कारण इसकी अव्यय संज्ञा हो गई है, अथवा यों कहिये कि विभक्ति का लोप हो गया है।

'नि'—'नि' उपसर्ग का विकास संस्कृत 'निर्' से हुआ है। 'निर्' युक्त शब्दों के 'र्' का द्वित्व प्राकृतों मे ही प्रारम्भ हो गया था और हिन्दी तक आते-आते उस 'द्वित्व' हुए व्यञ्जनों में से 'र्' से बने हुए व्यञ्जन का लोप भी

हो गया और इस प्रकार केवल 'नि' ही उपसर्ग रूप में अवशिष्ट रह सका; यथा—निकम्मा, निहत्था, निकाली और निखट्टू, आदि।

'कु'—संस्कृत गत्यर्थक शब्दों में परिगणित उपसर्ग प्रतिरूपक 'कु' से इसका विकास हुआ है। संस्कृत में स्वर सामने आने पर 'कु' को कद् आदेश हो जाता है; यथा—कदाचार। हिन्दी में सर्वत्र 'कु' ही रहता है। 'कु' उपसर्ग का प्रयोग 'बुरा' अर्थ में किया जाता है; यथा—कुचाल, कुपूत, कुजात, आदि।

'स'—संस्कृत 'सु' से हिन्दी 'स' उपसर्ग का विकास हुआ है। इसका प्रयोग 'उत्तम' या 'अच्छे' अर्थ में किया जाता है। कहीं-कहीं मूल संस्कृत 'सु' का प्रयोग भी तद्भव शब्दों के साथ उपलब्ध होता है। क्रमशः उदाहरण इस प्रकार हैं—सकुल, सपूत, सुवस, सुलखाँ, आदि।

उपर्युक्त उपसर्गों के अतिरिक्त डॉ. धीरेन्द्र वर्मा ने,[34] 'बिन, भर, अध, और उन' शब्दों को भी उपसर्ग माना है। डॉ. 'बाहरी' ने[35] प्रारम्भ के दो छोड़ दिये है। मेरे विचार में ये चारों ही उपसर्ग नहीं हैं, अपितु स्वतन्त्र शब्द हैं और समस्त पदों में इनका प्रयोग निपात की तरह होता है। अतः इन्हें उपसर्ग की संज्ञा नहीं देनी चाहिए।

विदेशी उपसर्गों में प्रायः अरबी और फ़ारसी के प्राप्त हैं, पर इनका प्रयोग प्रायः अरबी फ़ारसी शब्दों के ही साथ होता है। ये उपसर्ग हिन्दी की अपनी सम्पत्ति नहीं बन पाये। ये उपसर्ग निम्न है—कम, खुश, दर, बद, बा, बे, रवा, ना, सर, आदि। इनमें से कुछ का प्रयोग तद्भव शब्दों में प्रचलित हुआ था, पर यह प्रवृत्ति शीघ्र ही बन्द हो गयी। इसका कारण सम्भवतः हिन्दी का संस्कृत भाषा की ओर अधिक झुकाव ही होना है। कुछ स्वतन्त्र शब्द भी हैं; यथा—कम, खुश, बद, आदि। मेरे विचार में इन्हें उपसर्ग नहीं माना जाना चाहिए।

क्रियाविशेषण—हिन्दी भाषा में कुछ इस प्रकार के शब्द है, जो क्रिया की विशेषता प्रकट करते हैं। कुछ क्रिया के स्थान, कुछ समय और कुछ रीति आदि का बोध कराते हैं। इनका प्रयोग सर्वत्र अव्यय-रूप में होता है। अतः इन्हें अव्यय शीर्षक के अन्तर्गत लिया जाता है। इन शब्दों का विकास प्रायः संस्कृत संज्ञाओं एवं सर्वनामों से हुआ है। विद्वान् लोग इन शब्दों को दो भागों में विभक्त करते है—(१) संज्ञा पदों से निर्मित क्रिया—विशेषण और (२) सर्वनाम पदों से निर्मित क्रिया विशेषण :

---

[34] डॉ. धीरेन्द्र वर्मा कृत हिन्दी भाषा का इतिहास, पृष्ठ २२४।

[35] डॉ. हरदेव बाहरी कृत हिन्दी उद्‌भव : विकास और रूप, पृष्ठ १५०।

(१) **संज्ञा पदों से निर्मित**—संज्ञा पदों से निर्मित क्रिया—विशेषण कालवाची हैं—

(हि.) खण/छन/छिन>(प्राकृत) खण/छण>(सं.) क्षण, (हि.) समय/समै>(म.भा.आ.) समय>(सं.) समय, (हि.) घड़ी>(म.भा.आ.) घड़िआ >(सं.) घटिका, (हि.) फुर्ती/ति>(म.भा.आ.) फुत्ति/फुत्ती>(सं.) स्फूर्ति आदि। इन शब्दों के साथ कारक चिह्नों का प्रयोग किया जाता है, यथा—घड़ी में, छण में, फुर्ति से, आदि।

(२) **सर्वनामजात क्रियाविशेषण**—इन क्रिया विशेषणों को पाँच भागों में विभाजित किया जाता है; (क) काल वाचक, (ख) स्थान वाचक, (ग) दिशा वाचक, (घ) रीति वाचक और (ङ) परिमाण वाचक।

(क) **काल वाचक**—अब, जब, तब, कब आदि चार शब्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति अभी संदिग्ध है। बीम्स इनकी व्युत्पत्ति 'वेला' शब्द से पूर्व सर्वनाम *अंग जोड़कर करते हैं; यथा—एते वेले 'या' एता वेला>अब। आपके अनुसार* उड़िया का एते वेले/एवे आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। डॉ. चाटुर्ज्या इसका विकास वैदिक 'एव' से जोड़ते है; यथा—(वै.सं.) एव>(सं.) एवम्>(म. भा.आ.) एव्व/एव्वं>(हि.) अब। डॉ. चाटुर्ज्या वस्तुस्थिति के अधिक समीप प्रतीत होते हैं—

अब—(स.) एवं>(म.भा.आ.) एव्वं>(हि.) अब।
कब—(सं.) कैवं (का+एवं)>(म.भा.आ) केवँ>(हि.) कब।
नब—(सं.) ता+एव>(म.भा.आ.) तेवँ>(हि.) तब।
जब—(सं.) या+एवं>(म.भा.आ.) जेवँ>हि.) जब।

(ख) **स्थान वाचक**—यहाँ, वहाँ, कहाँ, जहाँ, तहाँ आदि शब्द स्थान वाचक क्रिया विशेषण हैं।

यहाँ—(सं.) एतस्मात्>(प्रा.) एअम्हा>(अप.) एअहाँ>(हि.) यहाँ।
वहाँ—(सं.) अमुष्मात्>(प्रा.) अउम्हा>(अप.) वहाँ>(हि.) वहाँ।
कहाँ—(सं.) कस्मात्>(प्रा.) कम्हा>(अप.) कहाँ>(हि.) कहाँ।
जहाँ—(सं.) यस्मात्>(प्रा.) जम्हा>(अप.) जहाँ>(हि.) जहाँ।
तहाँ—(सं.) तस्मात्>(प्रा.) तम्हा>(अप.) तहाँ>(हि.) तहाँ।

जब इन शब्दों का अधिकरण अर्थ मे प्रयोग होता है, तब इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के सर्वनामों के सप्तमी के प्रत्यय 'स्मिन्' से होगी जिनसे हिन्दी में 'कहीं, वहीं' आदि का निर्माण होता है। कालान्तर में पंचमी के सूचक 'कहाँ, वहाँ' आदि का भी सप्तमी के अर्थ में प्रयोग होने लग गया दिखाई देता है। इनके साथ 'से' (अपादान कारक सूचक) और 'में, पर' आदि परसर्गों का प्रयोग ही इस बात का प्रमाण है।

(ग) **दिशा वाचक**—हिन्दी में दिशावाचक क्रिया विशेषण पाँच हैं; यथा—इधर, उधर, किधर, जिधर तथा तिधर। 'तिधर' के प्रयोग का प्रचलन हिन्दी में नहीं के बराबर है। बीम्स ने इन शब्दों के 'धर' अंश का सम्बन्ध संस्कृत 'मुखर' शब्द के साथ जोड़ने का प्रयत्न किया है, जो कि उचित प्रतीत नहीं होता। अब तक उक्त शब्दों की सन्तोषजनक व्युत्पत्ति ज्ञात नहीं हो पायी है।

(घ) **रीति वाचक**—रीति वाचक क्रिया विशेषण 'ज्यों, त्यों, यों, क्यों,[36] ऐसे, वैसे, जैसे, कैसे तथा तैसे' आदि ९ शब्द हैं। इनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—

ऐसे—(सं.) ईदृशी>(अप.) अइसइ>(हि.) ऐसे।
वैसे—(सं.) अमुदृशी>(अप.) अवुसइ>(हि.) वैसे।
जैसे—(सं.) यादृशी>(अप.) जइसइ>(हि.) जैसे।
कैसे—(सं.) कीदृशी>(अप.) कइसइ>(हि.) कैसे।
तैसे—(सं.) तादृशी>(अप.) तइसइ>(हि.) तैसे।

(ङ) **परिमाण वाचक**—परिमाण वाचक क्रिया विशेषण शब्द संख्या में पाँच है—इतना, उतना, कितना, जितना, तितना। इनकी व्युत्पत्ति संस्कृत के 'मतुप्' प्रत्ययान्त सर्वनाम शब्दों से हुई है। इनका विकास विशेषण शीर्षक के अन्तर्गत दिया जा चुका है।

संस्कृत भाषा के कुछ अव्यय शब्दों का प्रयोग भी हिन्दी में क्रिया विशेषण की तरह किया जाता है, जो व्युत्पत्ति-सहित नीचे दिये जा रहे हैं—

आज—(सं.) अद्य>(म. भा. आ.) अज्ज>(हि.) आज।
कल—(सं.) कल्यं>(म. भा. आ.) कल्लं>(हि.) कल/कालें (ग्रा. प्र.)
परसों—(सं.) परश्वस्>(मा.भा.आ.) परस्सउ>(हि.) परसों।
तुरन्त—(सं.) त्वरित>(म. भा. आ.) तुरत>(हि.) तुरन्त/तुरत।
झट—(सं.) झटिति>(हि.) झट।
भीतर—(सं.) अभ्यन्तर>(म. भा. आ.) भितर>(हि.) भीतर।
बाहर—(सं.) वहिर>(म. भा. आ.) वहिर>(हि.) बाहिर।
आगे—(सं.) अग्रे>(म. भा. आ.) अग्गे>(हि.) आगे।
पीछे—(सं.) पश्चे>(म. भा. आ.) पच्छे>(हि) पाछे, पीछे।
ऊपर—(सं.) उपरि>(म. भा. आ.) उप्परि>(हि.) ऊपर।
नीचे—(सं.) नीचैस्>(म. भा. आ.) निच्चैइ>(हि.) नीचे।

सम्बन्ध वाचक अव्यय—*हिन्दी में सम्बन्ध बोधक अव्यय के रूप में,*

---

[36] प्रारम्भ के चार शब्दों की व्युत्पत्ति संदिग्ध है।

'और, एवं, तथा, कि, मानों, जैसा आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है, जिनकी व्युत्पत्ति निम्न प्रकार से है—'और'—(सं.) अपर>(म. भा. आ.) अवर>(अप.) अउर>(हि.) और। ('एवं और तथा' तत्सम शब्द हैं)।

'कि'—(सं) किम्>(म. भा. आ.) किं>(हि.) कि। (फ़ारसी में 'भी' 'कि' मिलता है)।

'मानो'—(सं.) मान्यतु>(म. भा. आ.) मण्णउ>(हि.) मानों।

जैसा—(सं.) यादृशक:>(अपभ्रंश) जइसअ>(हि.) जैसा।

समुच्चय बोधक अव्यय[37]—ये शब्द कुछ विभाजक होते है, कुछ प्रतिषेधात्मक होते हैं और कुछ परिणामात्मक होते हैं, जिनसे वाक्यों में योग हो जाता है।

(क) विभाजक—हिन्दी में विभाजक के रूप में 'वा, अथवा और या' का प्रयोग मिलता है। इनमें से क्रमश: दो तत्सम शब्द हैं और एक फ़ारसी शब्द है। निषेधात्मक शब्द भी विभाजक का कार्य करते हैं। इसके लिए 'न, नहीं' का प्रयोग होता है। 'न' तत्सम शब्द है। 'नहीं' संस्कृत 'न हि' का तद्भव रूप है।

'चाहे, तो भी' आदि का प्रयोग भी इसी अर्थ में किया जाता है। चाहे—(सं.) चक्षन्ते>(म. भा. आ.) चाहइ>(हि.) चाहे।

'तो, भी'—(सं.) तदपि>(हि.) तो भी। (प्राकृत में सम्भवत तउहि)।

विस्मयादि बोधक अव्यय—स्थिति-विशेष के अनुसार भावों के बोधक शब्द होते हैं। इनमें अधिकांश देशज होते हैं और भाषानुसार इनका निर्माण नये सिरे से होता रहता है; यथा—छि छि, हे हे, आदि। कुछ पुराने शब्द का परिवर्तित रूप में भी प्रयोग होता है, यथा—'ओहो' संस्कृत 'अहो' का तद्भव रूप है। 'काँव-काँव, भन-भन, बड़-बड़' आदि अनुरणनात्मक शब्द है।

---

[37] 'किन्तु, परन्तु' दोनों ही तत्सम शब्द हैं, पर हिन्दी में इनका प्रयोग स्वच्छन्दता से किया जाता है।

परिशिष्ट १

हिन्दी राष्ट्रभाषा क्यों ? (एक विमर्श)

शीर्षक में विषय-सामग्री उसी प्रकार सन्निहित होती है, जिस प्रकार एक सूक्ष्म वटबीज में विशालकाय बरगद का वृक्ष। अतएव विषय-सामग्री की सुस्पष्ट अभिव्यंजना के लिए उसके शीर्षक का विश्लेषण परमावश्यक हो जाता है। भाषाएं मानवीय चिन्ता, अनुभव एवं अर्जित ज्ञान की अभिव्यंजिका शक्तियां हुआ करती हैं। अतः भाषा-वैज्ञानिक इनकी तुलना भाषा-शास्त्रीय कसौटी पर कस कर करता है, कला-मर्मज्ञ उनका परीक्षण काव्य-शास्त्रीय प्रणाली के आधार पर करता है, समाज-शास्त्री उनमें निहित सामाजिक रीति-रिवाजों का अवलोकन कर अपना मत स्थिर करता है और इसी प्रकार विज्ञानवेत्ता उसमें उपस्थित वैज्ञानिक चिन्तन को व्यक्त करने वाली सामर्थ्य का नाप-जोंख कर उन्हें अपने अध्ययन का विषय बनाता है; किन्तु आज यह विषय जिन परिस्थितियों में आया है इससे इसका सम्बन्ध उपर्युक्त बातों से न रहकर कुछ भिन्न हो गया है। आज हमारा विचारणीय पक्ष उपर्युक्त भाषाओं की ज्ञान-गरिमा नहीं, अपितु उनका पद है जिसका विश्लेषण उनमें निहित ज्ञान की सामर्थ्य और उसके उपासकों एवं व्यवहार कर्ताओं की संख्या के आधार पर किया जाना है और वह पद है भारत जैसे विशाल देश की राजभाषा का। अतः इसी आधार पर प्रस्तुत विषय का विश्लेषण किया जा रहा है।

भारत एक विशाल देश है। यह अनेक जातियों, सम्प्रदायों, मतों, प्रान्तों एवं भाषाओं की संगम भूमि है। इस अकेले देश में चौदह ऐसी उन्नत भाषाएँ प्रचलित हैं जो अपना अभूतपूर्व साहित्य रखती हैं। जिनमें से दस भाषाओं को तो विश्व के किसी राष्ट्र की भाषा के साथ तुलनार्थ उपस्थित किया जा सकता है, किन्तु जहाँ यह बात एक ओर गौरव का विषय है वहाँ दूसरी ओर अनेक समस्याओं की प्रदाता भी। इसी कारण से आज राजभाषा के प्रश्न ने एक उग्र रूप धारण कर लिया है।

१५ अगस्त, १९४७ से पूर्व जब हम फिरंगियों की दासता की शृंखलाओं से आबद्ध थे, तब हमारी राजभाषा आंग्ल भाषा थी और उस समय हम अपने गौराङ्ग महाप्रभुओं की भाषा के अध्ययन और अध्यापन में एक अभूतपूर्व गौरव का अनुभव करते थे; किन्तु आज स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी हम कुत्ते की हड्डी की तरह उसका साथ छोड़ने को तत्पर नहीं है। मैं अंग्रेजी भाषा का विरोधी नहीं हूँ, विरोधी हूँ उसके उस अधिकारहीन पद का जिसे वह

भारत मे प्राप्त किये हुए है। किसी भी भाषा का ज्ञान के आधार पर किया गया अध्ययन तो उचित है, किन्तु जब उसके प्रति आसक्ति किन्ही निहित स्वार्थो के कारण होती है, तब वह मानव आत्मा की सबसे गर्हित प्रवृत्ति का द्योतक होती है व उसके क्लैव्य का सूचक होती है। कापुरुषो के चरित्र की यह सबसे बड़ी पहचान होती है कि वह किसी भी कार्य को अपनी आत्मिक शक्ति के उत्थान के लिए नही करता, अपितु बलिष्ठ की पूजा के लिए करता है। अग्रेजी की उपासना हमारी इस प्रवृत्ति का सजीव उदाहरण है। अंग्रेजो को प्रसन्न करने के लिए सात-समुद्र पार से आई हुई भाषा को जिसके साथ हमारा कोई भी तथा किसी भी प्रकार का निकटवर्ती लगाव न था, उसे हम पढ सकते थे, किन्तु राष्ट्रीय एकता को बनाये रखने वाली अपने ही देश की भाषा को पढना हम अपनी मानहानि समझते है, जिसकी विचित्र रूप-सज्जा ने भारतीयो मे वैमनस्य का बीज वपन कर दिया है।

मैं यह मानता हूँ कि अंग्रेजी एक समृद्ध भाषा है, उसका विपुल साहित्य है तथा वह एक अन्तरराष्ट्रीय भाषा भी है और उसके लिए वह हमारे सम्मान एव श्रद्धा की पात्री है, किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नही है कि वह हमारी मा का आसन ग्रहण करे। उसकी चकाचौध मे हम अपनी मां की सादगी को भुला दे और यदि हम ऐसा करने का दुस्साहस करते है तो यह हमारे देश एवं जाति के लिए अत्यन्त अशोभनीय एव लज्जाजनक कृत्य है। यदि हमारी माता मे कतिपय त्रुटियाँ है, यदि वह वाङ्मय के कुछ क्षेत्रो को अपने मे सँजोये हुए नही है तो उसके सशक्त एवं प्रतिभाशाली पुत्रो का यह पावन कर्तव्य है कि वे इसकी पूर्ति करे, अपने अनथक परिश्रम के द्वारा उसकी ऐसी साज-सज्जा करे, जिससे उसके सामने आज हमको लुभाने वाली विदेशी भाषा को भी दांतो तले अगुली दबानी पड़े। हमे रूस, चीन, फ्रास, जर्मनी के पथ का अनुसरण करना चाहिये, न कि लंका और इण्डोनेशिया का। फिर यह भी ध्रुव सत्य है कि जो वास्तविक एव हार्दिक वात्सल्य हम अपनी मा से प्राप्त कर सकते है, वह सौतेली मा से नही, वह हमारी आंखो को चौधिया तो सकती है किन्तु हृदय प्रदान नही कर सकती। यदि इस चकाचौध से प्रभावित होकर हम अपनी ही माताओ का तिरस्कार कर बैठते है तो निश्चय ही हम कापुरुष है, क्योंकि हम मे अपनी मा के अभावों की क्षति-पूर्ति करने की सामर्थ्य नही है। हाँ ! अग्रेजी भाषा को उसकी समृद्धि के आधार पर हम शिक्षिका का पद तो दे सकते है, किन्तु राष्ट्रभाषा का पवित्र-पद जो हमारी अपनी भाषाओ के लिए सुरक्षित है, समर्पित नही कर सकते; और इस प्रकार शिक्षिका का पद तो हम विश्व की किसी भी समृद्ध भाषा को प्रदान करने के लिए तैयार है, अंग्रेजी को विशेष महत्ता केवल इसलिए प्राप्त है कि वह इस देश मे पहले से प्रचलित है।

राजभाषा विधेयक के लिए लचीली नीति का आश्रय तथा आंग्ल भाषा के संदर्भ में उस पर विचार-विमर्श करना एक ऐसी राजनैतिक भूल होगी जो भारत के प्राचीन गणमान्य व्यक्ति अपने खोखले अहं की तुष्टि के लिए या मिथ्या उदारता के नाम पर कर चुके हैं तथा जिनका परिणाम हम आज तक भोग रहे हैं। हाँ, भारतीय भाषाओं पर हम एक बार नहीं, हज़ार बार विचार करने को तैयार हैं पर उसमें देश की एकता का प्रश्न और जनहित की भावना आँखों से ओझल न होने पाए। आंग्ल भाषा को राजभाषा के पद से अपदस्थ करने वाले संघर्ष में हमारे प्रधान मन्त्री को उतनी सुदृढ़ता का परिचय देना चाहिए, जितनी सुदृढ़ता का परिचय अमेरिका के राष्ट्रपति अब्राहिम लिंकन ने देश की एकता को खण्डित करने वाले अमेरिका के दक्षिणी राज्य को दिया था। मैं नहीं समझ पाया कि जिस देश में एक से एक अधिक गुणागरी, कला-मर्मज्ञा एवं ज्ञान-संयुक्ता चौदह माताएं उपस्थित हैं तो इस देश के कतिपय निवासी एक विदेशी माँ के प्रति इतने उत्कंठित क्यों हैं? कमाल की बात तो यह है कि वह हमसे चिढ़ती है, हमसे दूर भागती है और हम उससे चिपकना चाहते हैं। आप इसे चाहे भावुकता ही कहें पर, मैं राजस्थान के भू. पू. राज्यपाल डॉ. सम्पूर्णानन्द के साथ अक्षरशः सहमत हूं। उन्होंने कहा था—

"हिन्दी से सबको चिढ़ है तो किसी दूसरी भारतीय भाषा को उसका स्थान दे दिया जाय, किन्तु अंग्रेज़ी को सर पर ढोना तो डूब मरने के बराबर है।" (हिन्दी दिवस के अवसर पर एक विशेष लेख, डॉ. सम्पूर्णानन्द। धर्मयुग १६ सितम्बर, १९६२)

प्राचीन वाङ्मय उस देश की सामाजिक, राजनीतिक एवं धार्मिक अनुभूतियों का कोष होता है, जो देश उससे लाभ नहीं उठाता, वह अपनी हठ-वादिता एवं जड़-बुद्धिता का परिचय देता है। भारत का इतिहास यह रहा है कि उसने किसी युग में अखण्ड भारतीय राष्ट्रीयता का परिचय नहीं दिया और परिणाम-स्वरूप अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलापने की स्थिति में विश्व के अन्य देशों की तुलना में यह देश अधिक बार और अधिक समय तक दासता की शृंखलाओं में आबद्ध रहा। प्राचीन युग में भारतीय अखण्डता का भेदक प्रान्तीयतावाद तथा घिनोना धार्मिक प्रमाद रहा और आज उनका स्थान प्रान्तीय भाषाओं को दिया जा रहा है। राष्ट्रभाषा के प्रश्न पर यदि आज गांधार के आम्भीक, मुल्तान के अजयपाल, लोहकोट के भीमपाल, जालोर के वाक्पतिराज, कन्नोज के जयचन्द और सोमनाथ मन्दिर के रुद्रभद्र की गर्हित एवं वीभत्स नीतियों का अनुसरण किया गया तो देश के लिए वह अत्यन्त भयानक सिद्ध होगा।

- १४ सितम्बर, १९४९ को देश के विचारशील राजनीतिज्ञों ने अत्यन्त

विचार-विमर्श के पश्चात् राजभाषा के सम्मानित पद पर हिन्दी को सुशोभित किया था। ज्यों-ज्यों संविधान की इस धारा को कार्यान्वित करने का समय समीप आता गया, त्यों-त्यों कतिपय निहित स्वार्थी राजनीतिज्ञों ने इस प्रश्न को उलझाना प्रारम्भ कर दिया और परिणाम यह हुआ कि २६ जनवरी, १९६५ को जब सरकार ने हिन्दी भाषा को राजभाषा घोषित किया तो दक्षिण भारत के प्रान्तीयतावादी विचार वाले व्यक्तियों ने इसका विरोध किया और दो नादान भावुक नवयुवकों को भड़का कर मृत्यु की गोद में सुला दिया, जो अत्यन्त अशोभनीय कार्य था।

मैं तो यह कहूँगा कि वर्तमान सरकार ने अंग्रेज़ी को राजभाषा के पद से अपदस्थ कर अत्यन्त बुद्धिमानी का परिचय दिया है, किन्तु मुझे यह भी आशा है कि भारत शैक्षाणिक दृष्टि से इस महान् भाषा का सम्मान करता रहेगा और इसके साथ उसी प्रकार सम्पर्क बनाए रखेगा जिस प्रकार आज वह राष्ट्रमण्डल के माध्यम से अंग्रेज़ों से सम्पर्क बनाए हुए है। हम उससे ज्ञान ग्रहण करते रहेंगे और उसके भण्डार को अपनी प्रतिभा से भरते रहेंगे, किन्तु हमारे घरेलू मामलों में हस्तक्षेप करने का अधिकार कभी नहीं देंगे। काका कालेलकर ने भारत की राष्ट्रीय विचारधारा को बड़ी ही सुन्दर वाणी दी है, जब उन्होंने कहा था—

"राज्य का सब काम अंग्रेज़ी में चलाना प्रजा पर एक बोझ डालना है, वह भी प्रशासकों की सुविधा के लिए। लेकिन हमें याद रखना चाहिए कि स्वराज्य प्रजा के लिए है, शासन अधिकारियों के लिए नहीं। यदि यह अस्वाभाविक स्थिति देर तक बनी रही तो हम बिगड़ उठेंगे।" (साप्ताहिक हिन्दुस्तान, २ सितम्बर, १९६२ से उद्धृत)

दक्षिण भारत में हिन्दी का विरोध कर अंग्रेज़ी की स्थिति को वैसी ही बनाये रखने वालों में उन लोगों की कमी नहीं है जो महात्मा गांधी की दुहाई देते हुए नहीं थकते हैं, किन्तु जब राष्ट्रभाषा का प्रश्न आता है, अंग्रेजी को अपदस्थ करने का प्रश्न आता है, तो वे अपने आदर्श नेता के उन शब्दों को भूल जाते हैं जो उन्होंने यंग इण्डिया में प्रकट किए थे—

"That crores of men should learn a foreign tongue for the convenience of a few hundreds of officials is the height of absurdity. (*Young India*, 21-4-1920)

उस समय उन्होंने मद्रास के लोगों से उनके कर्तव्य को भी पूछा था—

"What is the duty of the thirtyeight million inhabitants of that Presidency ? Should India for their sake learn English ?

or Should they for the sake of two hundred seventy seven million inhabitants of India learn Hindustani.

(*Young India*, 21-4-1920)

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि फिर प्रशासन-कार्य भारत में प्रचलित सभी भाषाओं में चलाया जाए या उन भाषाओं में से किसी एक भाषा को समस्त भारत के प्रशासन के लिए रखा जाए। इसका उत्तर एक वाक्य में यों रखा जा सकता है कि जनता का प्रशासन जनता की भाषा में संचालित किया जाए। तामिलनाडु की जनता का प्रशासन तमिल में और बंगाल की जनता का प्रशासन बंगला में तथा इसी प्रकार अन्य प्रान्तों में भी। इसके अतिरिक्त केन्द्र से सम्बन्ध रखने वाली सभी विद्याओं के लिए तथा अन्तर-प्रादेशिक व्यवहार एवं वार्तालाप के लिए एक भाषा का प्रयोग हो, जिससे भारत की भावनात्मक एकता सुदृढ़ हो और केन्द्रीय मंत्रालयों के कार्यालय भाषाओं के अजायबघर न बन जाएँ। अब वह भाषा कौनसी हो? इस प्रश्न का समाधान हमें खोजना है। यह घरेलू मामला है कि हम सब एक स्थान पर बैठ कर प्रान्तों की भावना से ऊपर उठ कर समग्र भारत में हित-साधना के लिए, उसके विशाल जनसमूह की सुव्यवस्था के लिए तथा उसके समुचित कल्याण के लिए उस महान् देश में प्रचलित १४ भाषाओं में से किसी एक को जो सभी का सही प्रतिनिधित्व कर सकती हो, उसकी एकता को दुर्बल न बना कर सुदृढ़ आधार-भित्ति प्रदान करने में समर्थ हो, इस पद से सुशोभित करें। इसके लिए हमें दो बातों का ध्यान रखना पड़ेगा—(१) कम से कम परिश्रम और अधिक से अधिक लाभ; और (२) भाषा का सामर्थ्य।

उपर्युक्त प्रश्न भारत के लिए नवीन नहीं है। पुरातन युग से ही ऐसे प्रश्न उपस्थित होते रहे हैं और भारतीय मनीषियों ने उसका हल खोजा है। पहले ये प्रश्न धर्मोपदेश के लिए उठते थे जो उस समय राष्ट्रहित-विधायक समझे जाते थे और आज ये प्रश्न राष्ट्र के प्रशासन के लिए उठा, जो उसी सीमा तक हमारा हितसाधक है। अत्यन्त प्राचीन काल में इसी प्रकार का प्रश्न इस देश के समक्ष उपस्थित हुआ था। जब वैदिक संस्कृत से निसृत तीन बोलियाँ—प्राच्या, उदीच्या तथा मध्य देशीया—इस भू-भाग में प्रचलित थीं। भगवान् बुद्ध प्राच्या का मोह त्यागने को तत्पर नहीं थे और ब्राह्मण लोग वैदिक संस्कृत नहीं छोड़ना चाहते थे, किन्तु उस समय भी ईश्वर चिन्तन में लीन ऋषियों ने इसका निर्णय किया और उदीच्या एवं मध्यदेशीय के सम्मिलित रूप संस्कृत को राष्ट्र भाषा का गौरवमय पद प्रदान किया, जिसे अन्त में बुद्ध सम्प्रदाय ने भी स्वीकार कर लिया। इसके पश्चात् भी अनेक प्रान्तों में से महाराष्ट्री को और अनेक प्राकृतजा बोलियों में से अपभ्रंश को

अन्तर-प्रादेशिक भाषा माना गया। अब भारत में प्रचलित चौदह भाषाओं में से हिन्दी को अत्यन्त विचार-विमर्श के पश्चात् संविधान में राज-भाषा के पद से सुशोभित किया गया। भारत के अनेक भाषाविदों, पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण के चिन्तनशील मनीषियों एवं राजनीति-विशारदों ने यह सुझाव दिया है कि भारत के आन्तर-प्रादेशिक भाषा के पद को ग्रहण करने का सामर्थ्य केवल-मात्र हिन्दी भाषा में ही निहित है। बंगाल के विश्व प्रसिद्ध भाषा-वैज्ञानिक डॉ. सुनीतकुमार चटर्जी ने बताया कि हिन्दी या हिन्दुस्थानी आज के भारतीयों के लिए एक बहुत बड़ा रिक्थ है। यह हमारे भाषा-विषयक प्रकाश का वृहत्तम साधन है तथा भारतीय एकता एवं राष्ट्रीयता का प्रतीक बन सकता है। वास्तव में हिन्दी ही भारतीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व कर सकती है। (भारतीय आर्यभाषाएँ और हिन्दी, पृष्ठ २०४)

पूर्वी भारत के महान् विचारक श्री केशवचन्द सेन ने इससे भी बहुत वर्ष पहले भारतीयों को सचेत करते हुए समस्त देश के लिए एक भाषा की आवश्यकता को बताते हुए उसके लिए हिन्दी का ही नाम लिया है—

यदि भारतवर्ष एकना ह्यले भारतवर्ष एकता नह्य, तव ताहार उपाय-कि? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार कराई उपाय। एखन भाषा भारते प्रचलित आछे, ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्रायः सर्वचन्ह् प्रचलित। एइ हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एकमात्र भाषा करा जाय तवे अनायासे शीघ्र सम्पन्न ह्वति पारे। (समाचार सुलभ, चैत्र ५, १२८०)

पश्चिम मे गुजरात के ही नही, अपितु समस्त भारतवर्ष की आत्मा महात्मा गाँधी ने भी वही अनुभव किया था कि भारत की राष्ट्र भाषा बनने का सामर्थ्य केवल मात्र हिन्दी मे ही निहित है—

"I have attended all the Congress sessions, but one, since 1915, I have studied then specially in order to study the utility of Hindustani compared to English for the conduct of its proceedings, I have spoken to hundreds of delegates and thousands of visitors and I have perhaps covered a large area and seen a much larger number of people, literate and illiterate than any public man, not excluding Mrs. Besant and Lokmanya Tilak and I have come to the deliberate conclusion that no language except Hindustani, can possibly become a national medium for exchange of ideas or for the conduct of National Proceeding." (*Young India*, 21-1-1920)

इसके साथ ही दक्षिण के कृष्ण स्वामी की चर्चा करते हुए गांधीजी ने बताया कि वे भी इसी विचार धारा के पोषक थे—

"That late Justice Krishna Swami, with his unerring instinct recognised Hindustani as the only possible medium of expression between the different parts of India."

(*Young India*, 21-1-1920)

आजकल भी दक्षिण में ऐसे विद्वानों का अभाव नहीं है, जो इस तथ्य को भली-भांति स्वीकार करते हैं। अर्थशास्त्र के परम विद्वान् डॉ. वी. के. आर. वी. राव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है। अतएव हमें उपर्युक्त विद्वानों के अनुभव से लाभ उठाना चाहिए और हिन्दी भाषा के विरोध का कार्य, जो राष्ट्रीय विरोध के तुल्य कहा जा सकता है, छोड़ देना चाहिए। दक्षिण में इसके प्रमुख विरोधियों में श्री राजगोपालाचारी और द्रविड़ मुनेत्रकषगम के नेताओं का नाम प्रमुख रूप से लिया जा सकता है और मजेदार बात यह है कि ये लोग दक्षिण की भाषाओं की समृद्धि और प्रसार के प्रति इतने उत्सुक नहीं हैं जितने प्राणप्रिया आंग्ल भाषा को अंक से चिपकाए रखने में सतर्क है। विचित्र विडम्बना है। राजाजी का ही उदाहरण लीजिए, एक बार आप ने अंग्रेजी के समर्थन में एक लेख माला का प्रारम्भ किया था, जिसमें उन्होंने मुख्य रूप से तीन प्रश्न उठाए हैं—[1]

(१) हिन्दी अंग्रेजी के समान समस्त भारत में न ही समझी जाती है और न ही पढ़ी जाती है।

(२) वह एक प्रदेश की भाषा है।

---

[1] कहा जाता है कि हिन्दी जनता की भाषा है और सरकार और जनता की भाषा एक होनी चाहिए। प्रश्न यह है कि हिन्दी किसकी भाषा है— इस देश में रहने वाले सब की तो नहीं ? निश्चय ही दक्षिण के करोड़ों लोगों की तो नहीं। दक्षिण का कोई भी पठित या अपठित, न उसे बोलता है और न समझता है। उत्तर के चार प्रान्तों में वह बोली जाती है जो एक-दूसरे के समीप है अथवा आजू-बाजू में है। उसे बोलने वाले इस देश में प्रतिशत के हिसाब से कुछ भी क्यों न हों, वे देशभर में फैले हुए नहीं हैं। वे प्रदेश-विशेष में ही सीमित हैं। उनकी भाषा को राजभाषा मानने में उन्हें अधिक गौरव प्राप्त होगा। शायद वह हिन्दी-भाषियों से संख्या में अधिक होंगे। अंग्रेजी देश भर में बराबरी से फैली हुई है। अंग्रेजी के राजभाषा बनने में देश का कोई भी भाग अन्य भागों से प्रतिकूल या क्षति का अनुभव न करेगा। राजकाज में सबको समता प्राप्त होगी और हिन्दी को लादने से यह समता नष्ट हो जायगी। (धर्मयुग, १ सितम्बर, १९६३ में श्री शिवड़े द्वारा उद्धृत)।

(३) हिन्दी के राजभाषा होने से दक्षिण का महत्व कम हो जाता है—

यदि इन तीनों प्रश्नों का सूक्ष्म विश्लेषण करें तो लगता है कि इनकी आधारशिलाएँ अत्यन्त ही निर्बल हैं। जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है, वह किसी भी प्रकार मान्य नही है। यद्यपि हिन्दी उत्तर भारत के अधिकांश जनता की मातृभाषा है फिर भी वह समस्त भारत में अंग्रेज़ी से अधिक मात्रा में लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है। सरकार द्वारा प्रस्तुत आंकड़े इसके प्रत्यक्ष प्रमाण है। अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे लोगों की संख्या समस्त भारतवर्ष में ११ प्रतिशत है, जबकि मद्रास इसमें तीसरे स्थान पर आता है। जनसंख्या की दृष्टि से मद्रास में अंग्रेजी जानने वालों की संख्या केवल १.१२ प्रतिशत है और इसकी तुलना में पंजाब और पश्चिमी बंगाल में उक्त भाषा के जानने वालों की संख्या क्रमशः २.२५ प्रतिशत और २.३७ प्रतिशत है, जबकि स्वयं अकेले मद्रास मे हिन्दी जानने और समझने वालों की संख्या १० प्रतिशत से कम नहीं है। समस्त प्रदेशों में अंग्रेज़ी जानने वालों और साक्षरों की संख्या निम्न प्रकार है—

प्रदेश	जनसंख्या	साक्षार प्रतिशत	अंग्रेज़ी जानने वालों की संख्या प्रतिशत
असम	११,८६०,०५६	२५.८	—
आन्ध्र	३५,९७७,९९९	२०.८	१.२
उड़ीसा	१७,५६५,६४५	२१.५	०.४३
उत्तर प्रदेश	७३,७५२,९९४	१७.५	—
केरल	१६,८७५,१९९	४६.२	१.५
गुजरात	२०,६२२,२८३	३०.३	१.००
पश्चिमी बंगाल	३४,९६७,६३४	२९.१	२.३१
पंजाब	२०,२९८,१५१	२३.७	२.२५
बिहार	४६,४५७,०४२	१८.२	—
मद्रास	३३,६५०,६१७	३०.२	१.५२
मध्य प्रदेश	३२,३९४,३७५	१६.९	—
महाराष्ट्र	३९,५०४,२९४	२९.७	१.०
मैसूर	२३,५४७,०८१	२५.३	१.१
राजस्थान	२०,१४६,१७३	१४.७	—

इस प्रकार दक्षिण के लोगों को, जबकि अनेक आश्वासन केन्द्रीय सरकार द्वारा दिये जा चुके हैं कि उन पर हिन्दी थोपी नहीं जायेगी, फिर भी अपने राजनैतिक स्वार्थों को लेकर इस प्रकार के आन्दोलन खड़ा कर देना कहाँ तक समीचीन है, समझ मे नही आता।

हिन्दी के विस्तार के सम्बन्ध में डॉ. चाटुर्ज्या ने अपने अनुभव के आधार पर बताया है कि हिन्दी न केवल समस्त भारतवर्ष में पारस्परिक वार्तालाप की अन्तर प्रादेशिक भाषा है, अपितु विदेशों में भी भारतीयों के साथ बातचीत करने के लिए हिन्दी का ही आश्रय लिया जाता है। आपने लिखा है कि "रास्ते में एकत्रित हुए लोगों के ऐसे झुण्ड हमें मिलेंगे जिनकी आपस में बोली जाने वाली स्थानीय बोली हम बिल्कुल भी न समझें, परन्तु उनमें से दस प्रतिशत लोग ऐसे निकल ही आयेंगे जो सहज हिन्दुस्तानी में किए गए प्रश्न का उत्तर समझ में आ जाने लायक हिन्दुस्तानी से मिलती-जुलती भाषा में, अवश्य दे देंगे। यह बात आपको सर्वत्र मिलेगी। चाहे आप कुमिल्ला जाएँ चाहे दार्जिलिग, नोआखाली या बारिसाल, चौबासा या पूना, पुरी या पेशावर, जो सारे हिन्दी या हिन्दुस्तानी क्षेत्र से बिल्कुल बाहर पड़ते हैं। लन्दन में चटगाँव, कलकत्ता, मद्रास आदि भारतीय बन्दरगाहों पर काम करके गए हुए मलय देशी नाविक ने तथा भारतवर्ष में तीन वर्ष तक मऊ, पेशावर, कलकता के छावनियों में रहकर गए हुए एक अंग्रेज सैनिक ने, स्काटलैण्ड के सुदूर उत्तर के ओक्त नगर में, हैदराबाद दक्खन की एक रेल कम्पनी में काम करके लौटे हुए एक स्कॉच मजदूर ने तथा ग्रीस की राजधानी एथेंस में भारत के ग्रीक फर्म वाली ब्रदर्स के रंगून एवं कलकत्ता स्थित आफ़िस में कर्मचारी का काम करके लौटे हुए ग्रीक सैनिक आफ़िसर ने, समय-समय पर भारत के बाहर भिन्न-भिन्न जगहों पर लेखक को हिन्दुस्तानी में सम्बोधित किया है।" (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १६६-६७)।

अब बताइये राजाजी की बात को सही माने अथवा भाषाशास्त्र के पारखी परम विद्वान् डॉ. चाटुर्ज्या के वक्तव्य को ठीक कहें। एक वह भाषा जिसके समझने-बोलने वालों की संख्या सारे भारतवर्ष में ११ प्रतिशत है और एक वह भाषा है जिसके समझने-बोलने वाले प्रत्येक प्रदेश में ही नहीं, प्रत्येक झुण्ड में १० प्रतिशत है, किसे राजभाषा का गौरवमय पद प्रदान करें ? इस प्रकार की विचारधारा की पुष्टि महात्मा गांधी ने भी एक स्थान पर की है—

"The Hindi speaking man speakes Hindi wherever he goes and no one is surprised at this. The Hindi speaking Hindu Preacher and Urdu speaking Molvi make there religious speaches in Hindi and Urdu, and even the illiterate masses understand them, even an unlittered Gujrati when he goes to the north-attempts to speak a few Hindi words but the northern Bhaiya who works as a gate-keeper to the Bombay Seth declines to speak in Gujrati and it is the Seth, his employer, who

is obliged to speak to him in broken Hindi. I have heard Hindi is spoken even in the far off Southern Provinces. It is not correct to say that in Madras one cannot do without English. I have successfully used Hindi there for all my work. In the trains, I have heard Madrasi passenger speaking to other passenger in Hindi. Besides the Muslims of Madras know enough Hindi to use it successfully well, and thus Hindi has already established as national language of India."

इस प्रकार हम देखते हैं कि राजाजी द्वारा उठाया गया प्रश्न पूर्णतः निराधार है।

जहाँ तक दूसरे प्रश्न का सम्बन्ध है, वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। भारतीयों का यह संस्कार रहा है कि वे बहुत समीप से सोचते हैं, उनमें विशाल दृष्टि का सर्वथा अभाव रहा है। जब तक हम इस त्रुटि को दूर नहीं करेंगे, देश पनप नहीं सकेगा। यह ठीक है कि यह एक प्रदेश की भाषा है, पर वह प्रदेश किसका अंग है? भारत नाम के राष्ट्र का। फिर दूरी क्या? क्या एक शरीर के दो हाथ अपने को परस्पर भिन्न मानकर एक दूसरे हाथ से चिढ़ने लगेगा? मैं समझता हूँ कि कदापि नहीं और इस भावना की समाप्ति का ही तो यह उपचार है कि देश की एक भाषा हो, जो चाहे प्रारम्भ में एक प्रदेश की हो किन्तु आने वाली सन्तान के लिए वह समग्र भारतीय राष्ट्र की भाषा हो जो उन्हें एक सूत्र में आबद्ध करने में समर्थ सिद्ध हो। देश की एकता के सूचक कुछ प्रतीक हुआ करते हैं जिन पर प्रत्येक देशवासी निछावर होने को तत्पर रहता है। वे प्रतीक राष्ट्रध्वज, राष्ट्रगीत तथा राष्ट्रभाषा हैं। अतः हमे उस दिन की आशा में रहना चाहिए, जिसकी आशा श्री टी० विजयराघवाचारी ने की थी:—

"We are all eagerly looking forward to the day when we shall all be Indians first and Madrasis and Bengalis next.

(*Young India*, 8-4-1931)

अंग्रेजी को बनाये रखने से दक्षिण के लोगों को चाहे सरकारी नौकरी का बेशक लाभ हो, जो विशुद्ध रूप में क्षणिक एवं व्यक्तिगत है, उन्हें भारतीय एकता का गौरव एवं दक्षिण के अतिरिक्त देशवासियों का सौहार्द प्राप्त नही हो सकता जो उनके लिए बहुमूल्य और देश के लिए एक स्थाई सम्पदा बन सकता है। इसलिए गांधीजी ने कहा था :—"आज अंग्रेजी पर प्रभुत्व प्राप्त करने के लिए वे (दक्षिण वाले) जितनी मेहनत करते हैं, यदि उसका आठवाँ हिस्सा भी वे हिन्दी सीखने में करें तो बाकी हिन्दुस्तान के जो दरवाजे आज तक उनके लिए बन्द है वे खुल जायें और वे इस तरह हमारे साथ एक हो जायें

जैसे वे पहले कभी न थे। कोई भी द्रविड़ यह न सोचे कि हिन्दी सीखना ज़रा भी कठिन है। मैं अनुभव से कह सकता हूँ कि द्रविड़ बालक अद्भुत सरलता से हिन्दी सीख सकते हैं।" (यंग इण्डिया, १६-२-२०; धर्मयुग, १-९-६३ से उद्धृत)।

तृतीय प्रश्न केवल मात्र मानसिक ग्रन्थि है। हिन्दी चाहे उत्तरी भारत की मातृभाषा है, पर दक्षिण भारत के लोगों के परिश्रम के समक्ष शेष भारत नगण्य है, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण वे अंग्रेज़ी के अध्ययन और अध्यापन में दे चुके हैं और वह दिन दूर नहीं है कि दक्षिण भारत के विद्यार्थी हिन्दी पर वैसा ही अधिकार कर लेंगे जैसा अंग्रेज़ी पर और उनका महत्त्व उसी प्रकार बना रहेगा जिस प्रकार का आज बना हुआ है; बल्कि उससे अधिक। क्योंकि हिन्दी सीखने में अंग्रेज़ी से कम परिश्रम करना पड़ेगा। अतः हमें राष्ट्रीय भावनाओं से ओतप्रोत हो अपने देश के लिए इतना त्याग करना ही पड़ेगा कि हम इन महत्व और अमहत्व के पचड़ों में न पड़ें।

अन्त में यह कहूँगा कि काश ! राजाजी और इनके अन्य सहयोगियों ने जितना परिश्रम आंग्ल भाषा की जड़ें भारत में दृढ़ करने में लगाया उतना या उससे भी कम परिश्रम किसी दक्षिण भारत की भाषा का, विशेषकर तमिल का उत्तर भारत में प्रचार करने में लगाया होता तो वे देश की बहुत बड़ी सेवा करते और आगे आने वाली सन्तति देश की एकता के इन कर्णधारों की मंदिरों में प्रतिमाएँ बना-बना कर पूजती। किन्तु तथ्य इससे सर्वथा भिन्न है। ये लोग आज भी नहीं समझते कि देश का कल्याण आंग्ल भाषा के गीत गाने में नहीं, अपितु भारतीय भाषाओं के सर्वांगीण विकास में निहित है। श्री विश्वनाथन् भी दक्षिण के ही निवासी हैं किन्तु उनकी वाणी में एक सौहार्द है, मैत्री भाव है तथा राष्ट्रीय भावना है :—

"आख़िर हिन्दी किसी की भाषा है ? अपने ही सहोदर, सहबान्धव और सहमार्गी, जीवन और रक्त से अपने से सम्बन्धित, अपनी ही माँ के लालों की और उसका विरोध करना अपनी ही आत्मवंचना और आत्मद्रोह का परिचय देना है।" (धर्मयुग, १ सितम्बर १९६३,—शा० विश्वनाथन्)

अब इसके लिए केवल इतना ही कहना अवशिष्ट रह जाता है कि देश की एकता बनाये रखने के लिए, इतिहास की पुनरावृत्ति रोकने के लिए, विदेशी पुनः हमारी फूट से लाभ न उठा लें, इसके लिए, दक्षिण के भाइयों को थोड़ा त्याग अवश्य करना पड़ेगा और वह त्याग इस देश के लिए इतना मूल्यवान् सिद्ध होगा कि आगे आने वाली सन्तान उसे स्वर्णाक्षरों में लिखकर अत्यन्त गौरव प्रदान करेगी अन्यथा जैसे मध्यकालीन रजवाड़ों की बुद्धि पर हम ज़ार-ज़ार रोकर आँसू बहाते हैं वैसे ही वह भी हमारे नाम पर थूक दिया करेगी

कि हमारे पूर्वजों में राष्ट्रीयता नाम की कोई वस्तु नही थी, वे स्वार्थी थे, संकुचित वृत्ति वाले थे, तुच्छ थे।

अब हम इसके दूसरे पहलू पर विचार करेगे। भारत में प्रचलित सभी उच्च भाषाओं में, जिन्हें संविधान में स्थान प्राप्त है, हिन्दी सर्वाधिक सरल भाषा है। इसे सरलता से तीन महीने में सीखा जा सकता है और एक वर्ष में उस पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है। इतनी सरलता से किसी भी अन्य भाषा को नही सीखा जा सकता। इसका पहला कारण तो यह है कि इसका व्याकरण अन्य सभी भाषाओं से सरल है। जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन ने भारत के भाषा-सर्वेक्षण में सभी भाषाओं का व्याकरण दिया है, जिसमें हिन्दी भाषा के व्याकरण ने सबसे कम स्थान ग्रहण किया है। डॉ. चटर्जी ने तो इस भाषा के व्याकरण को केवल एक पोस्टकार्ड पर लिखे जा सकने की बात कही है। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि जिस भाषा का व्याकरण जितना संक्षिप्त एवं सरल होगा वह भाषा उतनी ही सरल होगी। यदि यह स्थान किसी अन्य प्रान्तीय भाषा को देने का उपक्रम किया जाय तो हमारे सामने दो बड़ी कठिनाईयाँ उपस्थित हो जायेंगी—(१) भारत की अन्य प्रान्तीय भाषाओं को बोलने वालों की संख्या सीमित है, अतः उसे सीखने के लिए भारत की बहुत अधिक जनसंख्या को प्रयत्न करना पड़ेगा जो उचित नही है। (२) अन्य प्रान्तीय भाषाएं हिन्दी की तुलना में कम सरल है, अतः उन्हें सीखने मे अधिक प्रयास करना पड़ेगा। हम सभी एक देश के वासी, एक संस्कृति के अनुवर्ती और एक माँ के लाल है। अतः हमे वही करना चाहिए जिससे कम से कम लोगों को प्रयास करना पड़े और अपना कार्य भी सिद्ध हो जाये, अर्थात् अराष्ट्रीयता का फूट रूपी साँप भी मर जाये और जनतन्त्र रूपी लाठी भी न टूटे। हमें केवल मात्र यही करना है कि हम प्रसन्नता के साथ हिन्दी को राजभाषा अथवा लिंक भाषा के रूप में स्वीकार कर ले। मैं तो यह भी कहूँगा कि इसका श्रीगणेश दक्षिण वालों को करना चाहिए और आज ही। आज भारत को ऐसे लोकसभा के सदस्यों की आवश्यकता है, जिनकी चर्चा धर्मयुग में श्री नन्दन ने की है। दुर्भाग्य है कि श्री नन्दन ने ऐसी महान् आत्मा का नाम नही दिया। प्रसंग इस प्रकार है—

"जब सदन मे हिन्दी को राज-कार्य में प्रतिष्ठित करने के लिए पन्द्रह वर्ष का समय प्रस्तावित किया गया तो एक अहिन्दी भाषी ने तुरन्त उठकर प्रतिवाद किया—हम एक मिनट की भी देरी बरदाश्त नही करना चाहते हिन्दी को देवनागरी लिपि और हिन्दी अंकों के साथ प्रतिष्ठित करने में तनिक भी देरी नही करनी चाहिए (धर्मयुग, १५ सितम्बर, १९६३)।" निश्चय ही उस व्यक्ति के हृदय मे उस समय हिन्दी के प्रति प्रेम ही नही, अपितु राष्ट्र भक्ति की पावन-धारा ठाठें मार रही होगी। वे देश को एकता के सूत्र में आबद्ध

देखना चाहते होंगे और वह सूत्र है सारे देश की एक भाषा। भारत तथा विदेश में रहने वाले साढ़े चौवीस करोड़ जनों को एक सूत्र में बांधने वाली मौलिक आन्तरदेशिक या आन्तरदेशीय या आन्तरजातीय भाषा हो (भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृष्ठ १६४)। यदि हम समस्त भारत के निवासियों की मातृभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करें तो ज्ञात होगा कि भारत में हिन्दी बोलने वाले ४२ प्रतिशत हैं, जबकि इसके विपरीत आँग्ल भाषा बोलने वालों की संख्या ११ प्रतिशत है तथा दक्षिण भारत की भाषा को बोलने वालों की संख्या क्रमशः तेलगु, तामिल, कन्नड़ और मलयालम ९.७ प्रतिशत, ८ प्रतिशत एवं ६ प्रतिशत है। अतः मैं नहीं समझता कि दक्षिण भारत के लोग केवल ११ प्रतिशत अंग्रेज़ी ज्ञाताओं को देखकर ही क्यों चलते हैं? मातृ-भाषाओं के आधार पर तैयार किये गये आँकड़ों का विवरण १९५१ की जनगणना के आधार पर निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत है—

हिन्दी—	१४,९९,४४,३१०
तेलगु—	३,२१,११,९१६
मराठी—	२,७०,४९,५२८
तामिल—	२,६५,४६,७६४
बंगाली—	२,५७,२१,६७४
गुजराती—	१,६३,१०,७७१
कन्नड़—	१,४४,७१,७६४
मलयालम—	१,३३,८०,१०९
उड़िया—	१,३१,५३,१०९
आसामी—	४९,८६,२२६
कश्मीरी—	५,०५६
संस्कृत—	५५५

इस प्रकार हम देखते हैं कि कुल जनसंख्या का ४२ प्रतिशत तो वे लोग हैं जिनकी मातृभाषा हिन्दी है। इसके अतिरिक्त कम से कम १० प्रतिशत, डॉ. चाटुर्ज्या के अनुसार, ऐसे आदमी मिल जायेंगे जो हिन्दी समझ सकते हैं और टूटे-फूटे रूप में बोल भी सकते हैं। इस प्रकार समस्त जनसंख्या के ५२ प्रतिशत लोग हिन्दी भाषा-भाषी हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में हिन्दी ही केवल एक ऐसी भाषा है जो इस स्थान के लिए सर्वथा उपर्युक्त है। जहाँ तक इसे लादने का प्रश्न है, यह तो एक मानसिक ग्रन्थि है, समझ का फेर है। लादी जाती है—दूसरे की वस्तु। यह सभी भारतीयों की अपनी वस्तु है। अतः इसे हमें हृदय से अपनाना चाहिये। अपनी वस्तु को ग्रहण करने में हमें कठिनाई हो सकती है, किन्तु उसे लादना कभी नहीं कहा जा सकता।

यदि संवैधानिक दृष्टिकोण से भी सोचें तो मैं कह सकता हूँ कि एक प्रजातन्त्र देश के सुयोग्य नागरिक का परम कर्तव्य है कि वह संविधान का सम्मान करे। उसमें उल्लिखित धाराओं को कार्य रूप में परिणत करने में सहयोग दें, फिर उस में सब से महत्त्वपूर्ण बात यह है कि जिस समय संविधान अपने स्वरूप को ग्रहण कर रहा था, उस समय भारत के प्रभुसत्ता का प्रमुख अधिकारी दक्षिण भारत का ही महापुरुष था। इसका तात्पर्य यह है कि उन्हें उस समय इससे विरोध न था। विरोध की यह भावना तो उनका वाद का चिन्तन है जो केवल विरोधात्मक विचार-धारा में वह जाना मात्र है।

विषय का द्वितीय एवं अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पक्ष है राष्ट्रभाषा का विद्यालयों, महाविद्यालयों एवं विश्वविद्यालयों के शिक्षा में स्थान और जहाँ तक अध्ययन का सम्बन्ध है, राष्ट्रभाषा को विश्वविद्यालय स्तर तक एक अनिवार्य विषय के रूप में पढ़ाया जाना चाहिये। क्योंकि वह भाषा जो केन्द्र के कार्यों की विधायिनी हो, अन्तरप्रादेशिक वार्तालाप का साधन बनाई जा रही हो, उसका अध्ययन परमावश्यक हो जाता है और कुछ समय के पश्चात् एक समय आयेगा जब हम यह अनुभव करेंगे कि हर देशवासी भारतीय पहले है और मद्रासी, बंगाली बाद में। किन्तु इसके लिए एक प्रश्न अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और वह यह है कि हिन्दी भाषा का अध्ययन विद्यार्थियों को किस कक्षा से प्रारम्भ करना चाहिए और कौनसी कक्षा तक करना चाहिए? इसका अध्यापन किस लिपि के माध्यम से करवाया जाना चाहिये?

जहाँ अध्ययन प्रारम्भ करने का प्रश्न है, सर्वसम्मत धारणा यह है कि विद्यार्थी को अपनी मातृभाषा से प्रारम्भ करना चाहिये और जब यह देखें कि विद्यार्थी अपनी भाषा को पढ़ने और लिखने की ओर रुचि लेने लगा है, तो उसे राष्ट्रभाषा पढ़ने के लिए दी जानी चाहिये। जब विद्यार्थी राष्ट्रभाषा को भी भली प्रकार समझने, पढ़ने और लिखने लग जाए तब उसे आंग्ल भाषा पढ़ने को दी जानी चाहिये। इसे क्रमबद्ध यों रखा जा सकता है कि प्रारम्भ में मातृभाषा, तृतीय श्रेणी से राष्ट्रभाषा और कम से कम आठवीं श्रेणी से आंग्ल भाषा का अध्ययन विद्यार्थी करें और विश्वविद्यालय की स्नातक परीक्षा तक चालू रखें। इससे उनके मस्तिष्क पर आवश्यक भार भी नहीं पड़ेगा और भारत के लिए परमावश्यक तीनों भाषाओं का अध्ययन भी सम्भव हो सकेगा।

परिशिष्ट २

निर्देशिका

पारिभाषिक-शब्दावली[1]

(१) अक्षर—वह छोटी से छोटी ध्वनि जिसके खण्ड न हो सकें। अ+क्षर अर्थात् जो घिसते नहीं। वर्ण भी इसे ही कहते हैं।

(२) अघोष—वे ध्वनियाँ होती हैं जिनका उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे से दूर रहती हैं तथा ध्वनि में किसी प्रकार का कम्पन नहीं सुनाई देता। वर्ग का प्रथम और द्वितीय व्यञ्जन, श, ष स, आदि अघोष हैं।

(३) अघोषीकरण—ध्वनि परिवर्तन में सघोष ध्वनि का अघोषवत् उच्चारण होना; यथा—राजस्थानी, गुजराती, आदि भाषाओं में सघोष महा-प्राण ध्वनियों एवं 'ह' का उच्चारण।

(४) अधिकरण—वह स्थल या स्थिति जिसमें या जिस पर क्रिया घटित होती है। पर्वत पर वर्षा हो रही है।

(५) अनुनासिक—अर्धचन्द्र विन्दु। वे ध्वनियाँ जिनका उच्चारण नाक से होता है; यथा—चाँद, हँसना आदि। आंग्ल—Incomplete Nasal.

(६) अनुस्वार—वह ध्वनि, जिसका उच्चारण नाक से होता है तथा जो नित्य, स्वर के पश्चात् आती है; यथा—हंस, कंस, संसार। आँग्ल—Pure Complete Nasal.

(७) अन्तस्थ—स्वर और व्यञ्जन के बीच की ध्वनि। इन्हें अर्धस्वर भी कहते हैं। ये ध्वनियाँ यथास्थिति स्वर और व्यञ्जन में परिवर्तित होती रहती हैं; यथा—य्, र्, ल्, व्। यदि+अपि—यद्यपि, सु+आगतम्—स्वागतम्।

(८) अन्य पुरुष—पुरुष वाचक सर्वनाम का एक भेद या प्रकार। जब वक्ता और श्रोता किसी तृतीय व्यक्ति के सम्बन्ध में वार्तालाप करते हैं, तब व्याकरण में उस व्यक्ति को अन्य पुरुष कहते हैं; यथा—यह, वह।

(९) अपादान—दो वस्तुओं अथवा स्थितियों के पृथक्त्व का भाव।

(१०) अल्प प्राण—जिस व्यञ्जन के उच्चारण करने में वायु का कम

---

[1] यहाँ मूलग्रन्थ में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों का अकारादि क्रम से विश्लेषण उपस्थित किया गया है।

निष्कासन होता है। वर्ग का पहला, तीसरा, पाँचवाँ व्यञ्जन तथा अन्तस्थ व्यंजन (य, र, ल, व) अल्पप्राण है। यथा—क, ग, ङ आदि।

(११) **अविकारी**—जिन शब्दों में लिङ्ग, वचन, अथवा विभक्ति के कारण कोई भी विकार उत्पन्न नहीं होता। क्रिया विशेषण और अव्यय शब्द इसके अन्तर्गत आते है।

(१२) **अव्यय**—वे शब्द जो प्रत्येक स्थिति में समान आकृति वाले रहते है। अविकारी शब्दों को ही अव्यय भी कहते है। यथा, तथा, आदि।

(१३) **आख्यात**—छान्दस एवं संस्कृत में क्रिया को आख्यात कहते हैं।

(१४) **उत्तम पुरुष**—पुरुष वाचक सर्वनाम का एक भेद अथवा प्रकार। वक्ता के लिए प्रयुक्त शब्द उत्तम पुरुष सर्वनाम कहलाते हैं। मैं, हम, आदि।

(१५) **उपसर्ग**—वे शब्द अथवा शब्दांश जो शब्द से पूर्व जुड़ कर शब्द के अर्थ में परिवर्तन ला देते हैं। प्र, परा, आदि।

(१६) **ऊष्म**—संघर्षी ध्वनियाँ जिनके उच्चारण मे घर्षण के कारण ऊष्मा पैदा होती है। 'श, प, स' ध्वनियाँ ऊष्म ध्वनियाँ है।

(१७) **करण**—क्रिया के साधन का अर्थ देने वाले संज्ञा शब्द।

(१८) **कर्ता**—क्रिया के करने वाले को कर्ता कहते है।

(१९) **कर्म**—कर्ता के अभीप्सिततम कारक को कर्म कहते है। राम रोटी खाता है।

(२०) **कारक**—वाक्य में दो अर्थ-तत्वों का सम्बन्ध बताने वाला शब्द या शब्दांश कारक कहलाता है।

(२१) **कृदन्त**—वे शब्द जो क्रिया के साथ प्रत्यय लगा कर बनाए जाते है; यथा—गतः, खादित्वा, चलइ, रखैं, आदि।

(२२) **क्रिया विशेषण**—वे शब्द जो क्रिया की विशेपता प्रकट करते है।

(२३) **क्षति-पूरक दीर्घीकरण**—संयुक्त व्यञ्जन विशेषकर 'द्वित्व' व्यञ्जन के किसी एक अवयव (व्यञ्जन) की क्षति हो जाने पर पूर्व ह्रस्व स्वर का दीर्घ हो जाना; यथा—कम्म>काम।

(२४) **घोष**—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण करते समय स्वरतन्त्रियाँ एक-दूसरे के समीप आकर विशेप कम्पन उत्पन्न करती है, घोष कहलाती है।

(२५) **तद्धित**—क्रिया से भिन्न शब्दो के साथ लगने वाले प्रत्यय।

(२६) **तद्भव**—संस्कृत शब्दों के विकृत अथवा यों कहिये कि उनसे विकसित रूप।

(२७) **तिङन्त**—वे क्रिया शब्द जो काल सूचना हेतु 'ति. तः' आदि प्रत्ययों से युक्त होकर उपस्थित होते है।

(२८) **तिर्यक्**—वे शब्द जो परसर्गों के लगाने पर विकृत रूप वाले हो जाते हैं। ये संज्ञा, सर्वनाम अथवा विशेषण शब्द होते हैं।

(२९) **दीर्घ**—जिनके उच्चारण में दो मात्रा का समय लगे, वे वर्ण दीर्घ कहलाते हैं। आ, ई, ऊ, आदि।

(३०) **द्वित्त्व**—अपभ्रंश की मुख्य विशेषता जहाँ संयुक्त व्यञ्जनों में से एक व्यञ्जन उससे संयुक्त दूसरे व्यञ्जन का रूप धारण कर लेता है; यथा :—कर्म>कम्म, कार्य>कज्ज।

(३१) **नपुंसक लिङ्ग**—संस्कृतादि भाषाओं के वे शब्द जो किसी वस्तु आदि के स्त्रीत्व और पुरुषत्व को व्यक्त करने में असमर्थ हों।

(३२) **नामधातु**—वे संज्ञा आदि शब्द जो कुछ निश्चित प्रत्ययों के जोड़ देने पर धातु का अर्थ देने लगते हैं।

(३३) **परसर्ग**—वे शब्द जो सम्बन्ध बताने के हेतु विभक्ति-प्रत्ययों के स्थान पर दो अर्थ-तत्त्वों के मध्य प्रयुक्त होते हैं। ने, को, में, से, पर, आदि।

(३४) **पुल्लिङ्ग**—पुरुषवाची शब्द।

(३५) **पूर्वकालिक क्रिया**—वह क्रिया जो प्रधान क्रिया से पूर्व ही सम्पन्न हो चुकी हो। खाकर, पीकर, आदि।

(३६) **प्रत्यय**—वे शब्द या शब्दांश, जो मूल शब्द के अन्त में जुड़कर उसका अर्थ बदल देते है। नीति>नैतिक।

(३७) **बलाघात**—शब्द या वाक्य के किसी अंश पर बल देकर उच्चारण करना।

(३८) **बहिरंग**—मध्यदेश के चारों ओर की भाषाओं को डॉ. ग्रियर्सन ने बहिरंग संज्ञा प्रदान की है।

(३९) **मध्यम पुरुष**—पुरुषवाचक सर्वनाम का एक भेद अथवा प्रकार, जो श्रोता के लिए प्रयुक्त हो।

(४०) **महाप्राण**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में जब अधिक मात्रा में श्वास का निस्सरण होता है तब वह ध्वनि महाप्राण कहलाती है। वर्ग का द्वितीय, चतुर्थ, श, ष, स, वर्ण तथा 'ह' महाप्राण ध्वनियाँ होती हैं।

(४१) **'य' श्रुति**—एक स्वर से दूसरे वर्ण की उच्चारण स्थिति तक पहुंचने के लिए अथवा पदान्त में 'य' ध्वनि को और बढ़ा लिया जाता है, उसे 'य' श्रुति कहते हैं।

(४२) **लकार**—कालों की भिन्नता को सूचित करने वाले लकार होते हैं।

(४३) **लिङ्ग**—संज्ञा, क्रिया आदि के जिस विधान से किसी वस्तु व्यक्ति अथवा स्थान की जाति (पुरुष, स्त्री, जड़) का बोध हो।

(४४) **'व' श्रुति**—स्वर के साथ 'व' का आगमन कर लेना।

(४५) **विकारी**—लिङ्ग, वचन और विभक्ति के कारण जिन शब्दों के रूप में विकृति आ जाती है, उन्हें विकारी कहते है ।

(४६) **विपर्यय**—ध्वनियो का परस्पर स्थान् वदल लेना ।

(४७) **व्यत्यय**—जहाँ पर एक विधान के स्थान पर दूसरे विधान का प्रयोग होता हो ।

(४८) **संज्ञार्थक क्रिया**—कुछ ऐसे प्रत्यय, जिनके लगने पर क्रिया शब्दों का संज्ञा आदि शब्दों जैसा अर्थ देना ।

(४९) **सन्धि**—किन्हीं दो शब्दों या शब्दाशो के प्रथम के अन्तिम वर्ण और द्वितीय का आदि वर्ण जव आपस में मिलकर विकार उत्पन्न करते है वहाँ सन्धि होती है ।

(५०) **सम्प्रदान**—जिस वस्तु अथवा व्यक्ति के लिए क्रिया की जाती है, उसे सम्प्रदान कहते है ।

(५१) **सहायक क्रिया**—वे क्रिया शव्द जो किसी क्रिया शव्द के साथ किसी काल-विशेष का वोध कराने हेतु जोड़े जाते है; यथा :—है, था, गा, आदि ।

(५२) **स्त्रीलिङ्ग**—वे शव्द जो किसी वस्तु, व्यक्ति अथवा स्थान के स्त्रीत्व का वोध कराते है ।

(५३) **स्वर**—वे ध्वनियाँ जो विना किसी अन्य वर्ण की सहायता के उच्चरित हो सकती है ।

(५२) **स्पर्श**—वे ध्वनियाँ जिनके उच्चारण मे जिह्वा, मुख के किसी न किसी स्थान का स्पर्श करती है । प वर्ग में ओष्ठ एक-दूसरे का स्पर्श करते हैं ।

(५३) **स्वरभक्ति**—संयुक्त व्यञ्जनों का सरलता से उच्चारण करने के लिए जहाँ पर स्वर का आगम कर लिया जाता है :—प्रसाद>परसाद । पंजाबी भाषा की यह मुख्य विशेषता है ।

(५४) **ह्रस्व**—जिन ध्वनियों के उच्चारण में एक मात्रा का समय लगता हो ।

(५५) **सम्बन्ध**—कारक का वह रूप, जो दो वस्तुओं के सम्बन्ध का वोध कराता है ।

संकेत-विवरण

का. सू.	—काम सूत्र
वि. स.	—विहारी सतसई
प्रा. पैं.	—प्राकृत पैंगलम्
सं. रा.	—सन्देश रासक
व. र.	—वर्ण रत्नाकर
की. ल.	—कीर्ति लता
उ. व्य. प्र.	—उक्ति व्यक्ति प्रकरण
सू. सा.	—सूर सागर
घ. क.	—घनानन्द कवित्त
सू. पू. ब्र.	—सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य

२९. प्राकृत भाषाओं का व्याकरण —पं. मधुसूदन मिश्र
३०. प्राकृत प्रकाश —वररुचि
३१. प्राकृत सर्वस्व —मार्कण्डेय
३२. प्राकृत पैंगलम् —सं. डॉ. भोलाशंकर व्यास
३३. बिहारी सतसई —सं. लाला भगवानदीन
३४. ब्रजभाषा —डॉ. धीरेन्द्र वर्मा
३५. ब्रजभाषा और खड़ी बोली का तुलनात्मक अध्ययन ... ...
३६. भारतीय आर्यभाषा और हिन्दी —डॉ. सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या
३७. भाषा और समाज —डॉ. रामविलास शर्मा
३८. भाषा विज्ञान —डॉ. भोलानाथ तिवारी
३९. भ्रमरगीत सार —सं. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल
४०. महाभाष्य —पतञ्जलि
४१. मोग्गलान व्याकरण —मोग्गलान
४२. राज प्रश्नीय सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४३. रामचन्द्रिका —आचार्य केशव
४४. वाक्यपदीयम —भर्तृहरि
४५. वाग्भटालंकार —वाग्भट
४६. विपाक सूत्र —जैन धर्म ग्रन्थ
४७. विष्णुधर्मोत्तर पुराण —सं. डॉ. मनमोहन घोष
४८. वैदिक व्याकरण —उमेशचन्द्र पाण्डेय
४९. वर्ण रत्नाकर —ज्योतिरीश्वर ठाकुर
५०. सन्देश रासक —सं. डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी
५१. संस्कृत साहित्य का इतिहास —डॉ. रामजी उपाध्याय
५२. सांख्य कारिका ... ...
५३. सामान्य भाषा विज्ञान —डॉ. बाबूराम सक्सेना
५४. सिद्धान्त कौमुदी —भट्टोजी दीक्षित
५५. सूर सागर —सूरदास
५६. सूर पूर्व ब्रजभाषा काव्य —शिवप्रताप सिंह
५७. हिन्दी भाषा का उद्‌गम और विकास —डॉ. उदयनारायण तिवारी
५८. हिन्दी भाषा और साहित्य —डॉ. श्यामसुन्दर दास
५९. हिन्दी साहित्य का बृहत इतिहास —आदिगुरु

६०. हिन्दी भाषा : रूप विकास —डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
६१. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग —डॉ. नामवर सिंह
६२. हिन्दी की तद्भव शब्दावली —डॉ. सरनामसिंह शर्मा 'अरुण'
६३. हिन्दी काव्यधारा —राहुल सांकृत्यायन
६४. हिन्दी भाषा : उद्भव, रूप और विकास —डॉ. हरदेव बाहरी
६५. हिन्दी भाषा (अतीत और वर्तमान) —डॉ. अम्बाप्रसाद 'सुमन'
६६. हेम शब्दानुशासन —हेमचन्द्राचार्य

अंग्रेजी भाषा के ग्रन्थ :

1. Historical Grammar of Apbhransh —Dr. G. V. Tagare
2. Linguistic Survey of India —Dr. Grearson
3. General Anthropology —Frang Bous
4. Man in Primitive Age —Heebel
5. The Future of India —Swami Vivekanand
6. The Vedic Age —Ed. Dr. R. C. Majumdar